इन्द्रप्रस्थ भारती

मूल्य : आठ रुपये
वर्ष-५, अंक-१, जनवरी-मार्च, १९९२
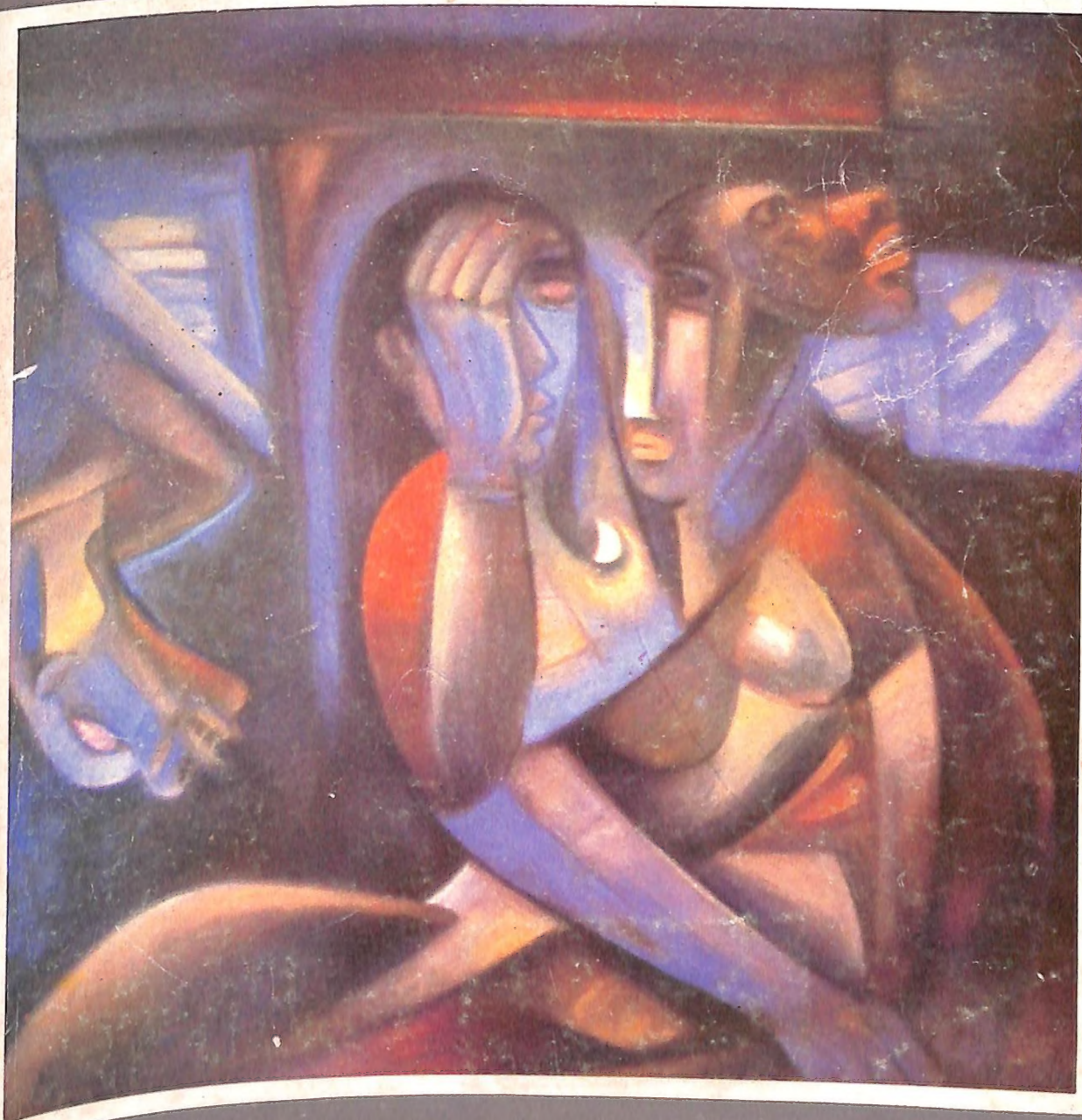
'इंद्रप्रस्थ भारती कहानी संकलन'

- इस संग्रह में वरिष्ठ पीढ़ी के एवं युवा पीढ़ी के कहानीकारों की रचना-दृष्टि एक साथ पाठकों के लिए उपलब्ध कराने का प्रयास किया गया है।

- लगभग ३०० पृष्ठ के इस कहानी संकलन में ३५ कहानियां संकलित की गई हैं।

- ये कहानियां जहां आज के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं का आईना प्रस्तुत करती हैं, वहीं जीवन के विभिन्न पक्षों को अपने अंक में समेटते हुए मानवीय रिश्तों, संवेदनाओं और परिवेश से भी जुड़ी हुई हैं।

- रॉयल डिमाई आकार में पक्की जिल्द सहित संकलन का मूल्य केवल १००/रुपये, जिसे सचिव, हिन्दी अकादमी, दिल्ली के नाम मनीआर्डर/पोस्टल आर्डर, बैंक ड्राफ्ट द्वारा नीचे दिये गये पते पर भेजा जा सकता है।

- कृपया अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें —

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिंदी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपर्क :
संपादक, हिंदी अकादमी, दिल्ली,
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

संपादक
विजयमोहनसिंह

सहायक संपादक
हरिसुमन बिष्ट
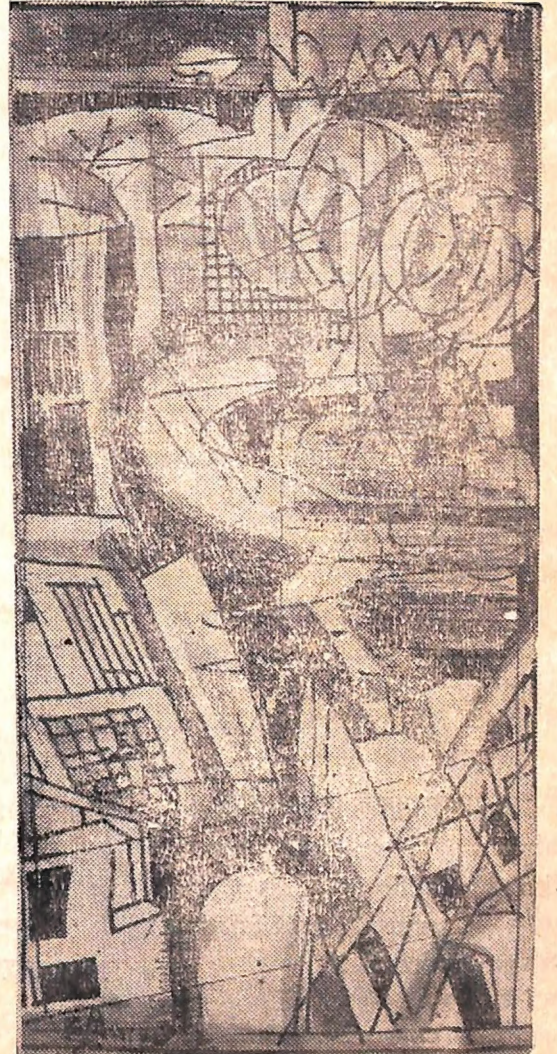
इन्द्रप्रस्थ भारती

वर्ष ५, अंक १
जनवरी-फरवरी-मार्च १९९२

आवरण एवं रेखाचित्र :
हरिपाल त्यागी

शुल्क : एक प्रति आठ रुपये
वार्षिक : तीस रुपये
वार्षिक ग्राहक बनने के लिए शुल्क,
सचिव,
हिंदी अकादमी, दिल्ली
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड,
नई दिल्ली-११०००२ को भेजें।
फोन : ७३३९५०, ७३०२७४

साहित्य, संस्था और स्वायत्तता

…मैं जानता हूं, बहुत 'पिच्छल भूमि' है यह शीर्षक और इस पर लिखना। खासतौर पर इस समय जबकि यह एक जलता हुआ प्रश्न है। लेकिन एक 'विशेष समय' में बकौल ब्रेश्ट 'चुप रहना, प्रायः या तो एक अपराध है या किसी साजिश में शरीक होना।

जाहिर है यह प्रश्न एक है पर 'कोण' तीन हैं और दृष्टिकोण तो न जाने कितने ! बहुत नाजुक तथा जटिल रिश्ता है इन तीनों का। महत्त्वपूर्ण यह है कि हम किस बिंदु पर खड़े होकर इसे देखते हैं। यदि हम केवल साहित्य के बिंदु से इसे देखते हैं तो हमें पता है कि साहित्य जिस हद तक स्वायत्त कर्म है उसी हद तक सापेक्ष कर्म भी। नितांत निरपेक्ष तो किसी भी रूप में नहीं। संस्था या संस्थाएं भी यदि एक निरंकुश सीमा तक अपने को 'स्वायत्त' मान लें तो वे साहित्य की स्वायत्तता के लिए 'कसाईखाना' सिद्ध हो सकती हैं क्योंकि साहित्य के पीछे कोई न कोई साहित्यकार छिपा हुआ है और उसकी स्वतंत्रता भी। इस रूप में वे इस स्वतंत्रता का अपहरण कर सकती हैं। यहां स्वतंत्रता के साथ-साथ 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' शब्द अपने आप चिपका हुआ चला आता है। यानी यह एक तरह से अस्तित्ववादी 'आत्म' और 'पर' (सबजेक्ट-ऑबजेक्ट) वाला संबंध बन जाता है। लेकिन इस नाजुक संबंध के संतुलन की विडंबना तब और बढ़ जाती है जब हम जान जाते हैं कि इसका सूत्रधार प्रायः एक बाहरी ताकत या शक्ति होती है जो यद्यपि बहुत अदृश्य या अलौकिक नहीं होती किंतु उसकी ओर संकेत करने में साहित्यकार के हाथ से 'गांडीव' न भी छूटे तो भी संस्थाओं को पसीना तो आने ही लगता है क्योंकि अधिकांश संस्थाएं इस कड़वे सच को जानती हैं कि यदि उन्हें स्वायत्तता का 'तमगा' दे दिया जाता है तो भी अंततः और मूलतः एक 'शोभा-अलकार' ही है। ऐसे में उन्होंने यदि इस तथा-कथित स्वायत्तता की 'लक्ष्मण रेखा' पार करने की जुर्रत की तो वे न केवल अपदस्थ हो जाएंगी, बल्कि विलीन या विचूर्ण भी ! उदाहरण के लिए बहुत दूर या सुदूर अतीत में जाने की जरूरत नहीं है।

ऐसे में जो विडबनात्मक परिदृश्य बनता है, वह यह है कि कुछ संस्थाएं अपने विकास और विस्तार के लिए अपनी बची-खुची स्वायत्तता को ही सुरक्षित रखने में सिकुड़ी रहती हैं—उनका रोना तथा विलाप कुछ और ही होता है।

दूसरी ओर एक ऐसा नजारा दिखाई पड़ता है जब किसी संस्था की स्वायत्तता का दुर्ग किसी निरंकुश आतताई 'शेख का दुर्ग' मान लिया जाता है और साहित्य के प्राण किसी दैत्य के पंजे में फंसी राजकुमारी की तरह तड़पने लगते हैं।

अजीब करिश्मा है यह! कभी नाव गाड़ी पर, कभी गाड़ी नाव पर।···किंतु यदि समझने वाले यह समझ लें कि 'सूत्रधार' समय नहीं शक्ति होती है तो वे परस्पर पंजा लड़ाना बंद कर देंगे और अपनी 'शक्ति' उस 'सूत्रधार-शक्ति' के विरुद्ध संचित करेंगे।

काश, ऐसा होता तो 'आदर्श स्थिति' होती, लेकिन चूंकि कोई आदर्श स्थिति होती नहीं, इसलिए 'आदर्श स्थिति' नहीं है।

फिर विकल्प क्या बचता है? वस्तुतः विकल्प की जमीन भी बहुत सिकुड़ गई है: एक तनी हुई रस्सी पर चलने की तरह या नाखून के बल नृत्य करने की तरह।··· यह दौर ऐसा है जब 'संस्थाओं और आंदोलनों' की भूमिका समाप्त-सी हो गई है। लेकिन संस्थाओं को होना तो है ही और इन स्थितियों में प्रायः वे 'परोपजीवी' होकर ही हो सकती हैं।

···साहित्यकार तथा संस्था के बीच टकराव उत्पन्न कर ही उन्हें पंगु तथा 'परोपजीवी' बनाने वाली शक्तियां अपने को सुरक्षित ही नहीं महसूस करती बल्कि प्रभुता के मद का आस्वाद भी करती हैं।···एक तीसरे स्तर की 'परोपजीविता' तब बनती है जब इस परोपजीवी वर्ग के पुरोधा अपने को 'प्रभु' भी मानने लगते हैं।···अपने प्रभु की कृपा पर बने ये 'प्रभु' कभी भी अपने पैरों के नीचे से अचानक 'कारपेट' खींच लिए जाने पर 'कारपेट बैगर्स' बन जाते हैं।

···यह एक खौलता उफनता 'दुश्चक्र' है जो अपने आप में एक म्यूजिकल चेयर्स का खेल भी है जो और एक 'रिले रेस' भी।···जब तक संस्थाओं तथा साहित्यकारों में म्यूजिकल चेयर्स का यह 'रिले रेस' चलता रहेगा, इस दुश्चक्र से निजात नहीं। लेकिन जिस तरह आज कोई 'शहर से निकलकर' गांव नहीं जाना चाहता उसी तरह इस 'अनाथ परंपरा' का वारिस कोई भी नहीं बनना चाहता।····"हम हुए, तुम हुए या मीर हुए।"

—विजयमोहन सिंह

अंदर और बाहर एक आदमी

☐ अशोक वाजपेयी

[हिंदी अकादमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया निबंध]

'मैं चाहता हूं कि कविता कुछ करे, बस निःस्पंद खूबसूरत पड़ी न रहे…'

'कविता अभिव्यक्ति और रचना दोनों है। न सिर्फ अभिव्यक्ति न सिर्फ रचना। अभिव्यक्ति एक प्रक्रिया के अंत तक पहुंची हुई चीज है, रचना एक प्रक्रिया है जो अभी चल रही है। कविता में जो स्थिर रुका हुआ है, एक जगह आकर टिक गया है उसे भी लाना होता है और उसे भी जो अभी बन रहा है या बनने लगा है। कविता के भीतर एक तगड़ी कविता के भीतर—यह बन चुके और बनने वाले दोनों की मुठभेड़ होनी चाहिये, दोनों का आमना-सामना होना चाहिए।'

'मुझे यह साफ दीख पड़ रहा है कि आज **त्रिलोचन, केदार अग्रवाल और नागार्जुन** की भारतीयता को लेकर हम नहीं चल सकते—इनकी भारतीयता में बौद्धिक ऊर्जा की कमी है, ये हद से हद लिरिकल किस्म के भारतीय हैं। इनमें टकराहट नहीं है, ये बस अपने को सुरक्षित रखे हुए हैं, अपनी अस्मिता बचाये हुए हैं, बह नहीं गये हैं। एक जमीन इनके पास है उस पर बस टिके हुए हैं। हमें रामचंद्र शुक्ल की भारतीयता चाहिये, प्रेमचंद्र की भारतीयता चाहिए, गांधीजी की भारतीयता चाहिए, जिनमें एक ओर अपनी जमीन का विवेक था तो दूसरी तरफ पश्चिम से टकराने की अदम्य बौद्धिक ऊर्जा और ललकार और उससे टकराने का खुलापन—त्रिलोचन की भारतीयता जैसा बंधा-बंधापन उनमें न था, एक जगह टिकने रहने की भारतीयता उनमें न थी।

मलयज की डायरी : ८ अगस्त—२ सितम्बर, १९८०
('पूर्वग्रह', अंक ५१-५२ पृष्ठ ५५)

यद्यपि मलयज साहित्य के अंदर के आदमी थे और उनमें साहित्य का गहरा रागबोध हमेशा सक्रिय-सजग था, वे निरंतर साहित्य के बाहर को उसके अंदर से जोड़कर देखने-समझने की कोशिश में लगे रहे। सीमों वील की तरह वे कह सकते थे कि 'हमारी खोज का लक्ष्य संसार होना चाहिए' —सिर्फ वही नहीं, जिसे हम कविता का संसार कहते हैं, पर वह भी जो इस कवि संसार को व्यापक संसार से जोड़-गूंथ कर बनता है। ठीक जैसे वे साहित्य में दोहरी सर्जनात्मकता की तलाश करते थे, जिसमें 'अनुभूति का अपनापन और अनुभूति का दूसरापन' दोनों हों, वैसे ही कि उनकी आलोचना भी ऐसे ही दोहरेपन को प्रामाणिकता की कसौटी मानकर चलती थी। मलयज के यहां आलोचना अपनी 'क्लैसिकल सघनता, लाघव और चुस्ती' के बावजूद एक मुकम्मल उत्पाद नहीं है : उनके ही शब्दों का सदुपयोग करते हुए कहें कि वह एक प्रक्रिया के अंत तक पहुंची हुई चीज अर्थात् अभिव्यक्ति होने के बजाय अभी चल रही प्रक्रिया की तरह रचना है। यह अकारण नहीं है कि मलयज ने आलोचना की शैली में निरंतर प्रयोग किये : उन्होंने चुस्त निबंध लिखे लेकिन उसके अलावा डायरियां, पत्र, संस्मरण, व्यक्तिगत स्मृतियों आदि का उपयोग कर हिंदी आलोचना को उसके रूढ़ और औपचारिक निबंधन से मुक्त भी किया है। रामचंद्र शुक्ल पर उन्होंने जो लिखा है उसकी शैलीगत विविधरूपिता इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

अगर हम मलयज की आलोचना के कुछ बीजशब्दों पर ध्यान दें तो उनमें एक अथक गतिशीलता प्रगट है : साक्षात्कार, मुठभेड़, सामना, अंतर्विरोध, संघर्ष, संवाद, तनाव, अंतर्निष्ठा। जाहिर है कि मलयज ने अपने

समय के सृजन और सम्वेदना को पकड़ने और समझने के लिए जो भी औजार विकसित किए उनका अनिवार्य संदर्भ था हिंदी में चल रहा आधुनिकता का आंदोलन और उसकी लंबी बहस। मलयज के सामने यह स्पष्ट था कि आधुनिकता एक निरा वैचारिक या साहित्यिक आंदोलन भर नहीं है, उसमें पूरे समाज और भाषा के समग्र मूल्यसंघर्ष और रागसम्वेदनाओं के ढांचे की रैडिकल उथल-पुथल शामिल है। कोई भी कृति या लेखक मलयज के लिए 'मूर्त उपस्थित' था जिसे 'अमूर्त अनुपस्थित' से जोड़कर देखना-परखना उनका आलोचनात्मक स्वभाव था। वे साहित्य को एक जीवित सांस्कृतिक परिवेश के फ्रेम में रखकर ही उसका रसास्वादन कर सकते थे : उन्होंने अपने एक समकालीन आलोचक से, उसकी पहली पुस्तक पर प्रतिक्रिया करते हुए प्रश्न किया था—'कविता के मैटाफिजिक्स में फंसे बगैर किसी भी समय की कविता की आत्मा तक पहुंचा जा सकता है?'

इरविंग हाव ने खंडित और झगड़ालू विश्वासों के इस युग में आलोचकों के अनिवार्यतः रूचि के अभिभावक, मूल्य के पुरोहित और शब्द के संरक्षक या उनके विश्वासघाती और दूषक होने की जो बात कही है अगर उसे ध्यान में रखें तो लगेगा कि मलयज के लिए आलोचना मुख्यतः एक सांस्कृतिक संलाप था जिसमें सांस्कृतिक और नैतिक भाष्य अपरिहार्य ही था।

ध्यान देने की बात यह है कि यह साहित्य के भीतर और बाहर का 'तनावपूर्ण संतुलन' साहित्य को कमतर या किसी अन्य अनुशासन का गरीब या पिछलग्गू बिरादर मानकर नहीं पाया गया था। बल्कि इसके ठीक उलट मलयज ने स्पष्ट और दो टूक कहा था कि 'कला की नैतिकता सबसे पहली और आखिरी यह है कि वह अपने अनुशासन पर दूसरा कोई अनुशासन हावी न होने दे···अपने प्रति सच्ची बनी रहे। कला की अपनी सच्चाई निरे वाग्विलास से संभव नहीं है···यद्यपि वह बिना वाक् के भी संभव नहीं है। एक ऐसे समय में जब तथाकथित वैचारिक आतंक में भाषा का अपकर्ष हो रहा था, मलयज में यह धीर विवेक था कि वे इस अवमूल्यन का प्रतिरोध ऐसी अवधारणाओं और पाठविधियों से करें जो भाषा की अंतर्भूत वस्तुपरकता और शब्द से जीवन और संस्कृति तक के उसके अनिवार्य विस्तार को एक निरंतरता में देख-पकड़ सकें। मलयज ने कहा है : 'अनुभूति और शब्द के बीच कहीं कोई चीज हमेशा छूट जाती है···यह काव्यानुभूति को पूरा-का-पूरा भाषा में न निचोड़ सकना क्या यह साबित नहीं करता कि कविता भाषा के बाहर भी है?' आप चाहें तो इसे दोतरफा सर्जनात्मकता के वजन पर दोतरफा आलोचनात्मकता कह सकते हैं। अंतर्विरोध को एक बुनियादी अवधारणा के रूप में स्वीकार करने वाले मलयज ने यों तो 'पूर्वग्रह' में 'इकतरफा' शीर्षक एक स्तंभ कुछ समय के लिए लिखा था और यह शीर्षक खुद उनका दिया हुआ था। पर वे इकतरफा थे नहीं—क्योंकि जिस आधुनिक साहित्य के गहरे रागबोध ने उनका भावबोध विकसित किया और उनकी सम्वेदनाओं और समझ का परिष्कार किया, उससे और ईमानदार निर्ममता के रहते जो उनके आलोचक-मन का सहज गुण था, इस तरह का इकतरफापनसंभव ही नहीं था। उसका कोई बौद्धिक, नैतिक या वस्तुपरक औचित्य नहीं था। इसमें उनके द्वारा उस समय चल रहे शीतयुद्ध और उसके सांस्कृतिक संस्करणों में अपने शील-धर्म के अनुरूप ही शामिल होने से इंकार भी जाहिर है।

मलयज का दुखद देहावसान जब हुआ तब हिंदी में रूचियों का ध्रुवीकरण सौभाग्य से उतना कर्कश और कठोर नहीं हुआ था जितना दुर्भाग्य से आज है। पर उसकी शुरूआत हो चुकी थी। इसके बावजूद कि स्वयं मलयज की शब्दावली संघर्ष और साक्षात्कार की है, जिसकी किंचित् शांत आक्रमकता अलक्षित नहीं जा सकती, यह सही है कि उन्होंने रूचि की खरी उदारता बनाये रखी। **निराला, रामचंद्र** शुक्ल, **अज्ञेय, शमशेर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा, श्रीराम वर्मा, रमेशचंद्र शाह** आदि लेखकों या उनकी रचनाओं पर मलयज ने गंभीरता से लिखा और उनमें से किसी के भी कृतित्व के आकलन में मलयज की व्याख्या की महत्त्वपूर्ण जगह है। उदाहरण के लिए शमशेर की 'असंभव को संभव और फिर उस संभव को असंभव बनाने वाली कविता की दुनिया' या कि साहित्य-क्षेत्र में अज्ञेय द्वारा 'लगभग अकेले लड़ी गयी कला-मूल्यों की रक्षा की लड़ाई' या रामचंद्र शुक्ल द्वारा 'सच को मिथ में बदलने का' उपक्रम या कि उन्हीं की 'भीतर की अतर्क्य तानाशाही की चुनौती' या कि निराला की 'स्वनिर्भर दुनिया से बाहर आने की चीख' आदि को जब कभी भी जतन से देखा-सुना और समझा जायेगा मलयज की आलोचना एक अनिवार्य उपस्थिति होगी। यह बात थोड़े अचरज की है, कुछ इसलिए कि उनके जीवनकाल में पहचानी नहीं जा सकी थीं, कि अपने समय के किसी भी आलोचक की तुलना में मलयज ने अर्थ और महत्व की ऐसी तहें जमा दी हैं कि काफी समय तक इन लेखकों या कृतियों को पढ़ना मलयज के साथ या कम से उनकी आंखों से भी, पढ़ना होगा। रचना या रचनाकार से उनकी आलोचना की यह घनिष्ठ निकटता, फिर वह सहमति की हो या असहमति की, हिंदी में दुर्लभ है। यहां रचना का सच अंतरंग रहस्य भर नहीं है—उस पर आलोचना एक ऐसा अर्थ-बहिरंग भी जोड़ देती है कि उस सच को छूने या उस तक पहुंचने के लिए उस बहिरंग से गुजरना अनिवार्य-सा हो जाता है।

एक आलोचक का किसी लेख या कृति की समझ और व्याख्या के लिए इस तरह अनिवार्य हो जाना कैसे संभव हो पाता है! खासकर ऐसे आलोचक के लिए, जिसके पास विचारधारा या शिविरबद्धता का समर्थन और बल नहीं थे। 'परिमल' और 'नयी कविता' के इलाहाबाद संप्रदाय से शुरू करने के कारण मलयज की आरंभिक छवि सर्वथा निर्दोष या निश्छल भी नहीं कही जा सकती थी। मलयज में निर्मम ईमानदारी के साथ-साथ गहरा और अविचल विनय भी था : वे अपने विचारों और सम्वेदना में ज्यों-ज्यों परिपक्व और सयाने हुए त्यों-त्यों उनका यह खरापन प्रखरतर और उनकी विनयशीलता और गहरी हुई। संघर्ष को अपने भावबोध में केंद्रीय स्थान देने वाले मलयज उसकी कठिनता और प्रतिफल को भी खूब समझते थे। वे अगर अपने संघर्ष की वीरगाथा बखानने, दूसरे के संघर्ष को कमतर आंकने और किसी तरह के नैतिक अहंकार में फंसे रहने के दुश्चक्र से मुक्त रह सके तो इसी विनय के

कारण। हमने शुरू में नोट किया कि वे साहित्य तक अपने को महदूद नहीं करते थे पर, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—'आलोचना लिखना मेरे लिए उतना ही 'जिंदा' काम है, जितना कविता लिखना।'···'जिंदा' चीज के बारे में लिखने में मैं एकबारगी शुरूआत नहीं कर पाता—एक झिझक, एक संभ्रम, अपने को तोलने का भाव मन में होता है, जैसे मैं किसी बहुत निजी और पवित्र वस्तु को छूने जा रहा हूं।' रचना की निजता और पवित्रता के इस सजग सम्मान के कारण ही मलयज की आलोचना में निर्णय देने की उतावली नहीं है। उसमें सघनता और मंथर गति है—आवेग या हड़बड़ी नहीं। आज जब आलोचक प्रायः अपने को रचना की इस निजता और पवित्रता के लिए समाज में समझ और जगह बनाने की चिंता और चेष्टा करने के बजाय, शक्ति संतुलन के झगड़ों में उलझे हैं, मलयज एक ऐसे सच्चे और भरोसेमंद आदमी की तरह दीख पड़ते हैं जो रचना और उसके अनगिन कठिन संघर्षों में, यातना और उसकी झुलसाने वाली आंच और आभा में सहभोक्ता और सहधर्मा रहा।

'कविता क्या है' शीर्षक अपने निबंध में रामचंद्र शुक्ल ने जीने की जो परिभाषा दी है उसे उद्धृत करते हुए मलयज ने यह जिज्ञासा की है कि क्या यह आलोचना और रचना की भी परिभाषा नहीं है? मनुष्य अपने भावों, विचारों को लिए-दिए दूसरों के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहते हैं। ५ सितंबर, १९७९ को लिखी गयी डायरी में इस उद्धरण और उस पर टिप्पणी के साथ ही यह भी नोट किया गया है कि 'इसमें मिलना और लड़ना की-वर्ड हैं।' उसी सिलसिले में मलयज ने यह स्थापना भी की है कि 'कविता अगर हृदय की मुक्तावस्था है—तो आलोचना ज्ञान की मुक्तावस्था है।' आगे मलयज यह भी लिखते हैं कि 'मुक्त होना ही वास्तविक जीना है। मुक्त होना याने एक वृहत्तर इकाई से अपने को जोड़ना।' मलयज की आलोचना को उनकी जीवन की अवधारणाओं से अलगाना संभव नहीं है और जीवन में उनके लिए की-वर्ड थे: मिलना, लड़ना और जोड़ना। यह सिर्फ रुचि का लचीलापन या बौद्धिक सख्ती का अभाव नहीं था कि वे अगर मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष पहचान सके थे तो निर्मल वर्मा के स्मृतिलोक में रहकर भी अरक्षित महसूस करने और सचाई से मुठभेड़ की अवश्यंभविता के संकेत भी उनसे अलक्षित नहीं गये थे। जाहिर है यह शुद्ध सम्वेदना का मामला नहीं है—यह एक आलोचक की मूल्यदृष्टि की भी अभिव्यक्ति है। इस मामले में रचना और आलोचना दोनों के पूर्वग्रह एक-दूसरे का सामना करते हैं—अपने अंतर्विरोधों को साफ पहचान पाते हैं। वे मिलते हैं, लड़ते हैं और जुड़ते हैं। उसमें अपनी जगह किसी अबसरवादी की तरह बदलने का प्रलोभन नहीं बल्कि अपने को तोलने और रचना की निजता और पवित्रता की रक्षा करने, अपने आलोचनात्मक पूर्वग्रहों की चहारदीवारी से रचना में बाहर उसके पूर्वग्रहों के सामने आने और इस मुठभेड़ से एक नया और शायद अप्रत्याशित सच पाने का उत्साह और चाव है। एक सच्चे आलोचक की तरह मलयज को यह मानने में कतई संकोच न होता कि यह मुठभेड़ स्वयं आलोचक को समृद्ध और सार्थक करती है।

मलयज कविता को कर्म नहीं मानते थे। पर्याप्त कर्म तो वह उनके लिए निश्चय ही नहीं था उनके लिए सार्थक कविता वह है जो 'महसूस किये हुए को कर्म की प्रखरता तक ले जाये' और जो संपन्न अर्थछटाओं से युक्त कलाओं की कीमती दस्तावेज' होने के बजाय 'जीवन संघर्ष के जुझारूपन से घटित होकर सर्जनात्मकता की एक नयी कसौटी सामने ला दे।' अपनी पहली पुस्तक 'कविता से साक्षात्कार' से लेकर अपनी अब तक प्रकाशित अंतिम पुस्तक 'रामचंद्र शुक्ल' में वे कविता और कर्म के इस द्वैत और संबंध पर विचार करते रहे। शुक्ल जी की अवधारणाओं का विस्तार करते हुए उन्होंने कहा कि 'भाषा के भीतर जो अनुभूति है, भाषा के बाहर वही कर्म है। कविता इन दोनों की संधि पर है। कविता सच्ची बनती है भाषा के भीतर की अनुभूति से और बड़ी बनती है भाषा के बाहर के कर्म से।···कविता सीधा-सीधा कर्म नहीं, पर हमने जीवन में कर्म की जो दिशाएं खोजी हैं उनका वह फलक है।' आगे इस कर्म सौंदर्य-प्रधान कविता में, उनके अनुसार, 'सिर्फ दीप्ति न होगी, दाह भी होगा, केवल शांति ही नहीं कोलाहल भी होगा, प्रबोध नहीं ललकार भी, गूंज ही नहीं गर्जन भी।'

कविता और कर्म के बीच जो अंतर मलयज लक्ष्य करते हैं उसे आधुनिकता के संदर्भ में समझना होगा। प्रायः समूचे संसार में आधुनिकता ने अपनी व्याख्या से बुद्धिजगत् को, तर्क और मूल्य के लिए, जिस तरह वैज्ञानिक, नैतिक, राजनैतिक और सौंदर्य मूलक क्षेत्रों में अलग-अलग कर दिया उस तरह से कविता को हानि ही हुई है। इस स्थिति में जैसा कि हैबरमास ने बताया है, कला उत्पाद उस तरह के सांस्कृतिक अधिकार की मांग नहीं कर सकते जो कि वैज्ञानिक और नैतिक-राजनैतिक कर्म को सजीव रखता है। कर्म से कविता का यह आधुनिक विलगाव बहुत सारे काव्य चिंतन का एक बुनियादी मुद्दा रहा है और मलयज उससे बार-बार उलझते हैं तो यह अस्वाभाविक नहीं है। पर इस सिलसिले में यह लक्ष्य करने की बात है कि एक ओर कर्म के प्रति उनका आकर्षण कविता को उसकी नितांत आंतरिकता से मुक्त करने का है जो नयी कविता के एक खास दौर में नितांत समसामयिकता की ही तरह नयी कविता का एक अटल काव्य-सिद्धांत हुआ जा रहा था। उस समय दृश्य पर इस अवधारणा का दबाव डालना महत्त्वपूर्ण था कि 'कविता न सिर्फ अपने भीतर से बल्कि अपने बाहर से भी निर्मित होती है।' यह भी दिलचस्प है कि मलयज ने पूरी समस्या को भीतर-बाहर के पदों में देखा-समझा और व्यक्ति और समाज के उबाऊ द्वंद्व में न डालकर उसे उनसे उकसने वाले पूर्वग्रहों का शिकार होने से बचा लिया।

इसका दूसरा पक्ष यह है कि अंततः और प्रथमतः भी मलयज कविता में जीवन की पूर्णता का आग्रह करते थे। उनके यहां कविता और भाषा अपना सत्यापन जीवन से ही पा सकती है—पर जीवन नामक किसी समग्रीकरण या सामान्यीकरण से नहीं, उस भरे पूरे स्पंदन से 'जिसमें धरती के अनेक रंग कोमल और कठोर, भीषण और सरस, मृदु और प्रचंड, कटु और मधुर अनुभूति जल में प्रतिबिंबित हों, घुलें, प्रवाहित हों, जीवन के

राग-खंड आपस में टकराएं, छिलें, टूटें, बनें, ढलें।' शायद यह भी कहा जा सकता है कि मलयज के विरुद्धों के बीच सामंजस्य में दिलचस्पी नहीं थी पर वे हर हालत में कविता में जटिलता की आधारभूमि अनुभूति की द्वंद्वात्मकता में ही पाते थे : कोमलता के पीछे उतना ही कठोर चेहरा और मृदुता को ओट लिए हुए प्रचंडता आदि की उनकी अपेक्षा जीवन की पूर्णता की, उसके अनेक पक्षों की ठोस बहुलता की ही अपेक्षा थी। वह अंदर या बाहर दोनों के इकहरेपन के विरुद्ध गहरा और लगातार आत्म संघर्ष है जो मलयज को इस द्वंद्व दृष्टि को ऊर्जा और ताप देता है। हमारे समय में कविता में भाषा जीवन और यथार्थ के खुदरेपन नोंक-खरोंचों को नजरंदाज कर एक अमानवीय और जीवन-विमुख स्वयंपर्याप्तता अर्जित कर सकती है। इस खतरे के प्रति मलयज बेहद चौकन्ने थे। उनकी एक काव्योक्ति है—

मानव-संबंधों को अब अनुभूति की वास्तविकताएं नहीं करतीं निर्धारित
भाषा की अवास्तविकताएं करती हैं।

कविता और भाषा को मलयज वस्तुजगत् से, उसके ठोस खुरदरे अस्तित्व से अविछिन्न देखना चाहते हैं—उनकी नजर में यह वस्तुपरकता ही कविता को वास्तविक बनाती है। उसका अंदर और उसका बाहर दोनों ही एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं और एक-दूसरे को जांचते और सत्यापित करते हैं। व्याकरण से एक रूपक उधार लेकर हम कह सकते हैं कि मलयज की दृष्टि चालू अर्थों में द्वंद्वात्मक नहीं, बल्कि द्वंद्व-सामासिक थी।

नयी कविता के उत्कर्षकाल में रचना-प्रक्रिया पर बहुत जोर दिया जाता था और यह मानना चाहिए कि उस कविता ने जो अवधारणाएं हमें अधिक टिकाऊ ढंग की दीं उनमें कविता या कवि पर विचार करते समय रचना-प्रक्रिया को भी ध्यान में लेने की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। पर शायद मलयज एकमात्र आलोचक ऐसे हुए हैं जिन्होंने रचना प्रक्रिया की इस अवधारणा को लगातार अपने विश्लेषण और चिंतन में शोभा-परक नहीं, वस्तुपरक जगह दी। 'सरोज स्मृति' से लेकर उनके अन्य विश्लेषणों तक प्राय: सभी में वे कविता या लेखक की अनुभूति ही नहीं उस ठोस भूमि पर भी अपना ध्यान केंद्रित करते हैं जो उन्हीं के शब्दों में 'अपने कच्चे-पक्के रंगों के साथ प्रकाशित हैं जिसके भीतर से वह अनुभूति पैदा हुई है।' अंतिम उत्पाद से चलकर समूची प्रक्रिया को रेखांकित करने की पद्धति का इस्ते-माल उन्होंने बार-बार, उदाहरण के लिए, शमशेर या रामचंद्र शुक्ल का विश्लेषण करने में किया है। मलयज में न केवल धीरज था, उनकी ब्यौरों में अथक दिलचस्पी थी। निरे साहित्यिक औजार उनके लिए साहित्य को समझने-सराहने के लिए काफी नहीं थे। वे जीवन-वृत्त, निजी प्रसंगों आदि सबको मिलाकर किसी भी रचना या लेखक को एक मुकम्मल संरचना के रूप में नहीं एक बनती-बिगड़ती प्रक्रिया के रूप में पढ़ते-समझते थे। साव-धान-सतर्क पाठ-कुपाठ के इस समय में मलयज सावधान और सतर्क पाठ के लगभग आदर्श ही माने जा सकते हैं। उनका पाठ अत्यंत समावेशी और संशलिष्ट है पर वह दूर की कौड़ी लाने का कभी कोई उपक्रम नहीं करते। पर 'जो है' उसमें 'जो नहीं है' के तनाव को पढ़ने की समझदारी उनमें बराबर मौजूद रही है। ब्यौरों के लिए इस चौकन्ने धीरज से ही मलयज की आलोचना-भाषा का संस्कार हुआ है। उसकी तर्कनिष्ठता, यथातथ्यता और सघनता की उचित ही प्रशंसा हुई है। उस भाषा में जो सर्जनात्मकता है वह मलयज के कवि होने का कारण या गया लालित्य नहीं है बल्कि जीवन और साहित्य से गहरे प्रेम की अभिव्यक्ति है—प्रेम में प्रेय पर ध्यान का केंद्रीकरण अनिवार्य ही है। यह केंद्रीकरण निरी संवेदना का नहीं, विचार और दृष्टि का भी है, जिनमें इस ध्यान से अपने को तौलने और बदलने का खुलापन भी है। 'हार के क्षणों में भव्य किस्म की उदासी', 'सम्वेदनशीलता के ऊपर चढ़ी हुई एक तटस्थ मखौल की कठोर चमड़ी' 'यह भाषा ठोस मज्जा और रुधिर से बनी काया है, 'विचार की मांसल दृढ़ता जैसे वाक्यांश उनकी भाषा में चुस्त फिकरों की नाटकीयता से नहीं अपने सहज प्रवाह से आते हैं। गौर करने की बात यह है कि मलयज ने आलोचक के रूप में अपनी 'शब्द के संरक्षक' होने की भूमिका शब्द को महफूज रखके, उसे पूज कर नहीं बल्कि उसे विलोमों के आंगन में जीवन के धूल-धक्कड़ में लोटते-पोटते, गिरते-उठते, देखते और दिखाते हुए निभायी। आलोचक रचे गये शब्दों को अपने उद्यम से कैसे अनेकार्थगमी और सजीव कर सकता है, मलयज इसके हिंदी में दुर्लभ उदाहरण हैं।

हमने शुरू में यह कहा है कि मलयज के लिए आलोचना सांस्कृतिक संलाप है। मुक्तिबोध के स्मरणीय शब्दों को इस्तेमाल करें तो वह 'सभ्यता-समीक्षा' है। जीवन की प्राथमिकता का इतना प्रबल आग्रह करने वाले मलयज हमारी सांस्कृतिक परिस्थिति में उठने वाले व्यापक प्रश्नों पर विचार न करें यह संभव नहीं। इन्हीं में से एक प्रश्न भारतीयता का है जो आजकल घोर धर्मांधता और पश्चिम के सामने लगभग आत्मसमर्पण की आर्थिक-बौद्धिक स्थिति के संदर्भ में कुछ और तीखा और तात्कालिक हो उठा है। १९७० में जब मलयज ने यह प्रश्न त्रिलोचन की कविता पर विचार करते हुए उठाया था तब भी उन्हें उसके इस्तेमाल के खतरों और उसमें आने वाली 'संकीर्णता और अबौद्धिकता की बू' का पूरा अहसास था। आज तो यह संकीर्णता अत्यंत संगठित-आक्रामक होकर खतरे के रूप में नहीं एक ठोस चुनौती के रूप में हमारे सामने है। शायद यह कहा जा सकता है कि समकालीन बौद्धिकता की यह विफलता है कि उसने एक अधिक समावेशी सामासिक भारतीयता का विकल्प दृढ़ता और स्पष्टता से सामने नहीं रखा और एक छद्म, और हमारी परंपरा से असमर्थित, भारतीयता को दृश्य पर इस तरह हावी होने दिया है कि सच्ची औसत भारतीयता लगभग निरुपाय हाशिये पर ढकेली जा रही लगती है।

मलयज ने औसत आदमी को ही भारतीयता के केंद्र में रखा है। 'मूर्त्त और ठोस को साथ रखने वाले' उस औसत आदमी के भीतर ही उन्होंने छोटी-मोटी दार्शनिकता बैठी पायी। उसमें 'कटुता से उपजा पोढ़ापन' भी है और 'सहज भावुकता' भी। मलयज उसकी मार्मिकता से प्रभावित होते हैं पर यह जिज्ञासा करने से नहीं चूकते कि क्या यह औसत भारतीय अपनी आस्था और समर्पण के आधारों को तोड़-फोड़ कर उस व्यापक

मूल्य-अराजकता का अंग बन सकता है जो आज की निपट नंगी और चीखती हुई सचाई है ?' आगे रामचंद्र शुक्ल जी की अवधारणाओं की बहुत सटीक व्याख्या करते हुए मलयज ने उनमें 'एक भारतीय आत्मा' की खोज की। यह औसत भारतीय, यह सामान्य आदमी मलयज के यहां दो रूपों में प्रगट होता है, जैसाकि डॉ० नामवर सिंह ने मलयज की पुस्तक की भूमिका में बताया है, स्वयं रामचंद्र शुक्ल के रूप में और उनकी कृतियों से उभरने वाले सामान्य मनुष्य के रूप में। इस मुकाम तक पहुंचते मलयज के सामने यह साफ हो गया था कि ऐसी औसत भारतीयता न केवल संभव है बल्कि मौजद है जिसमें अपनी जमीन के विवेक के साथ ही साथ पश्चिम से टकराने की अदम्य बौद्धिक ऊर्जा और ललकार और उससे टकराने का खुलापन भी है। उनके लिए अपनी जड़ों से कितनी ही जुड़ी क्यों न हो और उसमें लोकजीवन की कितनी ही 'अंत:गरिमा' क्यों न हो ऐसी भारतीयता काफी नहीं है—उनकी मांग अधिक जुझारू और सकर्मक भारतीयता की है जिसमें 'घुलावट की समरसता' नहीं बल्कि 'संभावना की बेचैन गतिशीलता' हो। आज जब पश्चिम की ओर पीठ किए सरलता को एक नये काव्य-सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे हिंदी की जातीय परंपरा का केंद्र बताया जा रहा है और पश्चिम से मुठभेड़ करने वाली हिंदी की स्वाभिमानी परंपरा की किंचित अवहेलना या अवमूल्यन हो रहा है—मलयज फिर एक बेचैन आलोचना-केंद्र की तरह उपस्थित हैं। उन्हें बरजकर हम भारतीयता की अपनी किसी खोज में आगे नहीं जा सकते। उनकी आलोचना इस सिलसिले में एक सख्त अवरोध है जिसे हम आसानी से पार नहीं कर पायेंगे। बड़ा आलोचक सिर्फ हमारी मदद ही नहीं करता, हमें प्रतिरोध भी देता है। मलयज की आलोचना संघर्ष की रसिकता का दस्तावेज है जो हमें उत्तेजित करता रहेगा और जब-तब हमारे आड़े भी आता रहेगा।

मलयज की कविता

□ विष्णु खरे

[हिंदी अकादमी द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया निबंध।]

आलोचक की तरह कवि भी काव्य पर और कभी अपनी कविता पर कुछ लिखते हैं—और आलोचक के गद्य से अलग कभी-कभी कविता में भी वैसा लिख देते हैं—और जिस तरह आलोचक के लिखे को लेकर एक स्वस्थ संशय और तार्किक असहमति की गुंजाइश रहती है वैसी कवि के कविता पर लिखे के साथ भी संभव मानी जानी चाहिए लेकिन मलयज की डायरी में उनकी जो अंतिम कविता मिली है, जिसे अपूर्ण और प्रारंभिक ड्राफ्ट मानना भी उसके महत्व को कम नहीं करता, वह अपनी और औरों की कविता के प्रति उनकी कुछ आधारभूत शर्तों और मांगों को रेखांकित ही नहीं करती बल्कि उनकी कविता के कुछ पहलुओं को समझने में मददगार साबित होती है—**लिखो तभी जब संकट में हो/चीजें जब जब हिली हुई हों/जमीन सरकी हुई थिर कुछ भी नहीं/एक सांस भीतर एक बाहर बीच में/हलचल जिसमें कोई तरतीब नहीं/बक्से उलट दिए गए चीज बस्ता बाहर/एक खुलापन जिसे सब घूर सकें/एक नंगापन जिसमें देख सकें सब/अपने दुखी क्रुद्ध विकृत चेहरे/खंडहर जिसकी दरारें सब कोई/पढ़ सके संबंध कोई स्थापित कर सके/जो कहीं न छपा न बिका हो/लिखो वह संबंध जो संकट से बचा हो/वह सिली-सिलाई किताब नहीं/जो बैठी है शब्दों के भीतर मैल-सी/संकट में होना प्यार में होना है/किनारा है उथलापन/जहां मिलेगी तुम्हें अकेली सूखी चमक/घातक वह है जो तिड़क रहा है/जल जलकर भीतर उसके जिए/जो गाढ़े काले धुएं-सा उबलकर आ रहा है बाहर/उसके लिए।**

मलयज ने यह पंक्तियां अपने प्रौढ़ लेखन के दौर में और अपनी मृत्यु के सत्रह दिन पहले लिखी थीं इसलिए इन्हें १९७१ में प्रकाशित उनके पहले कविता-संग्रह 'जख्म पर धूल' की प्रारंभिक कविताओं पर लागू करना न्याय नहीं होगा, लेकिन 'पुस्तक समीक्षा' जैसे संभावनापूर्ण शीर्षक की कविता में जिंदगी को **बहुत सी सुबहों की/सिली हुई एक जिल्द··· एक कविता संकलन / उपन्यास या नाटक!** कहने के बाद **कविता-संकलन, उपन्यास या नाटक की कला/पिघलकर/महज दो बूंद द्रव बन** (डालडा वनस्पति के पीले टिन की) **पेंदी में ढलेगी** की संभावना प्रकट करना कला और जीवन के विचित्र किंतु सत्य संबंधों या असंबंधों को देखने की मलयजी दृष्टि की शुरुआत का परचायक है। 'अहं-पीड़ित एकांत का वक्तव्य' में अहं इसी बात में है कि मलयज इसे 'आत्मदया-पीड़ित' नहीं कहते क्योंकि कविता ठीक वही है लेकिन **एक अंतराल हूं/दंश और पीड़ा के विस्तार के मध्य तथा फूटते छाले का विष हूं/भावुकता के पिच-पिचे उन्मेष में/जिसे तुम कहते हो कला···** में उन तकलीफ देह रुझानों की सरकशी है जिनसे बाद की मलयज की कविता बनती है। अपने इस आकार लेते दौर में मलयज ने काव्य-अवतरण पर 'कविताएं आई हैं' जैसी गीतात्मक, उत्सवी और आत्माभिनंदनपूर्ण कविता भी लिखी है जिसकी क्षतिपूर्ति ज्यां क्रिस्तोफ का मद्धिम व्यंग्य और—**मैंने कहा यहां की गंगा उथली है/ उथली हुई निःसत्व दालें, अनाज···/सीने में भुरभुरी रेत, कोफ्त और आसपास दड़बे/दड़बों में वही कुबड़े जीने और ठिगने कमरे/···यह परिवेश है सिर्फ मेरा/मेरे हथियार कुछ दूसरे हैं,···** जैसी पंक्तियां और 'कन्या' जैसी कामदार किंतु मूलत: स्निग्ध पारिवारिकता में हो जाती है। 'जख्म पर धूल' की पहली कविता मलयज की प्रारंभिक कविता नहीं है, वह संग्रह का स्वर स्थापित करने के लिए वहां रखी गई

है। 'हंसते हुए मेरा अकेलापन' को इस तरह छोड़ दें तो मुझे लगता है कि हमारे लिए प्रासंगिक मलयज का प्रारंभ 'जख्म पर धूल' के २४वें पृष्ठ पर प्रकाशित पंद्रहवीं कविता 'भाषा' से होता है। मैं यह बात मलयज की कविता के अंतर्साक्ष्यों के आधार पर ही कहने का जोखिम उठा रहा हूं क्योंकि जरूरी नहीं कि कवि अपने संग्रहों में रचनाओं का क्रम सृजनकाल के अनुसार ही रखे।

यहां आकर शायद मलयज के दोनों कविता-संग्रहों के शीर्षकों पर भी कुछ सोचा जा सकता है हालांकि वे भी सम्मिलित रचनाओं के लिए सौ फीसदी उपयुक्त और कविताओं को समझने या कुछ अंतर्सूत्र पकड़ पाने में हमेशा उपयोगी साबित नहीं होते। फिर भी मलयज के शीर्षक सनक, प्रयोग या चालू मुहावरों से प्रेरित न होकर उनकी कविताओं के मिजाज से पैदा हुए हैं। 'जख्म पर धूल' एक क्रूर इमेज है, करुणा और कॉमिकल भी — उसमें एक विदेह—वैराग्य भी है लेकिन वह आत्म पीड़न और प्रदर्शनवाद के आरोप भी आकर्षित कर सकता है, फिर भी यह महत्त्वपूर्ण है कि इसी शीर्षक की कविता की पहली पंक्ति है 'जख्म पर मजाक की धूल डाल'। कवि अपने घाव पर मजाक की धूल डालकर उसे छिपाने की इच्छा कर रहा है या अच्छा करने की यह अस्पष्ट ही है लेकिन यह साफ है कि वह अपनी पीड़ा पर अपने हंसते हुए अकेलेपन का मरहम लगा रहा है। यह लोकप्रिय फिल्मों पर या उपन्यासों का दर्दवाद नहीं है। इसमें स्वयं, समाज तथा सृजन की विसंगतियों का विलक्षण विवरण है—**जख्म पर मजाक की धूल डाल /स्टेज फर्श की घप्-घप्/और फालतू दर्शक की कुर्सी के तीन पायों से/अपने को बचाकर चलता हुआ मैं/सिर के गंजा होने/और नाई की दुकान पर/मुफ्त नाखून न कटा पाने के दुःख से/प्रमुख हो गया हूं/ एक सीधा सच/कि मुझे आलू पसंद है कहते/तमाम सारी डालियों में उलझे चिमगादड़ों को/तकता कवि क्यों याद आता है ? देर से भुना मन/ फजीहतों में सिर्फ सोंधा हुआ जाता है।**

मलयज हिंदीभाषी निम्नमध्यवर्ग की प्रतिभा थे और संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अपने स्वास्थ्य, अपने परिवार तथा अपनी नौकरी को संभालने के लिए जितना अकेला संघर्ष उन्हें करना पड़ा उतना शायद उनके पहले मुक्तिबोध की किस्मत में ही बदा था। मर्मांतक, जानलेवा यंत्रणा मुक्तिबोध की कविता में भी है और मलयज के यहां भी लेकिन जहां मुक्तिबोध विराट फंतासियों में चले जाते हैं वहां मलयज रोजमर्रा के क्रूर कुरुक्षेत्र में भी एक अकृत्रिम 'सेंस ऑफ ह्यूमर एंड द एब्सर्ड' बनाए रखते हैं जिसका दुर्भाग्यवश मुक्तिबोध और धूमिल दोनों में खासा अभाव नजर आता है। 'भाषा', 'चुन्नीलाल' (जो कि 'ज्यां क्रिस्तोफ' का ही एक संस्करण लगता है) 'देखते देखते', 'आधी कविता,' 'चीज', रसबोध,' 'तमाशे में', 'सहमत,' 'कुछ नया नहीं', 'अध-लिखा खत', 'अकाल मृत्यु,' 'कलावती से पूछ कर', 'अपनी चीजों के बारे में,' 'हंसते हुए मेरा अकेलापन' 'मूछों के नीचे' तथा 'नंगापन खोकर' जैसी कविताएं आज के समाज में अन्याय, अभाव तथा तनाव से ग्रस्त होने की कविताएं हैं और याद रहे कि मलयज के सामने अकविता और प्रतिबद्ध कविता दोनों के विलशे को अपनाने के विकल्प थे लेकिन उन्होंने नितांत अपने निजी तेवर, भाषा और शैली की खोज करनी चाही। उनमें रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और कुंवर नारायण की कविता के उपयोगी तत्व हैं लेकिन उनकी आत्यंतिकताएं नहीं हैं। वैसे मुझे लगता है कि मलयज कुंवर नारायण के सबसे नजदीक पड़ेंगे हालांकि अपने (निम्नमध्य) वर्ग में उनकी जड़ें अविचल गहरी हैं। उनके कवि के कुछ उद्गार इस तरह हैं—**हर रोज/'उधेड़बुन'-छाप डोरे के गोले से/सभ्यता का पाजामा सिलते हुए/कामना करता हूं कि नंगा दिखूं** (आधी कविता) **इंतजार में/व्यवस्था की लपट में झुलसता/फावड़े को फावड़ा कहूं खड़ा हूं/कोई लाकर रख दे फ़ावड़ा/मेरे सामने** (चीज) **रोज-रोज हाजिरी के रजिस्टर पर/दस्तखत करते डर लगता है/डायरी पर दिन की तारीख डाल/हत्या आगजनी व्यभिचार की नींद सोते/डर लगता है** (लगना) एक छोटी-सी रचना में अपनी स्थिति की विवशता, विसंगति तथा लोकप्रिय और कलात्मक जैर्गन को मलयज ने जिस संपूर्णता से अभिव्यक्त किया है वह अद्वितीय है—**अपनी चीजों के बारे में निष्पक्ष होना मुश्किल है/इसलिए मैंने तय किया कि/दूसरों के पसंद किये कपड़े पहनूंगा/मोची को अपना नाप देने के बदले/ढालूमल का नाप दूंगा/अपने घर में रहूंगा/और जगन्नाथ का किराया भरूंगा/कवि ने कहा मौन स्वर्ण है/अतः मैंने सोचा कि अपने सब शब्द नेता को दे/ बदले में स्वर्ण ले/बंद फंदों से बरी देश की दरी पर बैठूंगा/और नेता को सुनूंगा/जब जनता चिल्लाई देश गरीब है/मेरी माता के घर में अनाज रहे/मैं लेटे लेटे उदास हो गया/गरीब निवाज ने पुकारा जागो फिर एक बार/जागने के लिए मैं सो गया।**

मलयज में परिहास और विसंगति का अहसास बहुत गहरा है और वे कभी-कभी स्वयं को गंभीरता से न लिए जाने की हद तक 'पन' और श्लेष का इस्तेमाल करते हैं लेकिन उसके मूल में बहुत अधिक भावुक न समझे जाने का सजग प्रयास ही है। वे तकलीफ और यंत्रणा को बंबइया काल में नहीं बदलते बल्कि उसे कभी चैप्लिन और कभी कीटन की फजीहतों के स्तर पर ले आते हैं। लेकिन जिस तरह कोई भी हंसी करुणा या हॉरर से दूर नहीं होती उसी तरह मलयज में वर्तमान भारतीय समाज के आतंकित करने वाले चित्रों की कमी नहीं है। उनकी कई कविताओं में क्रूरता की उपस्थिति है लेकिन क्रूरता की वह पोर्नोग्राफी नहीं है जो साठ के दशक के उत्तरार्ध में एक विशेष किस्म की हिंदी कविता का मुहावरा बन गई थी। मलयज के जर्जर स्वास्थ्य और मामूली नौकरी ने उन्हें समाज में एक लो-प्रोफाइल, लगभग गुमनाम भूमिका निभाने पर बाध्य किया था लेकिन इसी कारण वे अपने आसपास की सारी करुणा और कुरूपता को एक पूर्णरूपेण अचीन्हे भेदिए या अय्यार की तरह बहुत नजदीक से देख पाए। इसलिए उनकी कविता जख्म पर धूल तो डालती है लेकिन वे जख्म की यंत्रणा और क्रूरता पर पर्दा नहीं डालते—**छुरा भोंक कर एक गहरा जख्म करता हूं रात/निकलती है कटी हुई फांकों में एक-एक कैद/फांद कर दीवार बाईस साल बाद टप् से गिरता है/पक कर भाषा की जमीन पर आतंक/चक्खेगा कौन इतराते हुए इरादों को/निकालनी है जूते के तालू में गड़ी हुई कील मुंह में/दबी हुई चीख एक सूरत है कम-कम मरते हुए को मारने की/मेज के नीचे बढ़ी हुई मुट्ठी में कुछ धर आने की/कटी हुई जीभ को लेकर तमाशे**

में गायब हो जाने की। यंत्रणा तथा पोस्ट मॉर्टम के ऐसे चित्र सिर्फ मुक्तिबोध के पास ही हैं और कहीं-कहीं कुंवर नारायण में—**उसके पास एक छुरी है/वह उससे रोज रोटी मक्खन और सब्जी काटता है/फिर खा-पी चुकने के बाद अपना गला काटता है/खाल उधेड़ खुद को हुक पर टांग बूंद बूंद/टपकते खून को नपने से नाप-नाप/नाली में डालता है/कायदे से हाथ पोंछ मेज पर/अपने ही अंगों को छूता है तेज/कर छुरी की धार एक बार दो बार तीन बार/किसी के पूछने से चौंकने के पहले/वह ओंठ अलग फेंक देता है मौत पर/हंसने के लिए आंखें निकाल/पीठ पीछे जड़ देता है/क्रोध में मुंह बाकर/दिखा देता है अपने ही कटे हुए हाथों में/अपनी स्वतंत्रता के बीस साल।** लेकिन ऐसी कविताओं में भी मलयज में बैठा कॉमिक और एब्सर्ड का सजग दृष्टा अट्टहास का अवसर नहीं खोता। यदि भारतीय समाज को एक कंसंट्रेशन कैम्प मानें तो मलयज उसके शायद पहले और एकमात्र ब्लैक ह्यूमरिस्ट हैं लेकिन उनकी कविताएं रुग्ण मजाक नहीं हैं।

मलयज ने अपनी डायरी में ११ अगस्त, ७९ और २६ अगस्त, ७९ को महात्मा गांधी और गजानन माधव मुक्तिबोध के दो उद्धरणों का मर्मस्पर्शी और एपिफैनिक उल्लेख किया है। गांधी जी का आप्तकथन उन्होंने १९६४-६५ में पढ़ा था। मुक्तिबोध का उद्धरण उन्होंने उनकी कहानी 'जलना' से अर्जित किया। मलयज ने दोनों उद्‌गार नोट कर लिए और लिखा, "दोनों ही उद्धरण मेरे मन में बराबर वर्तमान रहे हैं। मुझे उन दोनों में एक गूढ़ किंतु सरल रिश्ता दिखाई देता है। मैं इन दोनों उद्धरणों को लेकर अपने मन की कुछ बातें, अपने अस्तित्व का कुछ हाल चाल लिखना चाहता हूं।" इसके पहले गांधीजी के उद्‌गार का जो बिजली गिरने जैसा असर उन पर पड़ा उसके बारे में मलयज कहते हैं: "उसे पढ़कर मैं चमत्कृत-अभिभूत रह गया था, मेरे भीतर बहुत दूर तक उस लिखे हुए की आवाज गूंज गई थी। मैं महसूस करता हूं मेरी लेखन-प्रेरणा को किसी न किसी अंश में उसने अवश्य प्रभावित किया। मुझे एक नई आंख मिली···इतने बरसों उसका राग बराबर मेरे भीतर कहीं बजता रहा है···।

कौन से हैं ये जादुई उद्‌गार जो मलयज को ही नहीं बल्कि महात्मा गांधी और मार्क्सवादी मुक्तिबोध को भी परस्पर जोड़ते हैं? गांधी का 'ताबीज' यह है: "मैं आपको एक ताबीज देता हूं। जब कभी आप दुविधा में हों या आपको अपना स्वार्थ प्रबल होता दिखाई दे तो यह नुस्खा आजमाकर देखिएगा। अपने मन की आंखों के सामने ऐसे गरीब और असहाय व्यक्ति का चेहरा लाइए जिसे आप जानते हों और अपने आप से पूछिए कि आपकी करनी उसके किस काम आएगी? क्या उसे कुछ लाभ होगा? क्या उस काम से उसे अपना जीवन और भविष्य बनाने में कुछ मदद मिलेगी? दूसरे मानो में, क्या आपकी करनी हमारे देश के लाखों, करोड़ों भूखे-नंगे लोगों को स्वराज्य की राह दिखाएगी? बस इतना सोचते ही आपकी सारी दुविधाएं दूर हो जाएंगी और स्वार्थ मोम की तरह पिघलकर बह जाएगा।"

और मुक्तिबोध का नायक 'जलना' में क्या स्वप्न देखता है?—"वह फिर भविष्य की तरफ देखने लगा। उसके बच्चे बड़े होंगे। कॉलेज एजुकेशन तो क्या ले सकेंगे। इतना पैसा ही नहीं है कि उनके लिए किताबें खरीदें। लेकिन हां, मैं अपने सारे विचार, मेरी सारी कल्पनाएं और धारणाएं उन्हें बता दूंगा···मैं उन्हें बड़ आदमियों की बैठकों से दूर रखूंगा और इस तरह घुट्टी दूंगा कि वे उनके तौर-तरीकों से घृणा करें कि अपने जैसे गरीबों में ही रहें, और उन्हें लिखाएं-पढ़ाएं, उन्हें नए-नए विचार दें, उनकी भविष्य कल्पना तीव्र कर दें, उनकी जगत् चेतना को विस्तृत और यथार्थवादी बना दें और उनमें मरें और जियें। मैं उन्हें क्रांतिकारी बनाऊंगा। मैं उन्हें समाज की तलछट बनने के लिए प्रेरित करूंगा, वे वहां बैठे-बैठे किताबें लिखेंगे, पैम्फलैट छापेंगे, और जो मिलेगा उसे सबके साथ खाकर उन सब भड़कीले दंभों से घृणा करेंगे कि जो शिक्षा और संस्कृति के नाम चलते हैं···।"

मलयज अपनी डायरी में एक रोमांचक इंदराज करते हैं: "मुझे लगता है उन दोनों उद्धरणों में निहित सत्य मेरी अपनी आत्म-स्थितियों की सार-रचना में ही चरितार्थ होंगे कभी। मैं उन सत्यों को अपने भीतर की रगड़न, टूटन, डुबान, कोलाहल, संगीत, कुंठा और प्रवाह में से आलोकित करूंगा। मैं उन सत्यों को जिऊंगा, अपना करके जिऊंगा और रचूंगा।"

'अपने होने को अप्रकाशित करता हुआ' की प्रौढ़ कविताओं में मलयज ने इसी मानुख सत्य को पाने की कोशिश की है। ऐसा नहीं है कि इन कविताओं में उनकी 'निजी' कविताएं नहीं हैं या अचानक अपना जबर्दस्त परिहास-भाव त्याग कर वे क्रांतिकारिता में शामिल हो गए हैं लेकिन उनकी कविता में एक नई दृढ़ता और संकल्प के निशान दीखते हैं—**छाती पर उगे पत्थर/अपनी जड़ें अगर शब्दों में फेंके/तो उन्हें काटो नहीं बचाओ/एक तिनके की चीख/पूरे जंगल के संनाटे से भारी है।** मलयज के तेवर बदलते हैं और वे शायद अपनी पिछली मानसिकता और कविताओं से आगे बढ़ते हुए एक जटिल चुनौती में पूछते हैं—**कोई है जो मेरे बदहवास निहत्थेपन को सिर्फ मेरा/कुचला हुआ सौंदर्यबोध न कहे/और जब मेरी चुप चीख से उतरकर/हाथ पांव की हरकत में बदल जाए/तो उसे पिछड़ेपन की छटपटाहट नहीं, चीजों को तोड़ने का इरादा समझे?**

अब कवि के बाल कनपटियों पर सफेद हो चुके हैं क्योंकि वहां नसों में खून ज्यादा दौड़ता है। मलयज के लिए अब कविता और खून में फर्क करना मुश्किल होता जाता है लेकिन वे अभी भी इतने सजग कवि हैं कि कविता आदमी का झूठ कितनी जल्दी जाहिर कर देती है। कविता पर मलयज ने बहुत लिखा है लेकिन आश्चर्य यह है कि जहां अधिकांश कवि कविता पर लिखते हुए अपने कवि होने पर स्वयं लोमहर्षित होते दिखाई देते हैं वहां मलयज कविता की बात इतने स्वाभाविक वस्तुपरक ढंग से करते हैं जैसे कोई बढ़ई सागौन के बारे में कुछ कह रहा हो। और फिर जिस तरह बढ़ई के हाथों लकड़ी अपना लकड़ीपन खोकर कुछ और हो जाती है उसी तरह मलयज मांग करते है कि—**चाहे वह कुछ भी वह दिखे/एक जख्मी हाथ/बुझा हुआ चूल्हा/कंधे पर से फटी हुई कमीज/पर कविता वह हर्गिज न दिखे/आरपार बिंधी जाकर वह चीखे/पर शब्द उससे न झरें बिंब न चुएं।**

एक तत्व जो मलयज की बाद की कविताओं के और गहरे विश्लेषण को प्रेरित करता है वह है उनमें फंतासी की प्रवृत्ति का। 'इसका कुछ अर्थ है', 'आंख से खुरचते ही', 'दृश्य जानने तक' और 'अपने होने को अप्रका-

(शेष पृष्ठ १८ पर)

स्व० देवीशंकर अवस्थी की स्मृति में :

मॉडल टाऊन का मेला—'दौरे बेकली'

□ के० जी० वर्मा

प्रायः बाहर से आने वालों को १९६१-६२ के आसपास दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर के लिए कदीमी कश्मीरी गेट से गुजरना होता था। जहां-तहां दीवारों पर १८५७ की विप्लवी मुठभेड़ों में प्रयुक्त गोले-बारूद के निशान चिनाई पर दर्ज थे। यदि सवारी टकर गई तो इंद्रप्रस्थ महिला कॉलेज, जिसे एक तरह से सरहद कह सकते हैं, लांघने पर आध-घंटे में गंतव्य तय हो जाता। ऐसा कहा-सुना गया कि नेहरू-युग की सरगर्मियों में चौधरी ब्रह्मप्रकाश के हाथों एक कॉलोनी का बाकायदा उद्घाटन हुआ। यहां पर पहले बरसाती बौछारों और जमुना की छोड़ी सिल्ट का दलदल था, इसे घूरे से पाटने में वर्षों लगे। समतल जमीन पर प्लाट काटने का क्रम जब आरंभ हुआ तो भी रिसपान्स उत्साहजनक नहीं रहा। आवास के लिए फालो-अप लंबे समय तक ठप्प रहे। तीन एन्ट्री-प्वाइंट तय हुए तब कहीं पुरानी दिल्ली से लगे व्यापारियों के अलावा पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों ने थोड़ी-बहुत दिलचस्पी ली। छितरे-छितरे मकानों का बेतरतीब सिलसिला। आरिजी तो कहीं अधूरा ब्रिक-वर्क-विकासीय एकरसता का अभिशाप। आधुनिकता का अहसास पुष्ट करने वाला तंत्र-शापिंग कॉम्प्लेक्स, क्लब, सिनेमा-हाऊस, रेस्त्रां आदि वक्त से लड़कर उपजा, चौराहे थे ले-दे के, जिन पर भांत-भांत का प्राणी कस्बाई ढर्रे पर हिलने-मिलने निकल पड़ता था इस आशा से कि थोड़ी देर को ही सही अपने कष्टों के लिए किसी और को दोषी कह सके। जी० टी० करनाल से संगम बनाती मुख्य सड़क के दोनों तरफ गुजरे वक्तों के बरगद-पीपल, जामुन-नीम की शाखाओं-प्रशाखाओं की झूम-आत्म विभोर तृप्त सनसनाहट में घना-घना साया। जाने कब-कब का झाड़-झंखाड़ समेटे टूटे-फूटे कुएं की हिफाजत करती हुई अनपहचानी शाहजहांनी फसील। इसी इलाके को लोग तब मॉडल-टाऊन कहा करते थे।

इन्हीं दिनों विभागों और कॉलेजों में बेशुमार नियुक्तियां हुईं। निकटता के कारण आगंतुकों का अधिसंख्यक प्राध्यापक था। अस्सी से सौ रुपये में टू-रूम-सेट तय करने में विशेष दिक्कत पेश आए ऐसे उदाहरण कम होंगे। और दिल्ली ने तब पसरना शुरू ही किया था। यद्यपि, पुरानों के मुताबिक शहर के विरसे का मूल्यवान अवांछनीय विभाजन की भेंट हो चुका था, फिर भी विगत को भूले, विकेंद्रित उपनगरों में मॉडल टाऊन की शुमार होने लगी थी।

एक दशक की अवधि में अकादमिक, अखबार नवीस, कवि, विद्रोही, राजनैतिक कार्यकर्ता, कथाकार सब थे यहां। जो भी आया पंचमेल का हो गया, धीमे-धीमे तरन्नुम ने देर सबेर प्रत्येक को बांध लिया। अड्डे विकसित हुए, पसंददीदा हों तो बेहतर, वरना अपरिचितों के बीच बैठ बहस में शिरकत दिनचर्या की बुनियादी जरूरतों में मान ली गई। हिंदी गद्य की विश्लेषण क्षमता में बढ़ोतरी पर भविष्य में मूल्यांकन करते हुए, इन दिनों को याद करना होगा। ऐसा कहते ही शिद्दत से नाचने लगती है बैठकी मुद्राओं से जुड़े अनेक प्रसंगों की तस्वीरें, जिनमें प्रमुख हैं सम्वेदनशील आलोचक **स्व० देवीशंकर अवस्थी**। उनके मिलनसार स्वभाव की कोशिश थी कि स्थानीय लेखक की सोच में नाटकीय मोड़ आया, उसने विभिन्न क्षेत्रों के रचनाकारों को भी अपने परिवेश की खोज के रास्ते प्रासंगिक पाया। जल्दी ही पश्चिमी आधुनिकता के सिद्धांत पक्ष पर बाकायदा विवादों-प्रतिपादों की झड़ी लग गई।

ग्राउंड-फ्लोर पर जिस सेट में अवस्थी जी रहते थे वह निमित्त बना उन अनेक स्थापनाओं का जो 'आधुनिकता की आंधी' के तहत बौद्धिक चिंतन का हिस्सा बनी और जिनके दबाव पर सर्वमान्य कहे जाने वाली शास्त्रीयता पर प्रश्न चिन्ह लगे। सैद्धांतिक हो या दार्शनिक किसी भी कीमत पर साहित्येतर को हावी होने से रोकने के लिए पूरी ताकत सर्फ की गई। भरपूर तैयारी के साथ नये व नवजात लेखक, समसामयिक लिटरेरीनोस्त को समझने के लिए आवश्यक शब्दावली के निर्माण में जुट गए। इस दिशा में अवस्थी जी के सक्रिय सहयोगी थे यंग अशोक वाजपेयी, तत्कालीन हिंदी बेल्ट के सांस्कृतिक परिदृश्य की सर्वाधिक मुखर उपस्थिति।

पीछे देखने पर कुछ बातें आज हमारे लिए साफ हो जाती हैं। यह मानने में अब विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि आजादी के बाद हमारे परिवेश के पश्चिमीकरण की, दूसरे लफ्जों में सामाजिक-सांस्कृतिक संघटन की यह पहली पारी थी। इसलिए पिछले तीस वर्षों की चिंतन-पद्धतियों के विभिन्न खंड हमें आज कम भयावह लगते हैं। पहले हल्ले के शॉक से तनाव बढ़े, बिखराव आया, संप्रेषण अधिकतर मानसिक उहापोह से उबरने का माध्यम बना। जिस तेजी से गुट बने, घोषणा-पत्र छपे, पूरी सजधज के साथ विशेषांक आए, पत्रिकाओं में होड़ लगी, वे सम्वेगात्मक आधिक्य की रिलीज के लिए वक्ती जरूरत थी।

मुख्य दिल्ली और मुफस्सिल में आए परिवर्तन से सामाजिक स्थितियों कार्य-व्यापारों में आमूल, आधारभूत आर्थिक विकास के लक्षण झलकते मिलते हैं, इससे बहुतों को इंकार होगा। स्वतंत्र-चेता राष्ट्र के मूल ढांचे की रूप-रेखाएं थोड़ी समय के भीतर ही चरमराने लगीं। अन्याय, असमता, शोषण, पाखंड आदि से लड़ने के बजाए संस्थानीकरण में शक्ति-संचय होने लगा, वैचारिक नव-जीवन परिकल्पनाओं तक सीमित रहा। व्यवस्था और व्यक्ति के अंतर्संबंधों पर टीका करते हुए अथवा रीडिंग-मेप के वैविध्य पर दृष्टि डालते हुए हमें यह भूलना होगा कि राजनीति और साहित्य दोनों में अभिव्यक्ति के लिए नये संकट पैदा हो गए।

१९६१ में कानपुर डी० ए० वी० कॉलेज से दिल्ली आने का सबब अवस्थी जी के लिए क्या था, एक पत्र में लिखा: 'पुरानी संस्थाओं की संकीर्णताओं से खीज थी। खुले, स्वतंत्र वातावरण में सांस लेने की चाह, जिसमें लिखने-पढ़ने-सोचने का अवसर मिले।' छोटे शहरों का तिरस्कार, उपरोक्त कारणों से करने वाली प्रवृत्ति सामान्य बात थी। महानगर का आकर्षण अपनी जगह है ही। देवीशंकर के लिए राजधानी का चुनाव मात्र कैरियरिज्म से बेहतर आजीविका संबद्ध स्टेटस से कुछ दूर जा पड़ता है। उनके दिल्ली निवास के पांच सक्रिय वर्ष प्रमाण हैं कि उन्होंने अपना मोर्चा सही बिंदु पर जा खोजा। ज्ञानार्जन के अलावा उस समय महानगर में विभिन्न पीढ़ियां-शैलियां-रुचियां-प्रविधियां बदलाव की प्रक्रिया में युद्धरत थीं। साहित्य, कला, रंगमंच, विधि, विज्ञान, व्यापार, योजना दर्शन, नीति, इतिहास में अभूतपूर्व सक्रियता से उपजे संघर्ष को मिलन-स्थली मिली। यहां स्थितियों का सच कठिन से कठिनतर हो चुका था।

इस दौर की लघु पत्रिकाओं में दर्ज है अवांगार्द की कहानी। अवांगार्द जिसने देखते ही देखते क्रांतिकारी आंदोलन का रूप ले लिया। 'मुक्ति प्रसंग' में कवि-कथाकार राजकमल चौधरी की यह उक्ति: 'वर्तमान के अग्नि जर्जर शव को अपने कंधों पर मैं शिव की तरह, धारण करता हूं। मैं इस शव के गर्भ में हूं और यह शव मेरे कंधों पर है। इसकी विकृति, वीभत्सता और दुर्गंधियों में मुझे जीवित रहना पड़ेगा।' पश्चिमी पूंजीवादी ढांचों के अंतर्विरोध अवांगार्द में रिफलेक्ट होते हैं, एक प्रकार से यही उपलब्ध तैयार माल था, सो इसका खूब आयात हुआ। फेडेड जीन्स, लंबे उलझे बाल, बीड़ी, गंदे दांत, मुक्त यौन संबंध की लपेट में रफता-रफता मध्यवर्गीय युवाओं का आकर्षण बढ़ा, सहसा साईट शिफ्ट कर गयी।

इस सर्वव्यापी आक्रोश को संकेतित करते हैं परिवार, अखबार और सरकार। राजधानी का प्रशासनिक, कुलीन, शिष्ट तंत्र तेजी से उन्नत देशों की मेट्रोपोलिस कल्चर की विशिष्टताओं को अपनाता जा रहा था। एक ऐसे दर्शक-श्रोता समूह का आविर्भाव हो चुका था जो सोवियत संघ से ईवतेवेन्को, अमरीकी बीटनिक गिन्सवर्ग इंगलैंड व यूरोप के स्टीफेन स्पेंडर और ऐन्टसेस्बर्गर को जहे नसीब कह सके। अलग-अलग जगहों पर गोष्ठियों की अटूट श्रृंखला—सार्त्र और नॉम चोमस्की तक रोजमर्रा की 'इन्वालमेंट'। विश्व की सबसे बड़ी लोकतांत्रिक व्यवस्था खुद को उद्घाटित कर रही थी—मॉर्डनिस्ट मुहावरे में। और बेहाली में यारों का यह हाल कि होश ही नहीं था कि वे क्या पी रहे हैं कि वे 'रीसिविंग ऐंड' पर हैं। न जाने कितने गुमराह हुए तो कई गुनाहगार बने।

समकालीन समाज में सांस्कृतिक संकट के स्त्रोत क्या हैं, प्रमुख जीवन दृष्टियों में लड़ाकूपन के कारण भारत जैसे विकासोन्मुख देशों के लिए ग्राह्यता का प्रश्न कितना जटिल है, यह एक विचारणीय मुद्दा था और अवस्थी जी के घर पर तेजी से बदलते परिदृश्य से उत्पन्न होने वाले कुहासों को समझने के प्रयत्न जारी थे। पर एक फर्क के साथ। यूं मॉडल टाऊन के अलावा महानगर में घरानों की नकल पर ठिकाने जमने लगे थे। सामरिक स्तर पर अभियान चले, कह सकते हैं कि अत्यंत योजनाबद्धता के साथ नयी अराजकता को, दिशाहीनता को राह पर लाने के संकल्प हुए, बहुधा उतावली में ज्यादतियां करने का खतरा पैदा हो जाता है, जो कि अनेक बार हुआ। हर खेमे से किए गए दावों में 'टोटालाईजिंग की प्रवृत्ति थी। रचना का मूल्यांकन वस्तुगत आधार पर, पूर्वाग्रहरहित होकर किया गया है, ऐसे उदाहरण कम होंगे। सांस्कृतिक वर्चस्व अख्तियार करने के कारण बाहर से आने वाले सर्जकों की साहचर्य, संसर्ग की बलवती कामनाएं मजलिसों की वस्तुस्थितियों से अवगत होते ही बुझ जाती थीं। पहुंचते ही प्राय: लेखक की स्थिति लखनऊ में 'पूरब के साकिनों' के बीच मीर तकी मीर से भिन्न नहीं पायी जाती थी। अक्सर दूरियां बढ़ीं। परस्पर वैमनस्य, अमैत्री और असंजीदगी न बढ़ने पाए इसके लिए अवस्थी जी जितने दिन रहे, सतत प्रयत्नशील रहे। उन्होंने बड़े सवालों के संदर्भ में व्यक्तिगत को कम आने दिया। फिर भी कुछेक क्लासिक प्रसंग हैं आधुनिकबोध से जुड़े हुए, जिन्हें भुलाना मुश्किल है।

आज भी बड़ी संख्या में ऐसे लेखक हैं, जिनके कानों में कनाट प्लेस के टी-हाऊस की चुहल, कहकहे और फब्तियों, चुटकियों की अनुगूंजें हैं, जो

अपनी मार में जिगर के पार न जा पायें ऐसा कम होता था। फिर भी लोग जाते थे, एक दूसरे से मिलते थे, कभी-कभी आहत होकर अगले दिन उसी टेबुल पर दुबारा उलझने के लिए। देवीशंकर भी जल्द ही यहां से जुड़ गए। सातवें दशक की फिक्र करने वालों को जब भी अवांगार्द आंदोलन को अपने समय के लिए स्पष्ट करने की जरूरत होगी 'टी-हाऊस' को ढूंढ़ना होगा। उन दिनों कुछ हलके-पुलके अंदाज में, 'टी-हाऊस' के उपरांत, 'ला-बोहीम', 'एंबेसी' और 'लिंक-हाऊस' पर मन-माफिक के लिए बीच-बीच में निकल पड़ना, सर्जनात्मक ऊर्जा प्राप्ति की पहली सीढ़ी है, अनौपचारिक स्तरपन मान लिया गया था की यहां पर क्रमानुसार पत्रिकाएं, प्रेमिकाएं, पार्टियां और परिचर्चाएं अहम मुद्दों का स्थान ले लेती थीं।

आधुनिकता के परंपरा-विरोधी तथा वस्तुवादी रवैयों के प्रति यदि मोटे तौर पर कहें तो उसे पश्चिम आयातित, मानकर, बाहरी ज्ञानात्मक दावों, प्रत्ययों को संदेह से देखना एक प्रमुख पहलू रहा है। देवीशंकर अवस्थी ने इसी बिंदु पर अपनी ओर से ऐलान किया, 'वर्तमान समाज में सबसे बड़ी समस्या यही होती जा रही है कि कैसे व्यक्ति को उसके समाज के साथ सामयिक रूप से पुर्नसंगठित किया जाए। समसामयिक साहित्य का बोध उसे भयावह न लगेगा' (२/३१) शीघ्र ही उनकी सोच में युग-प्रवर्तक मूल्य चेतना तथा समसामयिक भावबोध को संगति का प्रश्न साहित्य के परीक्षण तक सीमित न रह कर हिंदी विभागों के रूढ़िवादी संस्कारों को यत्किंचित झकझोरने की दिशा में अग्रसर दिखलाई देती है। उद्देश्य सिद्धि में वे अकेले, व्यक्ति रूप में न बढ़कर तरुण अध्यापक के अतिरिक्त 'विश्वविद्यालयों से पृथक लिखने-पढ़ने वाले लोगों को दरखवास्त करते हैं, जिनकी मदद से इस 'दुष्चक्र' को तोड़ा जा सके। जरूरत पड़ने पर 'इन शीर्षस्थ व्यक्तियों के लेखन की मूल धारणाओं, प्रतिपदियों तथा उपयोगिताओं को निर्भीकता-पूर्वक चुनौती दी जानी चाहिए।' (२/३२)

संस्थागत जकड़न टूटे साहित्य के पठन-पाठन में तब्दीलियां लायी जाएं, इसके लिए जरूरी है कि 'जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति पर हमले हों। प्रचलित और अपर्याप्त लगने वाले पुराने प्रभाववादी स्कूल की अनेक कोटियों से युक्त होना होगा, अवस्थीजी में यह निश्चय उत्तरोत्तर दृढ़ होता चला जाता है। उनके सामने तैयार शुदा औजार नहीं थे, इसलिए सर्वत्र उनमें संपर्क के लिए व्यग्रता मिलती है, जिससे संवाद संभव बन सके। बौद्धिक आदान-प्रदान का सिलसिला निखार पर आया, जब देश-विदेश के सरोकारों की जानकारी के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर खुली बहसें शुरू हुईं।

यह कठिन काम है और अकेले संभव न होगा, इसलिए मध्यवर्गीय मानसिकता की सीमाओं में प्रॉक्सिस को परिभाषित करने की सार्थकता के प्रति सचेत हैं लगभग शुरू से ही। तरह-तरह के प्रतिरोध, प्रतिवाद का बहुलांश आक्रामक रूमानियत है अथवा समृद्धि व आकांक्षा पूर्ति की दौड़ यह तय करने की जरूरत महसूस होने लगी थी। क्या जिधर सत्ता, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठान ईशारा करेंगे वही टारगेट होगी? पूरी युवा पीढ़ी का श्रम-शक्ति-चेतना का उपयोग किस प्रकार हो, यह दीगर प्रश्न था, इस-लिए गौण भी। कुलीनता, व्यक्तिवादिता आयातित धारणाओं के सहारे स्पेस बना पायी जहां से अवास्तविक मसौदों की कृत्रिम सोच थोड़े-बहुत असंगत विवेचन के बल पर समाज की जेनुअन जरूरतों को पार्श्व में ढकेल सकने में सफल हो गई। जनभाषा जन माध्यमों का आजादी के पहले दौर में जो ह्रस्र हुआ उसका निक्षेप यह था कि अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ा, अंग्रेजियत हावी होने लगी। प्रसंगवश याद आ रहा है अशोक का उलाहना कि एम० ए० करते समय सेंट स्टीफेन्स कॉलेज छात्रावास में वे 'चिट्ठियां' जिन पर 'पते' हिंदी में हों, रद्दी के कोने में डाल दी जाती हैं।

पश्चिमी सांस्कृतिक संकट ने प्रश्नाकुलता को कोरे सैद्धांतिक विरोधों की अकादमिक नोक-झोंक से मुक्त किया। फलतः व्यक्तिगत स्तर पर ही प्रतिरोधात्मकता का जन्म हुआ। अस्वीकार की भाषा में निषेध के दर्शन के प्रभाव में व्यक्ति-मनुष्य और सामाजिक-मनुष्य की पहचान ही गड्ड-मड्ड हो गई। अकेलापन, फालतूपन, निर्वासन, दिशाहीनता-सी पर्याय-वाचिता उस दौर का मूल्य निर्धारण करती है जिसकी जड़ें गहरी नहीं थीं, 'वह वैयक्तिकता के एकाधिपत्य और अद्वितीयता के सांप्रदाय का अति-रंजित संस्करण है'। (फिलहाल/४७)

मोह भंग की मानसिकता—आंतरिक व्यक्तिनिष्ठ यातना बोध, जो अलगाववादिता से उपजे और संत्रास, हताशा, अनिश्चय आदि अनास्था दर्शन की अनिवार्य पारिभाषिकी बने तब तेजी से पुराने/पिछले सौंदर्य-शास्त्र को पिछड़ा करार करने में जुटी हुई थी। दूसरी ओर बेकारी, बेरोज-गारी, बदहाली से गुजरने वाला युवा-वर्ग था जिसने आर्थिक-सामाजिक विषमता को पोषित करने वाले सामाजिक आधार को ही ललकारना शुरू कर दिया। स्वतः ही आक्रामक सामाजिक जागरूकता ने मोह भंग की प्रति-संस्कृति से अपने को अलग कर लिया। संपूर्णता में देखने पर वे चेहरे काफी साफ दिखलाई पड़ते हैं जिन्होंने बीच का रास्ता अपनाया। यह थी तीसरे आयाम (डाईमेंशन) की स्थितियों की पकड़ जो इन अतिवादिताओं को अलग करके विभिन्न रूपाकारों में विकल्प की संकल्प शक्ति को क्षीण करने में लगी हुई थी। संगोग ही रहा होगा कि अविलंब व्यवस्था में, मुंह-फट और असुविधाजनक समझे जाने वाले अनेक प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व हाथ बंटाने चले गये।

लेकिन विरोध कहीं कहीं समुचित राजनीतिक समझ और पर्याप्त साहस के साथ संगठित रूप में प्रकट हुआ। और इसका प्रभाव भी पड़ा। यहां अवस्थी जी के निधन के तीन-चार वर्ष बाद हिंदी-विभाग की कार्य-पद्धति, नीति-नियमों के खिलाफ छेड़ा गया अभियान उस सोच का सक्रिय पक्ष था जिसकी ओर ऊपर उन्हीं के संदर्भ में जिक्र किया जा चुका है। यदि 'अवांगार्द में नवोदित, विश्वविद्यालय से पृथक लिखने-पढ़ने वाले' लेखक-कवि थे तो इस अभियान की बागडोर जो शीघ्र ही एक आंदोलन के रूप में फैल गया, 'तरुण-अध्यापक' बनने के लिए कतार में खड़े व्यग्र नौकरी-विहीनों के हाथ में थी। हाशिये पर रहने के लिए अभिशप्त युवाओं ने प्रतिभा और क्षमता के बल पर उस मुख्य धारा को चैलेंज किया जहां इन गुणों का सतत तिरस्कार होता रहा। शीघ्र ही विभाग और विभागा-ध्यक्ष डॉ० नगेंद्र की नाकेबंदी शुरू हो गई जिसमें मुरली मनोहर प्रसाद

सिंह, रमेश गौड़, कांतिमोहन, कर्णसिंह चौहान तथा सुधीश पचौरी के अलावा शिक्षक संघ के अनेक वरिष्ठ प्राध्यापकों ने भागीदारी देकर संबंधित मसलों को पुनर्विचार द्वारा बाकायदा 'मंच' की शक्ल दे दी। इसमें कोई शक नहीं है कि युवाओं की स्थितियों में वस्तुगत प्राथमिकताओं तथा सम्वेदनात्मक व्यग्रताओं को बृहत्तर संदर्भों से जोड़ने में इस प्रसंग का बहुत बड़ा हाथ रहा है। कई कोनों से कुछ हद तक कुहासा छटा, व्यक्तिगत असंतोष जो अब तक कानाफूसी और कुत्सित दुर्भावनाओं का दलदल बना हुआ था व्यापक आधार पर आ गया—मुसाहिबी और व्यक्तिगत जारवाद से खरे प्रतिरोध का यह प्रथम परिचय था, इसके बाकी इतिहास में जाना यहां प्रासंगिक न होगा।

देवीशंकर जी का जीवन-वृत्त (१९३०-६६) हमें यह बताता है कि पांच वर्ष की अल्पावधि में ही सिमटे हुए हैं उनकी बौद्धिक सक्रियताओं से जुड़े साहित्यालोचन के अहम् प्रश्न। उनकी परिधि में हैं, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में मध्यकाल ब्रज काव्य पर शोधपरक प्रबंध से लेकर मुक्तिबोध की काव्यानुभूति की बीहड़ संरचनाएं। अध्यवसाय और आलोचनात्मक आग्रहशीलता तक सीमित न रहकर अपने समय से प्रसूत मूलगामी प्रवृत्तियों, वैचारिक विवादों, सांस्कृतिक अभिरुचियों से उद्वेलित होते हुए, उनमें बीच बहस में अपने लिए अर्थात् लिखे जा रहे के प्रति, नयी तार्किकता की तलाश थी। उस भाषा को समझने के लिए जिसे एक पूरी पीढ़ी ने प्रयोग द्वारा (जिसमें आधुनिकता बोध के प्रचुर दावे थे) चेतना और सामाजिकता के अनजाने विरोधाभासों, अपरिचित पगडंडियों तलहटियों में जा-जाकर खोजा था।

दिल्ली दाखिल होने पर अवस्थी जी के साथ पत्नी व तीन छोटे-छोटे बच्चों के अलावा विधवा मां तथा छोटा भाई व स्कूल जाने वाली बहिन भी थी। यानि उनकी पारिवारिक जिम्मेदारियां एक पारंपरिक सद्गृहस्थ व आम मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि का मिला जुला रूप था। जबकि दिल्ली में देश की राजधानी के नाते किस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय स्तर की महानगरीयता को कितनी जल्दी और किन-किन स्तरों पर ओढ़ा जाय, इसका यथासंभव समाधान खोजा जा रहा था। सिस्टम को साधने के लिए फौरन से पेश्तर स्टेटस हथियाने के लिए अपूर्व आपाधापी मची हुई थी। आधुनिकता का तथाकथित कला संस्कृति वाला विभाग अपनी चौंध में कितना अमानवीय, मूल्यहीन एवं निस्सार है, यह खुला आगे जाकर नयी संवेदना के चरमोत्कर्ष के दिनों में। इन दबावों और ठोस पारिवारिक जिम्मेदारियों के साथ चलते हुए सक्रिय बने रहना दुर्लभ जीवट का काम था। पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी कुछ कविताएं (अवस्थी जी ने एक समय में ए० डी० शंकरन के छद्मनाम से प्रयोगवादी रुझानवाली नई कविताएं लिखी थीं) तथा डायरी में डाली गई प्रविष्टियों (देखें हंस, अप्रैल, १९९०) से स्पष्टतः इंगित होता है कि राजधानी आने से पहले ही उनके भीतर क्या चल रहा था यह भी कि उनके लगाव भविष्य में क्या होने जा रहे थे—'और लो, अचानक ही एक दिन सारी खूंटियां ढक गयीं', 'हतप्रभ रहने का मैं केवल अभयस्त बना'। यह महज निजी सम्वेदनाओं की रिकार्डिंग मात्र न होकर उनके द्वारा कुछ वर्ष उपरांत आधुनिकता बोध के लिए अर्जित किये गए विवेचनात्मक विवेक की पूर्व पीठिका है। इन अंशों से यह संकेत भी साफ-साफ झलकते हैं कि उनमें हताशा, विषाद या मानसिक विभाजन भले ही हो परंतु दिशा उनके लिए सतत संघर्ष की ही रहेगी, यह खोज एकांत या अकेलेपन के वैभव की ओर शायद रूख न करे बल्कि परिवार से जुड़े अवस्थी जी चाहे अर्थवत्ता की तड़प लिए हों या रचनात्मक संगठन की परीक्षण प्रणाली में उलझे हों, उनका झुकाव स्थितियों, विधानों, यूनिटों को एक खास आंतरिकता के तर्क में देखने का रहेगा अर्थात् परिवार तथा साहित्य दोनों में स्वधर्म के साथ-साथ व्यापक प्रश्नों से अंतर्संबंध के आधार बिंदुओं की अविकल पड़ताल।

आइंदा साहित्यिक उथल-पुथल को किस तरह से देखेंगे या कला पारखी की भूमिका में समकालीन रचनात्मक अनुभव को किस प्रकार किन शर्तों पर पाठक वर्ग से रिश्ता जोड़ने में सहायक होंगे यह आलोचना की पहली किताब—'आलोचना और आलोचना' (१९६०) से ही साफ होने लगता है। अनुक्रमित सामग्री यथा सामान्य पाठक, नयी कविता का नयापन, प्रयोगवाद, विदेशी उपन्यास आदि लोकप्रिय अकादमिक विषय प्रतिपादनवादी प्रणालियों से कोसों दूर हैं। अनावश्यक रूप से फतवे नत्थी न किये जायें, यह अहसास भी है उनके इन लेखों में। केंद्र में रचना होगी, पूरे तनाव के साथ क्योंकि छठे-दशक की रंगारंग उपलब्धियां सामने थीं जहां से रचनात्मकता का हित कहा है, इस पर पुर्नविचार हो सके। यही मांग थी जो अवस्थी जी से कहलवाती है कि 'आज का द्वंद्व संभवतः नैतिक एवं सौंदर्यपरक न होकर साहित्यिक और गैर-साहित्यिक का है, जिसकी पहचान रचनाओं में भिन्नता के द्वारा पूरी होती है, किसी सामान्यीकृत कथन को समीक्षात्मक आधार नहीं बनाया जा सकता है।' रचना-तादात्म्य ही उन्हें परिमल या प्रगतिशील खेमे में किसी एक की शरणागत होने से रोकता है, रूप और वस्तु में से एक को दूसरे की कीमत पर तूल देना कृति के साथ अन्याय होगा, यह धारणा उत्तरोत्तर दृढ़ होती चलती है।

अप्रत्याशित वेग के अवस्थी जी युवा जिज्ञासाओं-अभिरुचियों को वयस्क अंतर्दृष्टि में रूपांतरित करते हैं। उनके द्वारा संकलित-संपादित दो समीक्षा पुस्तक—'विवेक के रंग' तथा 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' की लंबी भूमिकाओं में रचना और आलोचना में व्याप्त अंतराल को पाटने के पीछे एक विरल बेचैनी और तत्परता है जो दुर्भाग्य से सचेतन हलकों से भी अब लुप्त प्रायः हो गई है। विशिष्ठ कृतियों पर उल्लेखनीय प्रतिक्रियाओं को संगठित करके सप्रमाण नये भाव-बोध के लिए नयी सौंदर्यपरकता को विकसित करने का आग्रह है। साथ ही साथ उस बहुलतावाद से भी परिचय होता है जिसे अवस्थी जी मूल्यवत्ता की पहचान के लिए आवश्यक मानते हैं। दोनों संकलनों में सुरक्षित हैं तत्कालीन सनकों, पेचीदगियों, जटिलताओं के हवाले तथा जायज-नाजायज का भेद। संभवतः समूचे हिंदी-प्रदेश में आधुनिकता की पहचान के लिए उठाया गया यह प्रथम प्रयास था और इसीलिए इसका विशेष ऐतिहासिक महत्व है। नवलेखन की वकालत करते समय साहित्यिक को गैर/असाहित्यिक से विलग करने के लिए अपने तईं वे उस जिम्मेदारी को निभाना चाहते थे जहां से 'साहित्य की प्रकृति के बदलाव के साथ-साथ आलोचना की प्रकृति का बदलाव भाषा के स्तर पर तत्काल देखा जा सकता है। 'भले ही उन दिनों

के संस्कार और सम्वेदना को खोलते समय प्रयुक्त किये जाने वाले समीक्षा-पद आज अपनी सीख खो चुके हों लेकिन 'प्रामाणिकता, सजग चेतना, घटित होने का सक्रिय बोध, बौद्धिक सामान्यीकरण, कृत्रिम बोध, मनो-विज्ञान, भावकोण, विरल और गझिन, माध्यम की तकनीयता आदि से गुंथे भाववादी संकेत-शब्द 'ऊब, अजनबीपन, घुटन, क्षोभ, निराशा, संशय, क्षण की पहचान' तत्कालीन आलोचनात्मक विवेक का अभिन्न अंग बने तो इन्हीं दबावों के संदर्भ में। अवस्थी जी समकालीनों को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि "इन समीक्षाओं में वे तमाम विचार-सूत्र आलोचना पद्धतियां एवं प्रविधियां निहित हैं जो नये काव्य शास्त्र का निर्माण ही नहीं करतीं, समीक्षा के लिए नये औजार भी देती हैं।"

कहानी बचकानी विधा है, अधिक से अधिक लोकप्रिय मनोरंजन का माध्यम, विज्ञ जनों की इस मान्यता को तोड़ने के उद्देश्य से ही अवस्थीजी ने 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' में उन टिप्पणियों को इकट्ठा किया जो आधार हैं, उस नयी शुरूआत का जो कहानी को गंभीरता से लेने के अतिरिक्त कृतसंकल्प हैं उन परिसीमाओं को निश्चित करने के लिए जिससे विधा की सार्थकता तय करने में आसानी हो। कहानी की केंद्रीयता अथवा महत्ता असंदिग्ध है क्योंकि वे समझते हैं कि 'समाज से कटकर लड़ी जाने वाली गुरिल्ला लड़ाई के रूप में ही नहीं, बल्कि पूरे सामाजिक वस्तु-सत्य के भीतर मनुष्य के द्वंद्व, तनाव, आशा, आकांक्षा को भी समेटने वाली। कहानी को पश्चिमी-यूरोपीय संदर्भों की नकल पर हाशिये की तरफ ढकेली मानवीय नियति के सम्मुख, 'रीतात्मक चीख' या अत्यंत वैयक्तिक अकेली प्रतिक्रिया 'न मानते हुए वे उसमें एक स्वतंत्र, सृजनात्मक इकाई की पूरी संभावनाएं देखते हैं, जो युग सम्वेदना का वहन करने में सक्षम है। लिहाजा कहानी से उपन्यास की-सी चीजों की मांग का वे विरोध करते हैं। यहां तक कि कथात्मक बोध की विधागत स्वायत्तता को रेखांकित करने के उपक्रम में वे अमेरीकी कथा-समीक्षक संपादक फिलिप राह्व की सोच से सहायता लेते हुए कथानुभवों को भरसक काव्य-समीक्षा पद्धति से जहां प्रतीक, मिथ, रूपक, अन्योक्ति आदि की खोज विश्लेषण बिंदु बन जाते हैं, अलग करते हुए 'अनुभव की ऊबड़-खाबड़ या अपरिष्कृत जमीन' पर चलने को आमंत्रित करते हैं। किसी और दिशा में जाना यथा भाषिक विधि पर अत्यधिक ध्यान कथा के व्यग्र फैलाव की अवमानना होगी। इसका सटीक प्रमाण अवस्थीजी महेंद्र भल्ला को 'एक पति के नोटस' में शिल्प और संदर्भ के बीच बदले तेवर को आम-फहम लिखावट से अलग करते समय स्वयं प्रस्तुत करते हैं। चर्चा के दौरान उनका ध्यान उस संसार पर जाता है जो अब बदल चुका है, अर्थात् बाह्य यथार्थ से चुनी गई छवियां जो दृश्यों, व्यापारों, वस्तुओं और व्यक्तियों से बनायी गयी हैं। राह्व को उद्धृत करते हुए इसे कुछ और साफ करते हैं—"कलाकार की मुख्य समस्या शैली की न होकर 'दृष्टिबिंदु', 'कथात्मक परिदृश्य आदि से संबंधित बातों से ही रही है—यानी कि अपनी विषयवस्तु को परिभाषित करना, अपने कथानक के भीतर से रास्ता बनाना ही कथाकार की मुख्य समस्या है।"

कथाकार की समस्या आगे चलकर आलोचक की समस्या बनी। धीरे-धीरे कथानक का 'संसार' सामाजिकता के प्रश्न से जुड़ गया। परंतु अवस्थीजी में यह सिलसिला आगे न बढ़ सका। वे स्वयं एफ० आर० लीविस के 'स्क्रूटनी ग्रुप' व 'नयी समीक्षा' से एक मत दिखने लगे, जहां तक रचना की डिफेंस की जरूरत महसूस हुई। दुर्भाग्य से उनके जीवन काल में पुरानों के खिलाफ क्रियात्मक संघर्ष के एजेंडे पर नये सिरे से सामाजिकता का ऐतिहासिक प्रक्रिया में और विचारधारा का सौंदर्य बोध में स्थान निश्चित न हो पाया। हो भी नहीं सकता था। 'किसिम-किसिम' उद्भावनाओं को प्रश्रय मिला। उन्मुक्त जीवन दर्शन का समर्थन हुआ। 'चिलमी-विद्रोह' के तहत काफी हद तक युवाओं का ध्यान देश की वास्तविकताओं से हटा। स्वच्छंदता की सामयिक जीत से त्रासद स्थितियों को ही बढ़ावा मिला।

यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि बाद के परिवेश से अवस्थी जी कैसी संपृक्ति महसूस करते। इतना तो तय है कि साहित्यिक-नैतिक अथवा विचाराधात्मक-कलात्मक का निथरा विभाजन भारतीय समाज व जन-मानस के यथार्थ के बहुआयामी, बहुविध, बहुप्रख्यायित आख्यान में पैठने के लिए अपर्याप्त है, यह उन पर जरूर खुलता। साहित्य से लगते आनुषंगिकों शिक्षा प्रविधियां' पाठ्यक्रम, शोध, अध्ययन विधियां तथा संलग्न प्रचारतंत्र व्यवसायिकता, पत्रकारिता, साक्षरता आदि पर दी गई टिप्पणियां बताती हैं कि वे कितनी प्रासंगिक, पैनी दृष्टि रखते थे। अपने आसपास के साथ गहरा व ईमानदार लगाव महसूस करने की आदत ही उन्हें पिछड़े समाजों के दुख-दर्द में हिस्सेदारी के लिए उद्वेलित करती। उनका साथ रहता तो कथा-शिल्पी एकांतिक वर्जनाओं की मनगढ़ंतकलात्मक 'जोर-कशी' से कुछ आगे चलकर वहां पहुंचते जहां से जिंदगी के लिए फिर से 'रस्मे वफा' की तलाश की जाती।

पर हुआ सब इसके उलट। अवस्थी जी बेवक्त ही नहीं बेवजह चले गये। १३ जनवरी की सुबह ९-१५ पर उनका सड़क दुर्घटना के कारण दो रोज पहले हुए ब्रेन-हेमरेज से आकस्मिक निधन हो गया। और वह संसार जो उनका अभिन्न था, छिन्न-भिन्न हो गया। इसके बाद की 'कहानी' सुनने समझने में अत्यंत कष्टकर, तरतीबहीन और बहुत हद तक निजी हो गई।

दिमाग में है एक मुरक्का जिसमें जस का तस है आज भी हर एक पोर्ट्रेट चेहरे-मोहरे पर नाक-नक्शा की तेजी तुर्शी में जीवंत। नित्यक्रम अटपटा जाता है, आंखों में कहीं आ जाए लैंडस्केप जादू-सा करता हुआ—

परिसर में उन दिनों के वैंगर्स चायघर से उठकर सैंट स्टीफेंस हॉस्टल में अशोक के कमरे की ओर बढ़ते हुए शाम को निर्वाक, असंग चैपल को घेरे दरख्तों पर चिड़ियों का अपनी-अपनी जगह के लिए तकरार।

माल रोड पर जुबिली हॉल के लॉन पर अद्भुत उत्तेजना एवं अनिर्णय की दशाओं में नामवरसिंह को घेरे युवा लेखकों का जमघट—'तुझको सुनूं कि तुझसे बात करूं'।

सड़क के उस पार डॉ० निर्मला जैन का ड्राइंग-रूम नाना व्यंजनों पर 'आधुनिकता' का लेटेस्ट।

और नहीं तो बनारसीदास एस्टेट में इंद्रनाथ चौधुरी के कोजीकार्नर की बेतकलुफी।

सी-ब्लॉक में अजित दा के यहां की अनूठी बैठकें 'सारे जहां को जहां से मिलता' था—सुकूनो-सुखन, सब कुछ-संस्कार और स्वागत में पगा-स्नेह मयी जी का 'पर्सनल टच' लिए हुए।

इन्हीं दिनों की बात है बीमारी की गंभीर हालत में दिल्ली लाए जाने पहले आखिर तक संघर्षरत मुक्तिबोध का अविस्मरणीय खाका अशोक ने भेजा : "मैं अभी दो दिन भोपाल रहकर लौटा हूं जहां मैं मुक्तिबोध को देखने गया था। एक जीर्ण और क्रियाहीन शरीर है बिस्तर पर पड़ा हुआ एक पिचका हुआ हड्डी-हड्डी चेहरा है, दो शून्य को ताकती-सी आंखें हैं, जिनसे रह-रह कर एक आंसू छलक आता है, ऊपर निरंतर चक्कर मारता पंखा है, एक पत्नी है जो बार-बार आकर पानी या दवाई पिलाती है या सिगरेट मुंह से लगाती है और बहुत प्यार और चिंता से मराठी में पूछती है कि कल से अच्छा लग रहा है थोड़ा बहुत। आसपास खेलते कई बच्चे हैं। मेरे कुछ कहने पर होंठ दो-तीन बार नीरव हिलते हैं और फिर कहते हैं—ईश्वर की कृपा है।"

यह सच है कि ध्यान बंट जाता है जब तमाम व्यवस्तताओं को ठेलते हुए अचानक दिवंगत श्रीकांत वर्मा घने काले बालों को ब्रिलक्रीम में बांधे हाथ में कैप्सटन का पैकिट लिए याद आ जायें—यूनिवर्सिटी टैक्सी स्टैंड से मित्रों के साथ मॉडल टाऊन की ओर जून की भरी दोपहर में—सड़क की गतिशीलता से ऊबे हुए, तनावग्रस्त 'अनवरत प्रश्नकर्ता'—

राह नहीं कटती अब
किसी के भी संग
फीका पड़ने लगा
टेसू का रंग (दिनारंभ)

वहां का जुगराफिया, जिस मकान में स्व० मलयज के साथ गर्मी-सर्दी-बरसात फिदोर दस्त्यावस्की के मर्जेमिर्गी और यूरोपीय उपन्यास के रहस्य खोले जाते थे, वैसा नहीं है।

अगर कभी इन दिनों जाना हो जाये, संयोगवश तो हजार वातूनियों में एक भी सामने नहीं पड़ता। अलबत्ता ऐसा कई बार हुआ कि मैंने बाई-लेन खत्म होते ही उस निशानी के रू-ब-रू अपने को पाया, जहां डॉ० रामदरश मिश्र रहते थे और इसीलिए 'वहां छांव घनी होती थी।' वहीं, फिर मन चाहता है कि बैठा जाए—चाय-पकौड़ी पर पूरब अंग के साहित्यकारों, रचनामर्मियों की अंतरंग विचित्रताओं पर तजकिरा हो।

रास्ते में पड़ता है पहले एंट्री-पाइंट के मुहाने पर अभ्यर्थियों से आक्रांत एक विशालकाय अकलात्मक, असंगत भवन जो वर्षों पहले सघन एकांत से आच्छादित एक छोटी-सी नीरव खोह थी, जिसके प्रवेश द्वार पर यदा-कदा कोई दिया जलता दिखलाई देता था। तर्क अनेक हो सकते हैं, पर जुटाने की इच्छा नहीं होती कि खोह की पृष्ठ भूमि में एक भीमकाय थाना क्यों इतना विकास कर गया और यह भी की ठीक सामने सिनेमा हाऊस के पोर्च तले क्षेत्र भर का असामाजिक तत्व कहां का है। सड़कों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कौतुक-क्रीड़ा में मग्न लुम्पेन, तफरीह को निकले कामकाजी नागरिकों को डराता, धमकाता हुआ, दो किलोमीटर के फासले पर आजाद-पुर सब्जी मंडी, बेखबर करोड़ों के हेर-फेर में। फसील का कहीं नामों निशान नहीं है।

लौटते हुए हाई-वे अंदाज में दोनों ओर सोडियम की आधुनातन पोल लाइटों से छनते प्रकाश में शिनाख्त नहीं हो पाती—सबकुछ हरकत में हांफता मायावी, मादक है या उन्मादी। वाहन इंतजार में लगता है कुछ ठीक नहीं हैं, कहीं भीतर बेचैनी जरा आगे बढ़कर कहती है, निकला जाये यहां से जल्दी।

संदर्भ-ग्रंथ

१. आलोचना और आलोचना, (प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, १९६१)
२. रचना और आलोचना, (मैकमिलन, १९७९)
३. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, (सं० अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, १९६६)
४. विवेक के रंग, (भारतीय ज्ञानपीठ, १९६५)
५. साहित्य विधाओं की प्रकृति, (मैकमिलन १९८१)
६. फिलिप राह्व द कीनीयन रिव्यू, खंड १८, नं० २, स्प्रिग, १९५६
७. अशोक वाजपेयी, फिलहाल
८. श्रीकांत वर्मा, दिनारंभ

(पृष्ठ १२ का शेषांश)

शित करता हुआ' में एक जटिल फंतासी है लेकिन वह मुक्तिबोध, साही और कुंवर नारायण के अलग-अलग फंतासीलोकों से भी अलग है। मलयज जब अपनी कविता का फंतासीकरण करते हैं तो उसमें स्वयं मामूलीराम बने रहने का ही वरण करते हैं। दरअसल मलयज अपने को स्वनिर्मित ड्रामा नहीं, स्वनिर्मित एकव्यक्तीय आत्मप्रहसन के नायक के रूप में ज्यादा देखते हैं जिस तरह आंका-बांका ने जंगल में मिले सोने पर धूल डाली थी, उसी तरह मलयज का अपने होने को अप्रकाशित करना कोई उक्तिलाघव नहीं बल्कि जीने और लिखने की पहली शर्त थी।

आज की कविता में लगभग सभी के पास कहने को बड़ी-बड़ी चीजें हैं लेकिन अपनी निगाह, तरीका और शब्द ही अब कवियों को अलग करते हैं। यदि अपनी भाषा, शैली, जीवन-दृष्टि और तेवर रखना एक सार्थक कवि की पहचान है तो बेशक मलयज की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। यह सही है कि मलयज के जीवन काल में और उनके न रहने के बाद भी उनके कुछेक वफादारों को छोड़कर मलयज के बारे में लिखा तो क्या, जुबानी भी कम कहा गया है। मलयज की उपेक्षा प्रतिबद्ध कविता और आलोचना के उन मतिमंद और दृष्टिहीन पैरोकारों द्वारा हुई है जिन्होंने मलयज को बिना पढ़े रूपवादी मान लिया। मलयज के प्रशंसकों के लिए तो उनकी प्रतिभा जहां थी वहीं प्रकाशित थी लेकिन शायद अब समय आ गया है कि मलयज का हक आलोचना में ही नहीं बल्कि कविता और सृजनात्मक गद्य में भी स्वीकार किया जाए क्योंकि कई अर्थों में वे हिंदी के अपनी तरह के एकमात्र कवि हैं—अपने अकेलेपन में हमारी समझ पर हंसते हुए।

[लिखकीय टिप्पणी : इस जल्दी में लिखे गए पर्चे को कृपया एक कच्चा मसविदा ही माना जाए।]

सबद निरंतर और टी० एस० एलियट

□ मोहन कृष्ण बोहरा

'सबद निरंतर' डॉ० रमेशचंद्र शाह की कुछ समय पूर्व प्रकाशित एक विचारोत्तेजक पुस्तक है। इसमें उन्होंने लेखक से एक रचनाकर्मी के रूप में बुद्धिजीवी की भूमिका निभाने का आग्रह किया है। डॉ० शाह का आदर्श आर्नाल्ड है जिसने पश्चिम में यह भूमिका निभाई थी—

> **यह अकारण नहीं है कि पिछले बरसों में पश्चिम की आलोचक-बुद्धि एलियट और लीविस से असंतुष्ट होकर मैथ्यू आर्नाल्ड की तरफ मुड़ी—न केवल मैथ्यू आर्नाल्ड की साहित्यिक आलोचना के प्रति बल्कि उसके संस्कृति चिंतन के प्रति भी।** (पृष्ठ १००)

आधुनिक हिंदी अलोचना की नई पीढ़ी के प्रतिनिधि के रूप में डॉ० शाह भी इसी पथ पर अग्रसर हैं। साहित्यालोचकों ने एलियट को आर्नाल्ड के शत्रु के रूप में देखा है। यह अकारण नहीं है। अपने साहित्यिक जीवन का प्रारंभ एलियट ने आर्नाल्ड की कटु अलोचना से ही किया था। 'सैक्रेड वुड' की भूमिका में आर्नाल्ड के प्रति कुछ नरम होने की बात करते हुए भी उसने उस पर तीखी टिप्पणी की। उसने साहित्य जगत् को लगभग चौंका दिया था—

> …Arnold might have become a critic [P- xiii]

आर्नाल्ड आलोचक हो गया होता! याने आर्नाल्ड आलोचक हो नहीं पाया था! ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही है कि आर्नाल्ड के प्रति श्रद्धानत होने वाली पीढ़ी एलियट के विरुद्ध खड्गहस्त हो। पश्चिमी आलोचक ही नहीं, डॉ० शाह भी एलियट से असंतुष्ट हैं। उन्होंने भी एलियट की अलोचना की है और यहां तक की है कि उसके कथनों को तोड़ मरोड़कर उसका अनर्थ करने से भी वे नहीं चूके हैं। एलियट का यह अवमूल्यन और विरूपण-डिस्टार्शन-शाह द्वारा आर्नाल्ड की ओर से, एलियट से लिया गया प्रतिशोध कहा जा सकता है। डॉ० शाह ने लिखा है कि—

> **ईसाई परंपरा का कवि टी० एस० एलियट विज्ञान की चुनौती का सामना स्वयं धर्मशास्त्र और दर्शन को ज्यादा बड़ी बौद्धिकता का क्षेत्र मानकर कवि-कर्म और चिंतन दोनों धरातलों पर कर सकता था और वैज्ञानिक मेधा को काव्य मेधा की तुलना में निकृष्ट ठहरा सकता था। कवि कर्म को अत्यंत गंभीरतापूर्वक निबाहते हुए भी वह मनुष्य के धार्मिक सम्वेदन को उसके काव्य-सम्वेदन की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था—इतना महत्त्वपूर्ण कि एक जगह वह कविता को 'मनोरंजन की श्रेष्ठतर विद्या भर' कह देता है।** (पृष्ठ १३१)

यह सचमुच चौंकाने वाला वक्तव्य है। इसमें एक-दो नहीं, चार-चार मिथ्या कथन हैं! इनकी पुष्टि उनके अन्यत्र दिये गये वक्तव्यों से भी होती हैं। निरंकुश वक्तव्य की डॉ० शाह की वृत्ति, जिससे उनका लेखन प्राय: आक्रांत रहा है, का यह घोर चित्य उदाहरण है।

यह तथ्य है कि ये शब्द—कविता एक श्रेष्ठ मनोविनोद है—एलियट के हैं, लेकिन यह सचमुच विचारणीय है कि क्या उसने ऐसा कहते हुए कविता का दर्जा मनोरंजन के हल्के स्तर तक गिरा दिया था? पुन: यह एक तथ्य है कि धार्मिक-सम्वेदन एलियट के लिये महत्त्वपूर्ण हो गया था, लेकिन क्या उसने उसके आगे काव्य-सम्वेदन का तिरस्कार किया था? उपर्युक्त कथन में यह निहित है कि उसने धार्मिक सम्वेदन को महत्व देने के लिये कविता

को मनोरंजन के तल तक गिरा दिया था। लेकिन क्या उसने सचमुच ऐसा किया है ? और, क्या उसने धर्मशास्त्र और दर्शन को बौद्धिकता का क्षेत्र नहीं माना था ? और क्या वास्तव में उसने वैज्ञानिक-मेधा को काव्य-मेधा की तुलना में श्रेष्ठ माना था ? मैं इन सभी प्रश्नों की पड़ताल का प्रस्ताव करता हूं। मैं अपनी बात अंतिम प्रश्न से प्रारंभ करना चाहता हूं—

एलियट का विचार था कि एक वैज्ञानिक का विकास केवल उसकी बुद्धि का विकास होता है जबकि एक साहित्यिक का विकास उसका पूर्ण बौद्धिक और भावात्मक विकास होता है। अपने एक निबंध 'क्लासिक्स एंड द मैन ऑव लैटर्स' में उसने साहित्यिकों और विज्ञान व अन्य कलाओं के अभ्यासियों के पाठ्यक्रम में अंतर का जो विश्लेषण किया है उससे इसकी भलीभांति पुष्टि होती है—

> **आज विज्ञानों का शाखा विस्तार इतना व्यापक और हर शाखा में आत्मसात किये जाने योग्य ज्ञान का विस्तार अनंत हो गया है, फिर भी वैज्ञानिक वृत्ति के व्यक्ति के प्रशिक्षण (पाठ्य) क्रम का तीक्ष्ण निर्धारण सहज संभव है। साहित्य को छोड़कर किसी भी अन्य कला के शिक्षण पर भी यह बात लागू होती है। एक चित्रकार, मूर्तिकार, वास्तुविद्, संगीतज्ञ सभी को एक लेखक की अपेक्षा कहीं अधिक सुनिश्चित तकनीक को आयत करना होता है जो कि किसी अप्रासंगिक को अपने कला-व्यापार से सम्पृक्त करने या किसी जीवंत के उच्छेदन में कठिनाई उन्हें अधिक होती है। उनका मूलभूत प्रशिक्षण अपेक्षया अधिक तकनीकी होता है;—जिन विषयों का ज्ञानार्जन उनके लिये अपरिहार्य है, वे अधिक निर्दिष्ट होते हैं; और उन्हें उस वैविध्यपूर्ण सामान्य संस्कृति की आवश्यकता नहीं होती जिसके बिना एक साहित्यिक अल्प या असज्जित होता है।**
>
> (टी० एस० एलियट : सिलेक्टेड प्रोज, पृष्ठ २३१-३२)

इस उद्धरण का अंतिम अंश जिसे रेखांकित किया है, शिक्षण के उस पक्ष पर बल देता हैं जिसके अर्जन का कोई ओर-छोर नहीं है। यही वह पक्ष है जिसकी वजह से रचनाकार की शिक्षा एक वैज्ञानिक की शिक्षा की तुलना में ज्यादा व्यापक ही नहीं, ज्यादा परिश्रमसाध्य भी होती है और एक अर्थ में सतत और जीवन पर्यंत चलती रहने वाली भी होती है। एलियट ने यह कहकर दोनों के अंतर को और भी स्पष्ट और, और भी पुष्ट किया है कि—

> **दूसरा अंतर जो उपर्युक्त से असंबद्ध नहीं है, वह यह कि साहित्यिक प्रतिभा, किसी सुनिश्चितता से या उत्कट लक्ष्य-निर्दिष्ट होकर, इतनी शीघ्र चरितार्थ नहीं होती है जितनी अन्य कला के प्रति वृत्ति होती है···सच्ची साहित्यिक प्रतिभा शनैः-शनैः विकसित होती है; उसके लिये अन्य कलाओं के अभ्यास की अपेक्षाओं से कहीं अधिक व्यापक और बहुमुखी पोषण, अधिक वैविध्यपूर्ण तथ्य-ज्ञान और व्यक्तियों और विचारों का महत्तर अनुभव अपेक्षित है।** (२३२-३३)

हमारे शास्त्रकारों ने साहित्य की गणना कलाओं में नहीं की है, क्या यह उसकी तर्क संगत व्याख्या नहीं है ? बहरहाल, इतने स्पष्ट, बल्कि प्रखर विश्लेषण के रहते डॉ० शाह की बात कैसे मान ली जाय कि एलियट ने वैज्ञानिक-मेधा को काव्य-मेधा की तुलना में अधिक महत्व दिया था ! कम-से-कम मेरे पढ़ने में ऐसी बात नहीं आई है। शाह अपनी जानकारी स्रोत सहित बतायें। अवश्य ही, एलियट ने वैज्ञानिक मेधा को निकृष्ट नहीं ठहराया है, जैसा कि डॉ० शाह ने चाहा है, लेकिन क्या उसे निकृष्ट ठहराना विवेकपूर्ण भी होता है ? और, क्या वह वास्तव में निकृष्ट होती भी है ? और, यदि हां, तो फिर विद्वानों के पारस्परिक विचार विनिमय में वैज्ञानिकों को सम्मिलित किये जाने के डॉ० शाह के आग्रह का औचित्य क्या है ?

अन्यत्र, एक और स्थल पर डॉ० शाह ने एलियट पर साहित्य को विज्ञान का मुखापेक्षी बना दिये जाने का आक्षेप लगाया है। यहां उस पर विचार करना भी प्रासंगिक होगा—

> **जब बीसवीं सदी के कवि एलियट ने अपने उस प्रतिद्वंद्वी दावेदार के सृजन कर्म और विजन से अपने सृजन कर्म और विजन को अलगाना चाहा—यह कहते हुए कि 'वैज्ञानिकों की कल्पना शक्ति तो दोयम दरजे की हुआ करती हैं', तो यह दांव भी उलटा पड़ गया। क्यों ? एक तो इसलिए कि यह क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया थी और वास्तव में एलियट खुद अपनी नई कला दृष्टि को खुद अपने नये विजन को परिभाषित करने के सिलसिले में विज्ञान से ही रूपक उधार लेने को विवश हुआ था, और दूसरे इसलिये भी कि वह उस प्रतिक्रिया के चलते वैज्ञानिक दृष्टि को ललकारते हुए एक दूसरी—और उतनी ही साहित्येतर दृष्टि के आगे समर्पित हो गया।**
>
> ('सबद निरंतर' पृष्ठ १४७)

इस उद्धरण का दोहरा महत्व है; एक तो इसलिए कि विज्ञान के आगे साहित्य को गिराये जाने की बात इसमें दोहराई गई है। इससे यह पुष्ट होता है कि शाह ने एलियट को इसी रूप में पाया है कि उसने साहित्य को विज्ञान से हेय ठहराया है। दूसरे इसलिये कि इसी में यह प्रमाण मौजूद है कि उनका यह पाना भ्रामक है। जो वैज्ञानिकों की कल्पना शक्ति को दोयम दर्जे की मान रहा है, वह काव्य मेधा का महत्व घटा कैसे रहा है ? क्या महज इसी आधार पर कि उसने कविता की सृजन प्रक्रिया एक रासायनिक रूपक के सहारे समझाई है ? कैसी विडंबना है कि बुद्धि जीवियों में सम्वाद की आवश्यकता पर बल देने वाले को विज्ञान से सादृश्य भर ग्रहण कर लिये जाने में ही साहित्य की हेठी दिखाई दे गई है ! जबकि मेरा विचार है कि विज्ञान से गृहीत रूपक हटा लिये जाने पर भी एलियट की बात झूठी नहीं पड़ जाती। और तथ्य तो यह है कि निर्वैयक्तिकता सिद्धांत ने जो अतिवादी तेवर पाया था वह इस रूपक को वजह से ही पाया था, और अंततः उसे जो पीछे हटाना पड़ा वह भी इस अतिवाद के सबब से ही घोषित रूप से रूपक का अनौचित्य चाहे उसने 'येट्स' (१९४२) निबंध में स्वीकार किया हो, स्पष्ट किंतु अघोषित स्वीकृति तो 'सैक्रेड वुड' (१९२०) में ही मौजूद है, यह मैंने अन्यत्र दिखाया है। लेकिन मैं बलपूर्वक कहना चाहता हूं

कि एलियट का पीछे हटना रूपकीय अति से, स्रष्टा और भोक्ता के कठोर पार्थक्य से ही पीछे हटना था, मूल निर्वैयक्तिकता के सिद्धांत के तात्विक पक्ष से पीछे हटना नहीं। अस्तु।

डॉ० शाह ने एलियट पर साहित्येतर दृष्टि के आगे समर्पित होने का आक्षेप भी लगाया है। उनका आशय, जहां तक मैं समझता हूं, एलियट की धार्मिक दृष्टि से है। उनके इस आक्षेप पर कुछ कहने से पूर्व मैं उनका ध्यान उन्हीं के निम्नांकित कथन की ओर आकर्षित करना चाहता हूं:

> **जहां पुराने नीतिशास्त्र की सीमा यह थी कि वह मनुष्य के प्रति मनुष्य की उदासीनता के प्रति पर्याप्त सजग नहीं हो पाता था, वहां नये नीतिशास्त्र में इसके ठीक विपरीत मानवीय सरोकार का एक ऐसा प्रचंड बौद्धिक अहंकार उभर कर आया जो मनुष्य के स्वयं अपनी मानवीय सीमाओं के विवेक को ही निगलकर उसे मानव नियति का और सारे वस्तुजगत् का एकमात्र नियामक मान बैठने के दंभ से भरने लगा।**
>
> (वही पृ० १५२)

रेखांकित अंश में वाक्य यह जैसा भी है, इस आशय को बखूबी प्रकट करता है कि मानवीय सरोकार के नाम पर कोरा बौद्धिक आग्रह डॉ० शाह उचित नहीं मानते। इतना ही नहीं, आगे चलकर वे रेशनल के साथ-साथ इर्रेशनल को भी अंतर्युक्त कर लेते हैं—

> **क्या गांधीजी का विजन और रचनात्मक कर्म एक स्वतः संपूर्ण 'रेशनैलिटी' के आग्रह पर आधारित है? क्या मानव मूल्यों की अवधारणा में कहीं 'इर्रेशनल' को भी अंतर्युक्त नहीं होना चाहिए? सृजन कर्म के पीछे भी जैसा कि स्वयं अज्ञेय ने लक्ष्य किया है—क्या कवि की वर्तमान क्षण के जीते-जागते अनुभव में ही 'अपने से बड़े कुछ' को पहचानने और संप्रेषित करने की क्षमता ही नहीं होती?** (वही पृ० १५५-५६)

यहां 'इर्रेशनल' शब्द कहां तक उपयुक्त है, यह एक अलग सवाल है, प्रासंगिक प्रश्न यह है कि एलियट के संदर्भ में जिसका उन्होंने 'साहित्येतर' कहकर तिरस्कार किया है, क्या वह उनके इस 'इर्रेशनल' का नाती नहीं है? क्या अपने से बड़े कुछ की पहचान ही एलियट की तलाश नहीं है? अज्ञेय की तलाश ही चाहे एलियट की न रही हो, लेकिन अपने से बड़े की तलाश दोनों में है, इसे डॉ० शाह क्यों भुला देते हैं?

जहां तक एलियट के साहित्येतर के प्रति समर्पित हो जाने का प्रश्न है, हमें 'आफ्टर स्ट्रेंज गाड्स' पर ही क्यों थम जाना चाहिए? यह निर्विवाद है कि इस पुस्तक में उसने साहित्य का परीक्षण ईसाई दृष्टि से ही किया है लेकिन यह क्यों विस्मृत कर दिया जाता है कि आगे चलकर वह इस जकड़ से बहुत कुछ मुक्त भी हो गया था। धार्मिक दीक्षा ने प्रभाव बाद में भी डाला है लेकिन जिसे शाह समर्पित होना कहते हैं, वह मिथ ही है, यह मैंने अन्यत्र दिखाया है। यहां मैं इतना ही कह सकता हूं कि उसके 'गोएथे' (गेटे) और 'फ्रेटियर्स ऑव क्रिट्सिज्म' आलोचना के सीमांत-निबंधों को पढ़कर यह देखा जा सकता है कि उसमें कितना परिवर्तन आया है। इसी तरह, धर्मशास्त्र और दर्शन को ज्यादा बड़ी बौद्धिकता का क्षेत्र मानने का जहां तक प्रश्न है, इसका सही उत्तर पाने के लिए एक बार उसके 'लैंसलोट एंड्रूज', 'पास्कल', 'ब्रैडले' आदि निबंधों को पढ़ जाना चाहिए। इन लेखकों के प्रति उसके आकर्षण का एक प्रबल हेतु उनकी प्रखर बौद्धिकता भी रही है, ब्रैडले के संदर्भ में उसकी दार्शनिकता। एलियट में जो रूढ़ धार्मिकता है, मैं उसका कोई बचाव नहीं कर रहा हूं लेकिन आर्नाल्ड को प्रतिष्ठित करने के अनुष्ठान में शाह ने एलियट की जो बलि दी है उसमें उन्होंने एलियट के वास्तव को भी होम दिया है, यह मैं दिखाना चाहता हूं।

इस घोर बलि का चित्य पक्ष है, शाह द्वारा एलियट के निम्नांकित कथन का किया गया निर्वचन:

> **एक जगह वह कविता को 'मनोरंजन की श्रेष्ठतर विद्या' भर कह देता है।**

हिंदी में 'श्रेष्ठतर' प्रयोग कितना शुद्ध समझा जाता है, यह यहां विचारणीय नहीं है, विचारणीय है, डॉ० शाह द्वारा लिया गया यह अर्थ कि एलियट के निकट धार्मिक सम्वेदन इतना महत्त्वपूर्ण था कि उसके गौरव के लिए उसने कविता को सस्ते मनोरंजन के धरातल पर ले जा पटका। यदि केवल शब्दों तक ही सीमित रहने की बात हो तब तो यह सही है कि एलियट ने लिखा है कि Poetry is a superior amusement लेकिन यह कहते हुए यदि हम उसके मंतव्य वास्तव को पाना चाहते हैं तो हमें यह भी देखना होगा कि स्वयं उसने मनोविनोद का प्रयोग किस अर्थ में किया है। उसका कथन है—

> **कविता एक श्रेष्ठ मनोविनोद है, मेरा आशय यह नहीं है कि यह श्रेष्ठ वर्ग का मनोविनोद है। मैं इसे मनोविनोद इसलिए नहीं कहता कि यह एक सही परिभाषा है बल्कि इसलिए कि यदि आप इसे कुछ और कहेंगे तो इसे और भी अधिक मिथ्या बना दे सकते हैं। यदि हम मनोविनोद की प्रकृति का विचार करें तो कविता मनोविनोदकारी नहीं होती, लेकिन यदि हम किसी और चीज का विचार करें, कविता जिसके जैसी प्रतीत हो तो हम कहीं अधिक जटिलताओं में फंस जाएंगे।**
>
> (द सैक्रेड वुड, पृ० xiii-ix)

यदि हम इन अंशों की ओर ध्यान दें कि कविता को मनोविनोद कहना कोई सही परिभाषा नहीं है या कि कविता की प्रकृति मनोविनोदकारी नहीं होती, तो हम देखेंगे एक लाचारी में ही उसने इस शब्द का तदर्थ प्रयोग किया है, धार्मिक सम्वेदन को काव्य सम्वेदन से अधिक महत्वमंडित करने के लिए शिखंडी आड़ रचने के हेतु से नहीं, न ही विज्ञान की किसी चुनौती से घबराकर ही। वैसा कोई संदर्भ तो क्या, संकेत भी वहां नहीं है। पता नहीं कैसे, डॉ० शाह को एलियट की मुद्रा भी यहां क्षमायाची जान पड़ी है—

> **इसे केवल कवि सुलभ नम्रता कहके नहीं टाला जा सकता कि एलियट अपनी नई काव्य दृष्टि और उसे फलीभूत करने वाले युगांतरकारी संप्रेषण आविकारों के बावजूद यही मानकर चलता था कि 'काव्य अंततः एक ऊंचे किस्म का मनोविनोद (ए सुपीरियर फार्म ऑव एम्यूजमेंट) ही है।' तो, जहां सबसे**

समय और सबसे अधिक दृष्टिवान माने जाने वाले कवियों का खुद कविता के बारे में ऐसा क्षमायाची भाव हो, वहां संप्रेषण क्रांति के इस युग में साहित्य और कला में 'सत्य' को जानने और पाने की अपेक्षा भला किसे होगी ? ऐसे में साहित्य या संगीत को 'ज्ञान' का एक विशिष्ट और विलक्षण प्रकार भी भला कौन मानने को तैयार होगा ? (पृ० १४७)

शाह ने एलियट के प्रति यहां जो तरस खाया है, उसके पहले अच्छा होता वे कविता की विभिन्न परिभाषाओं पर उसने जो विचार किया है, उसे देख लेते। उसने लिखा है कि—

कविता को 'शांत क्षणों में पुनः स्मृत सम्वेग' कहने से बात नहीं बनेगी, यह एक कवि का अपनी रचना-विधि का आकलन भर है, जिस व्यक्ति को कविता के नये अनुभव के संपूर्ण विस्मय और औदार्य की अनुभूति हुई है, उसके निकट तो कविता को 'जीवन की आलोचना' कहने से अधिक शिथिल और कोई संज्ञा हो ही नहीं सकती। और, निश्चय ही, कविता व्यक्ति में नैतिकता के संचार का साधन या राजनीति का दिशा-निर्देश नहीं है, न ही वह धर्म या धर्म का समतुल्य जैसा कुछ है, उसे यह सब कुछ कहना शब्दों के विकट दुरुपयोग के अतिरिक्त कुछ नहीं है··· (द सैक्रेड वुड ix)

उपरोक्त अंश, जो रेखांकित किया गया है, यह भलीभांति दर्शाता है कि डॉ० शाह जो साहित्य को सत्य जानने के विशिष्ट एवं विलक्षण प्रकार के रूप में पाना चाहते हैं, उसको एलियट में पहले से स्वीकृति मिली हुई है। हैरानी तो यह है कि यह अंश किसी अन्य आलेख से नहीं, 'सैक्रेडवुड' की भूमिका से ही उद्धृत है जिसमें से उन्होंने मनोविनोद वाली परिभाषा उद्धृत की है ! और, जहां तक मुद्रा के क्षमायाची होने की बात है, यह शिकायत उस चिंतक के प्रति तो उचित हो सकती है जो साहित्य को किसी इतर लक्ष्य का साधन मानता है लेकिन एलियट तो इस विचार का हामी कभी नहीं रहा, केवल 'सैक्रेडवुड' काल में ही नहीं, उसके बाद भी। ('आफ्टर स्ट्रेंज गॉड्स' अवश्य ही उसकी दीक्षा के बाद की आलोचना पुस्तक है और इसमें उसकी दृष्टि धर्मभावित हो गई है)। यदि हम 'ऑन पोइट्री एंड पोएट्स' में व्यक्त उसके विचारों पर दृष्टि निरोध करें तो उसमें हमें उसके चिंतन के विस्मयकारी सातत्य का साक्ष्य मिलेगा—

यदि हमें कविता की मूलभूत सामाजिक भूमिका को पाना है तो हमें पहले उसके उन अधिक प्रत्यक्ष कार्यों को देखना होगा, जिन्हें उसे करना ही होगा, यदि उसे कुछ भी करना है। सबसे पहले, जिसके विषय में हम निश्चित हो सकते हैं, वह यह कि कविता को आनंद देना होगा। यदि आप पूछें कि कैसा आनंद, तो मैं यही कह सकता हूं कि वैसा आनंद जैसा कविता देती है, महज इसलिए कि कोई भी दूसरा उत्तर हमें सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में और कला की प्रकृति के सामान्य प्रश्न क्षेत्र में दूर ले जाएगा। (ऑन पोइट्री···पृ० १८)

यदि 'सैक्रेड वुड' में दिए गए उत्तर से इसकी तुलना करें तो पायेंगे कि कुछ अंतर तो उसमें आया है, प्लैजर शब्द अधिक उपयुक्त समझकर अपना लिया गया है, लेकिन विस्मयकारी चिंतन-सातत्य भी हमें लक्ष्य करना होगा। स्मरणीय है कि 'द यूज ऑव पोइट्री' में 'कविता क्या है' प्रश्न का उत्तर भी उसने यही दिया है कि आप कविता पढ़कर ही जान सकते हैं कि वह क्या है। ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एलियट की पुस्तक 'ऑन पोइट्री' में हमें चिंतन सातत्य ही नहीं, चिंतन-विकास भी मिलता है और उस विकास की दिशा भी यही रही है।

मैं सोचता हूं कि हम यह स्वीकार करेंगे कि हर अच्छा कवि, चाहे वह महत् कवि है या नहीं, हमें आनंद से परे भी कुछ देता है, क्योंकि यदि यह निरा आनंद ही हो तो वह स्वयं उच्च-कोटि का नहीं हो सकता। किसी भी निर्दिष्ट लक्ष्य, जिसके विभिन्न प्रकार की कविताओं में होने के उदाहरण मैं दे चुका हूं, से परे कविता में सदैव कुछ रहता है; किसी नये अनुभव का संप्रेषण या किसी सुपरिचित की नई समझ, या उसकी अभिव्यक्ति जिसका अनुभव तो हमने किया है लेकिन जिसे व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नहीं हैं, जो हमारी चेतना का सम्वर्द्धन और सम्वेदना का परिष्कार करता है। परंतु जैसे कविता से होने वाले किसी वैयक्तिक आनंद की प्रकृति से, वैसे ही कविता से होने वाले ऐसे किसी वैयक्तिक लाभ से भी इस आलेख का कोई सरोकार नहीं है। मैं सोचता हूं कि कविता जो आनंद दे सकती है, और उस आनंद से परे हमारे जीवन में जिस प्रकार का अंतर वह ला देती है, इन दोनों बातों को हम सभी समझते हैं। इन दो प्रभावों को यदि वह उत्पन्न नहीं करती तो वह कविता ही नहीं है। (ऑन पोइट्री···पृष्ठ १८)

ये उद्धरण इस बात के प्रमाण हैं कि कविता विषयक एलियट का मनन-मंथन सतत रूप से चलता रहा था। डॉ० शाह यदि उसके चिंतन वास्तव को पाने में बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते तो यह देख लेना उनके लिए कठिन नहीं था कि कविता के नये अनुभव के संपूर्ण विस्मय और औदार्य की अनुभूति ही वस्तुत: वह उत्सभूमि है जहां से उसका चिंतन प्रारंभ होता है और चर्वित-चर्वण से इस परिणति तक आता है कि कविता हमें आनंद ही नहीं देती, वह हमारे जीवन में अंतर भी ला देती है। इसका अर्थ यह भी कि साहित्य का सतत आस्वादन जीवन के प्रति हमारी दृष्टि में भी परिवर्तन ला देता है। इस बात को और भी बोधगम्य ढंग से रखने वाला यह विचार भी उसी का प्रवर्तन है कि एक अच्छी रचना पढ़कर हम वही नहीं रह जाते हैं जो उसे पढ़ने से पूर्व होते हैं।

मुझे हैरानी होती है कि डॉ० शाह ने एलियट का मत कविता के नये अनुभव के विस्मय और औदार्य में नहीं देखकर उसे मनोविनोद में स्थिर किया है और मनोविनोद की भी उस व्याख्या से मुंह फेर लिया है जिसे वह अनवरत रूप से संस्कारित करता चला गया है। तथ्य तो यह है कि विस्मय और औदार्य की अनुभूति ही वह भूमि है जिस पर खड़े होकर एलियट ने आर्नाल्ड की आलोचना की थी। डॉ० शाह ने इस बात को समझा होता तो वे एलियट के साथ तो न्याय करते ही, समस्या में सही पैठ भी

पाते। लेकिन मुझ ऐसा लगता है कि आलोचना में आर्नाल्डीय आदर्श की पुन: प्रतिष्ठा के लोभ में ही उन्हें एलियट के खंडन की आवश्यकता पड़ी है, और खंडन की सुविधा के लिए ही उन्होंने उसकी मनोविनोद वाली बात पकड़ ली है। प्रहार और खंडन के लिए तो एलियट का यह विरूपीकरण उनके काम आ गया है लेकिन एक लेखक के मंतव्य को इस रूप या कि विरूप में पाना और प्रस्तुत करना कितना उचित और नैतिक है यह भी कम विचारणीय नहीं है। एक बुद्धिजीवी के रूप में उनका यह प्रयत्न उनके लिए और उससे भी बढ़कर बुद्धिजीवन वाले उनके अभियान के लिए कितना घातक है, इसका हिसाब भी उन्हें करना होगा। जिस क्षेत्र में उनकी आधिकारिक गति है, उन्होंने शोध की है उसमें उनकी वस्तुनिष्ठता की यह स्थिति है तो उनकी विश्वसनीयता के लिए क्या कहा जाय? क्या इससे ज्ञान के क्षेत्र में घोर अराजकता नहीं छा जायेगी? जो व्यक्ति शाह के माध्यम से एलियट को पाएगा उसका एलियट कितना विकलांग और विरूप होगा? यह विरुपण मुझे इसलिए और भी अधिक अखरता है कि एलियट का विवेचन शाह का प्रतिपाद्य कहीं था ही नहीं। उनका काम एलियट को बीच में घसीटे बिना बखूबी चल सकता था। लगता है, अपनी विद्वता का आतंक पाठकों पर जमाने के लिए वे गाहे-ब-गाहे एलियट के कान उमेठते चले हैं। और नहीं तो गलत व्याख्या करके ही सही! यह बौद्धिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से कितना अनुचित है, इसका विचार उन्होंने किया ही नहीं है।

जिस आर्नाल्ड की वेदी पर एलियट की बलि दी गई है, उसके स्वरूप का कुछ विचार भी यहां प्रासंगिक होगा। आर्नाल्ड अपने युग के सांस्कृतिक ह्रास के विरुद्ध जूझा था। आज का युग क्योंकि उससे भी विकट ह्रास का युग है इसलिए डॉ० शाह को आर्नाल्ड का आदर्श ही वरेण्य जान पड़ा है। आर्नाल्ड ने अपनी भविष्यवाणी से साहित्य जगत् को आश्वस्त किया था कि आने वाले समय में धर्म का स्थान कविता ले लेगी। इसी के अनुरूप वह कविता को युग के उत्कृष्ट चिंतन के वाहक के रूप में देख रहा था। डॉ० शाह जानते हैं कि वह वाणी फलवती नहीं हुई लेकिन इसके उपरांत भी शाह का आदर्श आर्नाल्ड ही रहा है। एलियट ने इस विचार को कभी स्वीकार नहीं किया कि कविता धर्म का स्थानापन्न हो सकती है। उसने लिखा भी है कि—

> **इस या उस लोक में कोई भी चीज किसी दूसरी का स्थानापन्न नहीं है। यदि आपको लगता है कि आपको धार्मिक आस्था या दार्शनिक विश्वासों के बिना काम चलाना है तो आपको चला लेना चाहिए।** (द यूज ऑव् पोइट्री पृ० ११३)

वस्तुत: वह कविता की स्थानापन्न भूमिका के पक्ष में नहीं था। वह कविता को कविता के रूप में पाना चाहता था, धर्म, इतिहास, राजनीति या मनोविश्लेषणात्मक केस के रूप में नहीं। कविता की इतर भूमिका उसे अस्वीकार्य नहीं थी लेकिन कविता का उस हेतु से रचा जाना उसे सर्वथा नागवार था।

स्विड्र्स का मत था कि आधुनिक युग की विभीषिका से कविता हमारा त्राण कर सकती है, लेकिन एलियट ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसका कहना था कि कविता हमारा त्राण कर सकती है या नहीं, एक अलग सवाल है, पर इस पर विचार करना कवि के रूप में कवि का कार्य नहीं है। कवि का कार्य कविता करना है—

> **यह कवि के रूप में कवि का कार्य नहीं है कि वह इस या उस लोक में कविता का स्थान निर्धारित करने के प्रयत्नों से कोई सरोकार रखे, चाहे वह ईसाई जगत् में कविता का स्थान तय करने का मारिटेन का प्रयत्न हो या फिर गैर-ईसाई जगत् में रिचर्ड्स का।** (वही, पृष्ठ १३५)

एलियट ने इस बात से इंकार नहीं किया कि कवि एक बुद्धिजीवी के रूप में भी कार्य करे; वह स्वयं एक प्रचंड बुद्धिजीवी था; न उसने इस बात को नकारा था कि कविता अपने युग की हालत पर टिप्पणी हो सकती है; उसकी अपनी कविता, 'द वेस्टलेंड' विशेष रूप से, उस युग पर तीखी टिप्पणी थी; लेकिन वह साहित्यालोचना में इतर चिंतन को घुला दिये जाने का हामी नहीं था, और न ही उसे यह गवारा था कि कविता किसी निर्दिष्ट लक्ष्य के साधनभूत रची जाय। उसने लिखा भी है कि—

> **मैं यह नहीं कहता कि कला अपने से परे उद्देश्यों की सेवा में नियोजित न की जाय, लेकिन उनके प्रति उसकी सजगता अपेक्षित नहीं है। और, निश्चय उनके प्रति उदासीन रहकर वह अपनी उस भूमिका का निर्वाह ज्यादा अच्छी तरह से कर पाती है; विभिन्न मूल्य सिद्धांतों के अनुसार वह भूमिका जो भी हो।** (सिलेक्टेड ऐसेज, पृष्ठ २४)

द यूज ऑव पोइट्री में उसने कहा है कि कविता की व्याख्या और उसका मूल्यांकन न उसके उत्स-ज्ञान से हो सकता है और न ही उसके उपयोगों से। यह भी कविता को कविता के रूप में पाने का आग्रह ही है। उदार होती गई उसकी दृष्टि के बावजूद यह आग्रह उसमें बराबर बना रहा है। **आफ्टर द स्ट्रेंज गॉड्स** की बात अलग है, लेकिन उसका भी पुनर्मुद्रण रोककर उसने अपनी मंशा जाहिर कर दी थी—

आर्नाल्ड के प्रति उसकी शिकायत भी इसी की अनुरूपता में है कि वह साहित्य के दायरे में नहीं रह पाया था।

> **अपने खंडन में, आर्नाल्ड साहित्यक दायरे से सर्वथा बाहर चला गया था; उसका अधिकांश उहापोह राजनीतिक था···** (द सैक्रेड वुड, xiii)

इस वृत्ति को चिंतनीय कहते हुए उसने मत प्रकट किया है कि जो भूमिका आर्नाल्ड ने निभाई—

> **वह उसका कोई शिष्य (यदि होता तो) किसी पत्र के संपादक की हैसियत से प्रभावी तौर पर निभा सकता था, उतनी स्वच्छता से चाहे न भी सही···** (वही पृ० xiii)

परंतु यही कार्य स्वयं आर्नाल्ड ने एक आलोचक के रूप में करके (याने अपनी आलोचना में घुलाकर) अपनी शक्ति का अपव्यय किया। यहां ध्यान रखने की बात यह है कि एलियट ने न तो आर्नाल्ड के सांस्कृतिक चिंतन का

महत्व कम किया है और न ही साहित्यिक पत्रकारिता का महत्व घटाया है। वह स्वयं एक सांस्कृतिक विचारक था और साहित्यिक पत्रकार भी। लगभग दो दशकों तक उसने 'क्राइटेरिया' का संपादन किया था। यह पत्रिका अपने समय में समूचे यूरोप के बुद्धिजीवियों के लिए साहित्य एवं वैचारिक मंच थी। अतः एलियट का निषेध रचनाकार की अन्य भूमिकाओं का निषेध नहीं था, वह मूलतः मूल कर्म के अंगभूत इतर प्रयास का निषेध था। प्रायः साहित्यालोचक ऐसा लोभ संवरण नहीं कर पाते हैं, आर्नाल्ड भी नहीं कर पाया था। एलियट ने लिखा भी है कि—

> **आर्नाल्ड को दोष देना ठीक नहीं होगा। जैसे कभी-कभी सामर्थ्यवान व्यक्ति कर बैठते हैं, उसने भी अपनी शक्ति क्षय की। उसे लगा कि (यह कार्य) कोई करने वाला नहीं है और कुछ किया जाना चाहिए, (अतः वह स्वयं करने बैठ गया)। विचारों में और प्रमुखतः साहित्य में रुचिवान व्यक्ति में यह वृत्ति अदम्य होती है कि जब तक वह देश का वातावरण स्वच्छ नहीं कर दे साहित्य को ताक पर रख दे।**
>
> (सैक्रेड वुड, पृष्ठ xiii)

आर्नाल्ड ने भी कुछ ऐसी ही विवशता अनुभव की और वह स्वयं सरस्वती मंदिर को बुहारने बैठ गया। (डॉ० नामवर सिंह ने अपने लिए एक जगह इस मुहावरे का प्रयोग किया है, उसका उत्स यही है)। इसी संदर्भ में एलियट ने अपने विस्मय का समाधान पाया होगा। उसने एक जगह यह विस्मय प्रकट किया है कि आर्नाल्ड को हम कहीं भी कविता पर रचयिता के कोण से विचार करते नहीं पाते; इसी से यह संशय होता है कि उसे कविता रचे जाने के दर्द की अनुभूति हुई थी या नहीं। लेकिन आर्नाल्ड की इतर चिंताओं से परिचय के बाद हम इसका समाधान पा लेते हैं। (वैसे यह एक प्रमुख अंतर्भूत कारण कहा जा सकता है कि क्यों एलियट ने कविता पर रचे जाने के कोण से ही अधिक विचार किया है।)

ठीक यही बात हम डॉ० शाह के लिए नहीं कर सकते। उन्हें सृजन के मर्म की पहचान भी है और उन्होंने उसके लिए चिंता भी दिखाई है। सृजन की अपूर्वानुमेयता की चिंता उन्हें इतनी अधिक है कि आस्था की तार्किकता के हदतर होते जाने में भी (प्रसाद और जैनेंद्र के संदर्भ में) उन्हें उसकी (अपूर्वानुमेयता की) क्षति की आशंका हुई है; कहीं ऐसा न हो कि 'अवचेतन की खींच कम होती जाय और चेतन का नियंत्रण बढ़ता जाय!' वर्तमान परिदृश्य तो है ही सृजन की दिशा का अवरोधक। उनका कथन है कि—

> **सृजन कर्म एक अपूर्वानुमेय घटना है और आधुनिक संचार माध्यमों का ही नहीं, आधुनिक ज्ञान मीमांसाओं का भी पूरा जोर और पूरी वृत्ति इसके विपरीत जान पड़ती है। दोनों के बीच प्रकट सहयोग के बजाय एक प्रच्छन्न द्रोह का दृश्य ही इस पूरे दौर में उभरता दीख पड़ता है।** (पृष्ठ १४८)

विडंबना यही नहीं है कि आज सारी शक्तियां रचना-कर्म पर विपरीत दिशा से प्रभाव डाल रही हैं बल्कि यह भी है कि उसके प्रति चिंतित होते हुए भी शाह ने उसे उसी (विपरीत) दिशा में धकेला है।

एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है कि—

> **मुझे ऐसा लगता है कि जब भी किसी तर्क के पीछे कविता को चलाने की कोशिश हुई है कविता की ऐसी-तैसी ही हुई है। और वह तर्क भी अमूमन एक घटिया विचार से प्रेरित होता है।**
>
> (पृष्ठ ८२)

हम देख सकते हैं कि डॉ० शाह भी कुछ एलियट की तरह ही, कविता को साधनभूत नियोजित किए जाने के पक्ष में नहीं हैं। वे यहां ऐसे नियोजन के परिणाम के प्रति चिंतित देखे जा सकते हैं। लेकिन यह डॉ० शाह के विचार का एक पक्ष ही है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि उन्होंने कविता के इतर नियोजन का प्रस्ताव भी किया है। यह आर्नाल्ड के प्रभाव का परिणाम है। इसी हेतु से उन्हें उसका उच्चकोटि की वैचारिकता का आदर्श लुभा गया है। उपर्युक्त कथन में भी यह निहित है कि यदि कविता को उच्चकोटि के विचारों के पीछे चलाने का प्रयत्न किया जाय तो वे इसकी अनुमति दे देंगे। कहना कठिन है कि ऐसी अनुमति देते हुए वे सृजन के प्रक्रिया-पक्ष और उसके दर्द का आकलन किये रहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह एक प्रकार से रचना में इतर तत्व के हस्तक्षेप की अनुमति देना है। और जब आप हस्तक्षेप को स्वीकार करते हैं, तब इस बात से कोई अंतर नहीं पड़ता कि विचार की कोटि श्रेष्ठ है या नहीं। हस्तक्षेप तो वह है ही और उस नाते प्रक्रिया में बाधक भी। मैं फिर एलिएट का ही उदाहरण दूंगा उसने लिखा है कि—

> **शेक्सपीयर ने यदि किसी श्रेष्ठ दर्शन के अनुसार रचा होता तो वह सर्वथा घटिया कविता रचता।** (सिलेक्टेड ऐसेज, पृ० १३७)

ऐसा नहीं है कि विचारों की श्रेष्ठता या हेयता स्वयं में बेमानी होती है लेकिन साहित्य में महत्व विचारों के रचनात्मक या भावात्मक रूपांतरण का विशेष होता है। परंतु शाह को यहां उत्कृष्ट वैचारिकता का आदर्श ही मुग्ध करता रहा। सृजनधर्मी को बुद्धिजीवन की ओर उन्मुख करना चाहने के मूल में भी उनका यही आकर्षण क्रियाशील रहा है। यह मंत्र उन्होंने आर्नाल्ड से ही पाया है। साहित्य की परिभाषा भी उन्होंने 'रेवेलेशन ऑव हिडन लाइफ' के बजाय जो 'क्रिटिसिज़्म ऑव् लाइफ' में तलाशी है, वह आर्नाल्ड की दी हुई है। इस प्रसंग में उनका कथन यह द्रष्टव्य है—

> **साहित्य अगर दर्पण है तो उसे हर सामाजिक परिवर्तन को प्रतिबिंबित करना चाहिए और अगर वह जीवन की छुपी हुई संभावना का उद्घाटन है या एक बेहतर सूक्ष्मतर जीवन की सूचना है तो भी शायद एक विधायक प्रेरणा के रूप में उसे सामाजिक परिवर्तन का दिशा-निर्देशक बन सकना चाहिए।**
>
> (पृ० १९-२०)

यानी हर स्थिति में उसे सामाजिक परिवर्तन से जुड़े रहना होगा। शाह के इस आग्रह के बाद इस शंका का कुछ समाधान हो जाता है कि एलिएट की कविता की परिभाषा की तलाश उन्होंने कवि के नये अनुभव के विस्मय और औदार्य में क्यों नहीं की है, और क्योंकि वे मनोविनोद पर ही थम गए हैं, और इसका भी कि क्यों रचनात्मक लेखन में युगीन

परिवर्तन की सम्वेदनात्मक साक्षी भी उन्हें पर्याप्त नहीं जान पड़ी है और क्यों वे उस सोच के हामी होते चले गए है जो

> **साहित्य को सांस्कृतिक प्रक्रिया का महज साक्षी न मानते हुए उसमें सक्रिय भागीदारी बनने का तकाजा महसूस करता है।** (पृ० ९३)

इस सक्रियता से उनका वास्तविक आशय क्या है, यह हम इस कथन में देख सकते हैं—

> **स्थिति हमारी यह है कि साक्षरता के अभाव में देश में एक प्रतिशत लोग भी निर्माण कार्य में हिस्सा नहीं ले रहे हैं। जो ले रहे हैं, उनके, सामने भी वे निन्यानवे प्रतिशत नहीं हैं··· अगर मुट्ठीभर बुद्धिजीवी अपने-अपने अनुशासनों में सिकुड़े रहें, बाकी पढ़े-लिखे लोग अपनी आत्मतुष्टि और नव-धनाढयता में लिप्त रहें, और जो असली समाज है वह अपनी दिनोदिन क्षरित होती जाती वाचिक संस्कार संपन्नता के साथ निरक्षर बना रहे तो यह आधुनिक सम्वेदन संपन्न साहित्य भी आखिर किसके सम्वेदन का विस्तार करेगा?** (पृ० १२७-२९)

इस बात से कोई इंकार नहीं करेगा कि लेखक को 'असली समाज' में, निन्नानवे प्रतिशत में और समाज के निर्माण कार्यों में रुचि लेनी चाहिए लेकिन इसके लिए लेखक को उद्देश्यवादी बना देने के सतही एवं अति-सरलीकृत समाधान की ओर धकेलने के अतिरिक्त इस चिंता और इस रुचि का और रूप क्या हो, इसका विचार किये जाने की आवश्यकता थी। डॉ० शाह का सही चिंता-पथ वही होता; आज के चिंतन की सबसे बड़ी चुनौती भी यही है कि रचनाकर्म की अपूर्वानुमेयता और रचनाकार की सक्रिय भागीदारिता का एकत्र निर्वाह कैसे हो, इसका गहन विचार किया जाता। यदि डॉ० शाह गहराई में उतरकर इस संकट पर सृजन की राह से विचार करते तो उनका चिंतन हिंदी आलोचना का मूल्यवान दस्तावेज होता लेकिन यह खिन्न विस्मय का विषय है कि उन्होंने सतह पर ही विराम ले लिया है। उनकी यह बात सही है कि वर्तमान समय में सृजन कर्मी होने के नाते साहित्यकार पर विशेष दायित्व आता है। लेकिन यह चिंतनीय है कि इस दायित्व के स्वरूप का सम्यक् निरूपण वे नहीं कर पाये हैं। इसके अभाव में सबद निरंतर वास्तव में अबद निरंतर ही रहा है।

तथ्य तो यह है कि आलोचक से भी उन्होंने यही मांग की है कि—

> **साहित्यिक स्तर पर भी सच्चा और मूल्यवान बने रहने के लिए बुद्धिजीवी की उस व्यापक भूमिका से जुड़ना ही पड़ेगा जो महज जनतंत्र की बुद्धिविलासी अवधारणा के प्रति नहीं, बल्कि अपने देश और समाज की संस्कृति और परिस्थिति के प्रति एक दुहरे दायित्व भाव से अनुप्राणित हो।** (पृष्ठ ८९)

लेकिन इस दायित्व के दुहरे रूप पर भी उन्होंने अपेक्षित विचार नहीं किया है। आलोचक साहित्य के प्रति सच्चा और कृति के प्रति ईमानदार रहे, यह एक पक्ष है, और सांस्कृतिक संकट को पहचान कर एक बुद्धिजीवी के रूप में अपनी भूमिका निभाये, यह दूसरा पक्ष है। पहले पक्ष में मूल्यवान बने रहने के लिए दूसरे पक्ष की भूमिका आवश्यक हो सकती है लेकिन शाह उस आवश्यकता का गंभीर एवं सम्यक् प्रतिपादन करने के बजाय मुद्दों को गड्डमड्ड कर गए हैं।

डॉ० शाह की सोच यह रही हो सकती है कि युगजीवन की समस्याओं में लेखक का सक्रिय साझा हो तो उसका प्रभाव उसके लेखन पर भी आयेगा; यह गलत नहीं है, लेकिन इस बात को इतनी दूर तक नहीं खींचा जा सकता कि उसे शर्त बना दिया जाय। आर्नाल्ड प्रमुखत: कवि था और वह सांस्कृतिक संकट के विरुद्ध संघर्षरत भी था लेकिन डॉ० शाह स्वयं जानते हैं कि इस सबके बावजूद भी उसकी कविता उस संकट की कोई साक्षी नहीं देती—

> **यह एक मार्मिक विरोधाभास है, आर्नाल्ड के व्यक्तित्व और भावबोध का, कि जहां एक विचारक की हैसियत से वह युग धर्म को आत्मसात करता हुआ निरंतर विकास करता जाता है, और विक्टोरियन व्यक्तिवाद और धार्मिक रूढ़िवाद से लड़ता हुआ अधिकाधिक समाजोन्मुख, भविष्योन्मुख बनता जाता है, वहीं एक कवि के रूप में वह इस परिवर्तन और आत्म विकास का अंतर्साक्ष्य नहीं दे पाता।** (पृ० १००)

यह कथन स्वयं डॉ० शाह का ही है ऐसी स्थिति में जबकि डॉ० शाह स्वयं जानते हैं कि एक कवि एक बुद्धिजीवी के रूप में सतत और सजग चिंतन करे और अपने समय की समस्याओं से सक्रिय रूप से जूझे तब यह संभव है कि उसकी कविता उसकी अभिप्रेत भूमिका न निभाये बल्कि उसकी सजगता की साक्षी भी न दें, तब क्या यह विचारणीय नहीं हो जाता कि रचनाकार से की जाने वाली निर्दिष्टता की मांग में ही कहीं कोई खोट है और आलोचक को और गहराई में जाकर रचना और सजगता के रिश्तों का अन्वेषण करना होगा। एक लेखक कई भूमिकाएं निभाता है और उस पर प्रभाव भी असंख्य हो सकते हैं लेकिन रचना में इनका रूप क्या होगा, इसे पहले से निर्धारित नहीं किया जा सकता। ये सब बातें जानते हुए भी जाने क्यों, डॉ० शाह ने रचाना को निर्दिष्ट पथ पर हांकना चाहा है। जानते वे यह भी हैं कि—

> **ऐसे अत्यंत कल्पना-प्रेरित साहिय का—उसमें रचे गए यथार्थ का भी कुल मिलाकर पाठक पर जो प्रभाव पड़ेगा वह लेखक का उद्दृष्टि प्रभाव होगा, यह कहना कठिन है।** (पृष्ठ ३०-३१)

हैरानी यही देखकर होती है कि सांस्कृति संकट में या देश के निर्माण में लेखक के योगदान की चर्चा करते हुए वे इस पक्ष को विस्मृत कर देते हैं। एक जगह उन्होंने यह चिंता प्रकट की है कि आज 'कैलकुलेटिव थिंकिंग' ही 'मेडिटेटिव थिंकिग' पर हावी हो रहा है—

> **क्या हमारी कविता और हमारे दार्शनिक चिंतन ने भी कैलकुलेटिव थिंकिग की ही लीक पकड़ ली है?** (पृ० १३८)

लेकिन विचारणीय यह है कि साहित्य की राह तय करते हुए और उसका निर्दिष्ट परिणाम चाहते हुए क्या वे स्वयं इसी पथ के पथिक नहीं होते? बहरहाल, यह पथ चुना उन्होंने आर्नाल्ड के प्रभाववश ही है। एलियट का प्रभाव भी उन पर है, लेकिन आर्नल्डि के अनुयायी को एलियट का विरोधी होना चाहिए, क्या इसी सबब पर से उन्होंने आर्नाल्ड की वेदी पर एलियट

(शेषांश पृष्ठ २९ पर)

इस प्रपंच में सिर्फ स्त्री न थी

☐ सुधीश पचौरी

'नो मोर बाथरूम्स' मुस्कराकर वह बोली। जैसे बिहारी की नायिका 'पावक झर-सी झमकि कै गई झरोखे झांकि'। झरोखा नहीं था। बाथरूमनुमा किसी जगह की किवाड़ें थीं। किवाड़ें न कहें। 'किवाड़ों' में भारी दरवाजों का बोध होता है। वे दरवाजे थे। 'डोर'। 'किवाड़ों' में जो भारीपन है, वह 'डोर' में कितना हलका हो जाता है। तो पहले दृश्य में सुंदरी 'पावक झर' की तरह झांकी और बोली' 'नो मोर बाथरूम्स'।

एक झटका। उसके यों बिकने का। यह बिजली के झटके से भी अधिक खतरनाक, जानलेवा था। बेचने की कला का झटका था यह। इतनी सुंदर वह बेची जा रही थी। कह रही थी, 'नो मोर बाथरूम्स'। सामने हल्के-निलहे-हरे चमकदार सेरेमिक रंग में एक कमोड छिप रहा था। पास में बेसिन था उसी रंग का जिसका कमोड था। बाजू में बाथटब था वह भी उसी रंग का। हम कहां आ गए थे। एक रंग की इतनी सारी चीजें आसपास प्रकृति ने कहीं नहीं बनाई। तब यह किसकी दुनिया थी। झटके से उबरते हुए देखा तो सुंदरी गायब थी। अब एक धुन थी और मर्द की आवाज थी फिर अंग्रेजी इबारत थी: 'ओनली ग्लेमर रूम्स'! और फिर सब खत्म! यह एक प्रपंच था। जादुई करामात!

ओह! तो जो उसने दिखाया वह उसकी भव्यता नहीं थी! भव्य कमरा था वह। उस सुंदरी के लिए बाथरूम नहीं थे। भव्य, चकाचौंध भरे कमरे थे। 'ग्लैमर'। मैंने सोचा। ग्लैमर का अनुवाद शब्द कोश में ऐसा दिया है कि दृश्य को समझाता ही नहीं। 'चमक-दमक', 'चकाचौंध', 'दिखाऊ', 'दिखावटी। अंग्रेजी से हिंदी बनाने वाले कोशकार ग्लैमर को खींचकर लाए तो 'दिखाऊ', 'दिखावटी' तक। बहुत सोचा तो 'भव्यता' तक किंतु ये तमाम शब्द हिंदी में जिन स्थितियों का विशेषण बनते हैं वे स्थितियां 'ग्लैमर' से नितांत रहित भी हो सकती हैं। किसी के पास झोंपड़ी है और वह अपनी बीवी को चमकदार साड़ी देता है। वह पहनकर निकलती है। उसे देख उदात्त किस्म का मध्यवर्गी कहेगा कि देखो! कैसी दिखावट आ गई है गरीबों में। वे गाजाबाजा करेंगे तो हम कहेंगे दिखावट। चमक-दमक। राष्ट्रपति भवन पर रोशनी हो जाएगी तो कहेंगे 'भव्य'! उसे 'ग्लैमर' फिर भी न कहेंगे। तो ग्लैमर 'चमकदमक' मात्र नहीं था। तब क्या है ग्लैमर? मैंने पूछा मगर किससे?

एक विचित्र-सी संरचना लहरा रही थी। जो देखा उसकी। जो न देखा उसकी। फिर जो न देखा था, वही टिका रह गया। बाथरूम वाकई न था। न उसका विचार था। इतने ग्लैमर में वह कहां टिकता। तो जो था वह 'बाथरूम' नहीं था। 'ग्लैमररूम' था। बाथरूम में ग्लैमर था। ग्लैमर में बाथरूम था। भ्रांति का ऐसा लुभावना चक्कर था। बाथरूम में था कि ग्लैमररूम में?

बाथरूम में क्या?

बाथरूम में होती है कभी न जाने वाली नमी। हलकी किंतु स्थायी ऐसी गंध जो पेशाब, टट्टी, साबुन, पानी के रुकने-टिकने से बस जाती है। यह उन बाथरूमों की बात है जो फ्लैटों, छोटे-बड़े पक्के मकानों में होते हैं। ये उन महानगरों में होते हैं जहां जलमल व्ययन संस्थान कम से कम पांच दस फीसदी क्षमता तक काम करते हैं। कस्बों में खुले संडास होते हैं। गरीब हरिजन उन्हें साफ करते हैं। नालियां बजबजाती होती हैं। जितना गरीब मुहल्ला, नालियां उतनी ही बजबजाती हैं। गांवों में भी कस्बों की

तर्ज पर अब संडास बनने लगे हैं किंतु वहां बहुमंजिला न होने से वैसी दुर्गंध अधिक देर शायद न ठहरती हो और फिर भारतीय किसान दिशा मैदान का अभी भी आदी है।

तो, इतना तय था कि वह बाथरूम नहीं था। तब वह सुंदरी क्या चाहती थी? वह सुंदरी एक यथार्थ की जगह दूसरा यथार्थ रख देना चाहती थी। कहती थी कि 'बाथरूम' नहीं 'ग्लैमररूम' बनाइए घर में। चूंकि हम विज्ञापन देख रहे थे इसलिए इतना तो शुरू में ही लग गया कि इसने ऐसा कहा है। फिर भी चित्त चकराया। यह देख कि इसमें बेचने की भाषा तो है ही नहीं। 'सुन मेरी ये बिल्लो बॉबी पंद्रह रुपए किलो' या 'आज ही खरीदें 'एक गिलास मुफ्त' वाली विज्ञापन की आदिम शैली के आदी हमारे कान उन आदेशों को ढूंढ़ रहे थे जो डपटकर हमें सभ्य रहने के नुस्खे बताते आए हैं। और इस विज्ञापन में वह कहीं नहीं थे।

यह विचित्र था। अपन्हुति अलंकार था। प्रस्तुत यथार्थ का निषेध था। बाथरूम न था। काव्यशास्त्र के पंडितों ने जिसे सदियों पहले बनाया वह अलंकार सुंदरी के पास था। नायिका भेद की वह कौन-सी नायिका थी जो चुरा लाई आचार्यों के अलंकार? शुक्लाभिसारिका? कृष्णाभिसारिका? हलके लाल नीले सेरेमिक रंगों वाली, उसी में छिपी हुई। 'अपन्हुति अलंकार था कि व्यभिचार, जो रहा था। बाथरूम नहीं था। चमक-दमक कमरा था। रनिवास था। आखिर वह स्त्री क्या कह रही थी? कौन-सी दुनिया है इस दुनिया में? एक वह जो हमारी बनाई हुई है। और दूसरी वह जो फिर हमें बनाती है। हमारी दुनिया, हमें ही बनाती हुई। इन बनाने और बनने के बीच कितने चक्र हैं? एक जो 'है', एक जो 'बना दिया गया' है। ओटोलोजी? कांट का 'होना' और 'बनना' यही है क्या एक सुंदरी ने कांट की तत्व मीमांसा को शिला पर पटक दिया। उस दिन, उस क्षण। ओह! उस रमणी को देखा जिन्हें बिस्तर याद आए, वे धन्यभाग कहां हैं? इस प्रपंच में सिर्फ स्त्री नहीं थी, और सिर्फ स्त्री से बंधी हुई वस्तुएं नहीं थीं बल्कि अगली सदी के विचार थे।

इन विचारों को इससे पहले छुआ नहीं जा सकता था! स्त्री ने उन्हें करीब ला दिया। छुआ दिया। छूने योग्य बना दिया।

छुआ। तरल-चिक्कण। विचार आया।

क्या था?

वह थी।

क्या था?

वह था।

किसी ने एक स्त्री बाथरूम के कमोड से बांध दी थी। वह इठलाकर कहती थी। कोई कराहता था और धुंधलके में सुनायी नहीं पड़ता था। बाथरूम में चिकनाई सोई थी। एक ही रंग में। हलके उदास कुनकुने तौलिए में लिपटा कोई शिशु।

उस रमणी को सबने तो न देखा। जिस नायिका पर यह मार्जीनल कथा बांधी गई, वह सबके नसीब में कहां। पिचासी करोड़ पचास लाख छप्पन हजार नौ सौ सात आठ नौ दस…में से कितनों ने देखी होगी हमारी यह सुंदर वंदरिया? दस फीसदी, बीस तीस फीसदी। कितनी देर तक देखी होगी? यही कोई पंद्रह सेकिंड उसमें भी पांच सेकिंड। शेष में तो बाथरूम ही दिखा। क्या जिसने उसे न देखा, उसके लिए वह थी। यानी यथार्थ के बिना भी एक कथा थी, एक नये यथार्थ की संरचना थी जो कुछ पंद्रह सेकिंड टिकनी थी।

तब 'नो मोर बाथरूम्स'? बच्चों ने पूछा?

हां! हां! बेटे ऐसा ही है यहां। तुम खेल आओ अब।

ऐसा कितने दिनों से है? क्षमा ने पूछा।

शायद दस साल, दस सौ साल से है दस हजार से भी ज्यादह से।

क्या वह बाथरूम नहीं था?

नहीं! वह हमारी बनाई हुई नयी माया थी। वह माया हमें बना रही थी। ईश्वर की जगह विज्ञापन लीला करता था। वह बाथरूम नहीं होने की कह हमें बाथरूम बेचा करता था।

पहले लड़कियां क्या बेचा करती थीं?

जिस्म।

फिर कपड़े-लत्ते, नेलपालिस और माला।

वह किस युग की बात है?

वह अभी खत्म हुए युग की बात है। देखो आजकल एक सप्ताह में एक युग बदल जाता है। एक महीने में एक कल्पांत। सालों ने सब पता लगा लिया है कि इस अजगर को ऐसे नहीं पड़े रहने देना है। बहुत हो लिया। साला पड़ा रहता है अपने मूर्ख अध्यात्म में। अब बेटा विश्वामित्र देख इस सुंदरी को! तेरे सिर पर न दे मारा तौलिया उसने तो अमरीका नाम नहीं है मेरा।

ओह अमरीका? वह चिहुंकी, मेरी पत्नी जो बहुत हिम्मतवाली है, ट्रेड यूनियन किए है, पत्रकार है, फेमिनिस्ट है।

फिर कुछ दिन गुजरे। 'स्टारडस्ट' हमारी प्रिय पत्रिका। वह लाती। हम पढ़ते। इतनी रंगीनियों के बाद आप आसमान में गोते लगाते। महीने के कुछ दिन चैन से कटते।

वह तेज दोपहर थी। धूप सीधी मारती थी। दीवारें तोड़ती थी। खिड़कियों को चटकारती थी। कोई आग लगाने वाला लुक्की लगा गया था। सबकुछ जल रहा था। कूलर चल रहा था। हमारा महान खड़खड़ायमान कूलर। खांटी भारतीय मशीन। तापमान को ढीला करने का औजार। ऐसी धौपर में वह रमणी फिर मुस्करायी। इस बार वह एक पन्ने पर फड़फड़ाती थी। हलके गुलाब खिले थे और वह उनमें से होती हुई आती थी। उसके पास एक त्वचा थी। जिसे वह एक गंभीर उदात्त-सी सुंदरता पर लटकाए थी जैसे गाड़ी की चाबी का छल्ला।

"जब कभी मुझे संपूर्ण त्वचा की जरूरत होती है तो मैं उसे सिर्फ पहन लेती हूं" वह फुसफुसायी।

"क्या?"

"हूं…"

"बाथरूम के पास क्या हरित नीली त्वचा में थी?"

"हूं..."

"तो तुम कोई भी त्वचा पहन लेती हो ? मेरा मतलब है, पहन सकती हो ?"

"हां।"

"तुम हिंदी बोल सकती हो ?"

"बोद्रीला का नाम सुना है ?"

(पंखा एकदम बंद हो गया। कूलर भी। जबकि बत्ती नहीं गई थी। बोद्रीला के जिक्र भर से भारत की डेसू मार्का बिजली का आधा फ्यूज उड़ गया।)

"बोद्रीला को पढ़ो फिर आना हिंदी में बहस करने। मैं यहीं मिलूंगी। इन्हीं पन्नों में।"

"तो क्या तुम खाल बिना पैदा हुई थीं ?" किसी हिंदी भाषी की तरह मैं डरा और खिसियाकर पूछ बैठा। विचित्र नैतिकता से मैं अकड़ गया था। दिमाग में खून के थक्के जमा होने लगे थे। वह नाचने लगी थी।

"मैं सिर्फ एक त्वचा हूं।" उसने उसी शांत मनोहर मुस्कान में कहा। वह गुनगुनाने लगी थी। उसके हाथ में एक ट्यूब थी। उसमें नयी खाल बंद थी।

"तो तुम यथार्थवाद पर बात कर लो" यह मैंने उससे नहीं उसने मुझसे पूछा। मेरे छक्के छूट गए।

"मैं एक मात्र यथार्थ हूं। हूं कि नहीं। बोलो !" उसने ठिठोली के अंदाज में कहा।

"नहीं। तुम माया हो। अनित्य। असत्य। यथार्थ नित्य होता है। तुम नित्य नहीं हो। काल नित्य है। तुम नहीं। सूर्य नित्य है। तुम अनित्य। असत्य। माया। प्रपंच। झूठ। फरेब। अमरीका।"

'अमरीका जितनी सत्य ! क्या तुम्हें वह अनित्य लगता है ! तुम्हारे पेट में रोटी है न उसका रेचक है अमरीका। तुम्हारी इस कमजोर बिजली को चमक देता है अमरीका। जिस हिंदुस्तान टाइम्स सोसाइटी में तुम रहते हो, वह क्या है सिवाय अमरीका की नकल के। साले ! तेरी आत्मा तक में घुसा बैठा है वह और तू चोटीधारी पंडित की जनेऊ को कान पर लपेटता है और अध्यात्म की मांद में घुसा जा रहा है ?

अरे ! ये क्या सुन रहा था मैं। वह खाल नहीं थी। मोडेस्टी ब्लेज थी। गाली उसके मुख से ऐसे निकलती थी जैसे शायरी करती हो। मैं एक बीहड़ विमर्श में उतर चुका था और पहले राउंड में उसने मेरे जबड़े पर एक धर दिया था। मेरी शर्म के गलपटे में कुनकुना दर्द गुंबद बनने को जुट रहा था। वह सुंदरी बॉक्सिंग में सिद्धहस्त थी। आक्रामक, वह यह सिद्ध करने पर उतारू थी कि वह ठोस त्वचा थी। उधर बाथरूम नहीं थे। इधर स्त्री नहीं थी। उधर ग्लैमर रुम्स, इधर सिर्फ त्वचा थी। क्या मैं एक चमड़े से लड़ रहा था !' हिंदी आलोचना ने अपने गौरवपूर्ण इतिहास में चमड़े पर चिंतन ही नहीं किया। न एम० ए० में कोई पर्चा था, न एम० फिल० में। इस नए यथार्थ से झगड़ने के लिए हम पचास करोड़ लोग नाकाफी थे। धूसर, मटमैले, बहते मैले में मह-मह करते उत्तर-दक्षिण के तमाम हम लोग उस एक औरत के आगे लाचार थे। मेरे मन में संचित मेरे भारत के तमाम लोग पराजित थे। मेरे पास जवाब नहीं था। मर्दानगी काम की नहीं थी। मैं उसे औसत भारतीय मर्द की तरह झापड़ रसीद नहीं कर सकता था। काश, वह हाड़-मांस की होती तो देख लेता। मैंने विचारों में संघर्ष जारी रखा। कुत्ती यथार्थवाद पर बहस करती थी।

"तेरा क्या है ?"

"अपना कुछ नहीं है।"

"किसका है ?"

"किसी का नहीं है। तू ले ले तो तेरा है। नहीं, ले तो नहीं है। बस !"

"जब तेरा कुछ नहीं तो तू सत्य कैसे हुई ?"

"इसलिए कि तू इतनी देर से सिर्फ मेरी वजह से परेशान है। मैं तेरी परेशानी की बुनियादी वजह, तेरी परेशानी जितनी तो यथार्थ हूं ही। और तू कहता है, मैं अनित्य हूं। अपने दार्शनिक ढीलेपन से तू मुझे असत्य मान रहा है। जरा चुस्त होकर सोच। कुछ नया पढ़-लिख तो तुझे मैं सत्य नजर आऊंगी। तुम हिंदी वाले बहुत सुस्त कौम हो। कंपनी वाले कहते थे।

"कंपनी वाले ? कौन कंपनी वाले ?"

"त्रिकाया वाले।"

"त्रिकाया ?"

"तुझे नहीं मालूम होगा। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, वह बूढ़ा नागार्जुन की आबादी में रहने वाले तेरा जी के ढीला है। तुझे काल का ज्ञान नहीं है। तू पिछड़ गया है। एक युग पीछे है तू। अब तुझे क्या समझाएं। तेरे बस का नहीं। समूचे हिंदी साहित्य में इस नए यथार्थ को समझने की अक्ल नहीं। अच्छा ! जेमसन को जानते हो ?"

"जेमसन ! क्या कोई मल्टीनेशनल है वह ?"

"तेरे ही कुनबे का है। मार्क्सवादी है। पंडित है। उत्तर आधुनिकता पर उसकी कमेंटरी मुझे भी प्यारी लगती है। तू पढ़ न उसे। तीनमूर्ति में उसकी कई किताबें हैं। अकेला अक्लमंद है वह तुम्हारे कुनबे में। नाम है फ्रेडरिक जेमसन।"

स्टारडस्ट में उदात्त मुस्कान के साथ खाल बेचेने वाली लड़की इतनी गहरी निकलेगी, मुझे सात जन्म ख्याल न था। पढ़ी-लिखी विदुषी नारियां होती हैं। पढ़ी-लिखी, ज्ञानी-ध्यानी और किसी मर्द से कम नहीं। वे बहस कर सकती हैं। शालीन-संकोची और स्पष्ट फिर भी समाज में बनाए गए नियमों के भीतर ही विमर्श करती हुई। एकदम लीगल विमर्श। आप बोलिए। फिर हम बोलेंगे। कोई नहीं हंसेगा। और हम अंग्रेजी में बोलेंगे। भारत के बारे में बोलेंगे। उन तमाम विदुषी और सचमुच ही भली महिलाओं से मेरी बहस हो चुकी थी। किंतु जो ज्ञान इस कागज की लड़की के पास था, किसी के पास न था। त्रिकाया वालों ने किसे भेज दिया मुझ फटीचर के घर ! 'ये साला घर है या कबूतरखाना ! मैं उसे कायदे से बिठा भी नहीं सकता। वह पड़ी थी, स्टारडस्ट के पन्ने में फड़फड़ाती।

फिर मैं उठा। स्टारडस्ट का तिरपनवां पन्ना फाड़ा। उसके पीछे श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, जैकी श्राफ, अनिल कपूर, आमिर खान, अमरीशपुरी,

गुलशन ग्रोवर और संगीतकार नदीम श्रवण, गायिका अनुराधा पौड़वाल अपनी बिंदी के साथ चली आई।

मैंने गोंद लिया। इन सबके मुस्कराते थोबड़ों पर चिपकाया और बाथरूम के शीशे पर लगा आया।

करीब दो सप्ताह बाद डायरिया ने पकड़ा। अमरीका प्रेरित एंटीबायोटिक्स खा गया कि मरते-मरते बचा। घर, बच्चे, बीवी, खूब हलकान हुए। दवाइयों के अमरीकी यथार्थ ने मार कर धर दिया। किसी पुण्य से ठीक हुआ तो एक दिन के०जी० के पास पहुंच गया। के०जी० के पास हर चीज का नुस्खा था। यह भरोसा था।

"यार के०जी० ! क्या तुम अनुभव से बाहर के अनुभव का बयान कर सकते हो ?" मेरा मतलब है कि वह जो सीधा तुम तक न आए, तुम स्वयं उसे क्रियेट करो, अपने लिए, जैसे मैथमैटिक्स में करते हैं कि मान लो 'वन इज इक्वैल टू एक्स'। हाइपोथीसिस की तरह क्या हम अनुभव बना नहीं सकते ?"

इस के० जी० के बारे में मित्रो सिर्फ इतना कहना हुआ कि वह एक कोमल-सा आदमी है। अब तक सिर्फ पढ़ता ही रहा है। कंजूस है···बांटने में बहुत यकीन नहीं करता। और अपना दोस्त है। नयी कहानी के 'मेरे हमदमों' से कुछ गहरा और गैरतमाशाई हमदम। सो अपनी उससे चलती रहती है। वह भी कनफ्यूज्ड है। अपन भी है। सो दोनों में बड़ी तत्व मीमांसा हो जाती है। वह उड़ाता है, मैं काटता हूं। मैं उड़ाऊं तो वो काटे। तीन-चार घंटे के बाद जो पतंगें उड़ती हैं, वे कभी उतर नहीं पातीं। डोर भी उलझ कर पिंडा बन जाती है। उत्तर समाजवाद के इन दुर्दिनों में बहुत सारी डोरें उलझी हुई हैं। मांजा झड़ गया है। सद्दी सद्दी बची है हुचके में।

उस शाम उसके बंद कमरे में बैठे मैंने उससे चंद सवाल किए। एक तो ऊपर वाला था। बल्कि कहिए बुनियादी ही था। मैं 'नो मोर बाथरूम्स' और 'ह्वैन ऐवर आई वांट परफैक्ट लुकिंग स्किन, ऑल आई डू इज वीयर इट' की जटिल स्त्री के यथार्थ के बारे में पूछ रहा था कि क्या ऐसा हो सकता है कि हमें ऐसे लोग मिलें जो हमसे अधिक विद्वान हों और टी० वी० या स्टारडस्ट के पन्नों में सेकिंड्स को फड़फड़ाएं। क्या उन पर कोई कहानी गढ़ी जा सकती है? क्या एक अन्यथार्थ पर कहानी लिखी जा सकती है ? कहानी यथार्थ से खाल की तरह किसने चिपका दी है ? जब कहानी अलग हो चुकी है और खाल अलग से आती है तो क्यों न हम ऐसा करें कि डोरी को हर्षद मेहता बना दें। क्या ऐसा नहीं हो सकता ? यदि ऐसा करें तो क्या वह कहानी बनेगी ? या कि विमर्श, कहानी, आलोचना, बातचीत, रिपोर्ताज, कमेंटरी का एक फेंटा हुआ बकवास एक कथालेख। क्या इस बकवास में अपने काल की कथा कही जा सकती है ?

उस शाम से देर रात तक के०जी० अचरज भरे ढंग से खामोश रहा। फिर तीन-साढ़े तीन घंटे बाद बोला, "तुम इसे लिख डालो। एक बकवास ही बचा है जो लिखा जा सकता है।"

(पृष्ठ २५ का शेषांश)

की बलि चढ़ाई है ? यहां तक कि उसके मंतव्यों को तोड़ मरोड़ कर भी, चाहे वह उनका प्रतिपाद्य नहीं भी था।

लेकिन यह सब कहने का अर्थ उस मूल चिंता से असहमति दर्शाना कतई नहीं है जिससे प्रेरित होकर सबद निरंतर लिखी गई है। एक ओर सृजन की अपनी प्रकृति है जिसे डॉ० शाह अपूर्वानुमेय कहते हैं और दूसरी ओर लेखक पर बाहरी जीवन का बढ़ता हुआ दबाव है। इस स्थिति में लेखक के अपने दड़बे से बाहर आने का अर्थ और रूप क्या हो, उस पर खुली बहस की आवश्यकता है। सबद निरंतर उसी बहस का प्रवर्तन है। यह एक दुर्घटना ही है कि एलिएट के मंतव्यों की डॉ० शाह की व्याख्या भ्रामक बल्कि अनर्थकारी हो गई है। क्योंकि प्रस्तुत आलेख इसी पक्ष पर केंद्रित है इसलिए अन्य बातों की चर्चा मैंने यहां नहीं की है। वह मैंने अन्यत्र की है। इस आलेख को सीमा में ही देखा जाना चाहिए।

उसकी आगोश में

□ **कृष्ण बलदेव वैद**

अब वह मुझे अक्सर दिखाई दे जाती है, कभी-कभी एक ही दिन में कई-कई बार, किसी भी वक्त—जब आधी रात सुथरा सुनसान अंधेरा उगल रही हो, सुबह साफ अंगड़ाइयां ले रही हो, शाम अपने खूबसूरत खून में नहा रही हो, किसी भी वक्त।

अब वह मुझे अक्सर दिखाई दे जाती है, कभी-कभी एक ही दिन में कई-कई बार, किसी भी वक्त, कहीं भी किसी बार की नीली कोख में किसी जशन के लाल उजाले में, किसी गोष्ठी की घुटन में, किसी हवा महल में, पुरानी किताबों की किसी दुकान में, पुरानी यादों के किसी कब्रिस्तान में, किसी अस्पताल की बदबूदार लिफ्ट में, किसी दोस्त दुश्मन की बगल में, अपने ही मन के किसी कोने में, किसी गीली गुफा में, किसी पगली पगडंडी पर, कामना के किसी कानन में, भय के किसी कुएं में, किसी अजनबी आंख के नूर में, किसी भी वक्त, कहीं भी।

अब अगर किसी कारणवश वह दिखाई न दे तो सुनाई दे जाती है, कभी-कभी एक ही दिन में कई-कई बार, किसी भी वक्त, कहीं भी—किसी पक्षी के मौन में, किसी आवाज के सोज में, किसी-किसी आह में, कभी-कभी किसी हंसी में, किसी-किसी सांस में, कभी-कभी हर आहट में, बहते पानी में, किसी बुढ़िया के आशीर्वाद में, किसी बीमार की मुस्कान में, किसी किसी बादल की गरज में, किसी-किसी गूंज में, किसी भी वक्त, कहीं भी, अक्सर अनायास।

अब जब वह किसी कारणवश दिखाई न दे, सुनाई न दे, तो यों महसूस होने लगती है मानो मेरी चेतना में रस-बस गयी हो, जैसे वह किसी भी वक्त, कहीं भी, अनायास देखी जा सकती हो, सुनी जा सकती हो, महसूस की जा सकती हो।

अभी ऐसी अवस्था नहीं आयी कि कह सकूं वह मुझे हर वक्त, हर कहीं, हर चीज, हर आवाज, हर मौन, हर आलम में दिखायी देने लगी है, महसूस होने लगी है, अभी ऐसी अवस्था नहीं आयी, जब आ जाएगी तो कुछ कहने या न कहने की इच्छा नहीं रहेगी, आवश्यकता नहीं रहेगी, कुछ न कह पाने का अरमान नहीं रहेगा और मैं आंखें बंद कर उसकी मस्तालू आगोश में पड़ा रहूंगा, अभी वह अवस्था नहीं आयी, मैं उसी की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

अब कभी-कभी वह बेधड़क मेरे घर में भी घुस आती है, मेरे बिस्तर में भी, मेरे बदन में भी, किसी भी वक्त, कहीं भी, अचानक, और मैं उसे अपने घर बिस्तर बदन से निकाल नहीं सकता, कई यत्न करता हूं, कई याचनाएं, उस पर कोई असर नहीं होता, वह जब जाती है अपनी ही मर्जी से, अपने ही किसी कारण से, मेरी किसी कोशिश से नहीं, और जाते-जाते साफ सुना जाती है, फिर आऊंगी, जरूर आऊंगी, किसी भी वक्त फिर आ जाऊंगी, कहीं भी, अनायास, जब तुम्हें मेरे आने का कोई खटका नहीं होगा, जब तुम अपनी मामूलियत में मस्त मौज उड़ा रहे होगे, कि तुम मुझसे बेखबर तो हो सकते हो, मुक्त नहीं, जब तक तुम हो, जब तक मैं हूं, जब तक यह सब है, मैं फिर आऊंगी।

शुरू के दौर में उससे दहशत ही हुआ करती थी, उसे देखने से, सुनने से, महसूस करने से, उसके खयाल से भी, उसे भोगने की उत्कट लालसा के बावजूद, उसकी आगोश में जा गिर गहरी नींद सो जाने के साथ, उस पर विजय पा लेने की ख्वाहिश के बावजूद, शुरू के दौर में अपने खौफ को

अपनी ख्वाहिश से अलग करना असंभव लगता था, और मैं अक्सर अंधेरे में पड़ा-पड़ा अंधेरे से दुआएं मांगता रहता था कि वह मुझे मेरे हाल पर छोड़ दे, मुझसे दूर रहे, दूसरों के पास जाती रहे, मेरे पास कभी न आए सपनों में भी नहीं, सपनों में तो हरगिज नहीं, क्योंकि वहां उसके तेज का सामना करना और कठिन हो जाता था, उसके मौन को संभालना असंभव हो जाता था, उसकी एक ही झलक से स्वप्न का समां यों बदल जाता था कि दूसरे दिन महसूस होता था मानो रात किसी नागिन के संग गुजरी हो, शुरू के दौर में अगर वह पास से भी गुजर जाती तो मेरा खून सफेद हो जाता था, महसूस होता था मौत पास से गुजर गयी हो, उस दौर में उससे बचने के लिए, बचे रहने के लिए, मैं अपने रास्ते और रहन-सहन बदलता रहता था, दुनिया के धंधों में उलझा रहता था, उस दौर में अपनों-परायों को हिदायत कर रखी थी कि उसका नाम तक मेरे सामने न लें, उसकी मनमानियों की तरफ कोई संकेत न करें, उसके रूप को कोई रेखा न दें, मेरी मौजूदगी में उसके बारे में सोचें तक नहीं, शुरू के दौर में मुझे जितनी दहशत उससे हुआ करती थी, किसी और से नहीं।

उस दौर में मैंने यह खुशवहमी पाल रखी थी कि मैं उससे बेखबर रहूंगा तो वह भी मुझसे बेखबर हो जाएगी, मुझे भूल जाएगी, कि मैं उससे दूर रहूंगा तो वह भी धीरे-धीरे मुझसे दूर होती चली जाएगी, कि मैं उसके सम्मोहन को स्वीकार नहीं करूंगा, कि मैं उसके जाल में कभी नहीं फसूंगा, उस दौर में मैं दूर से भी उसे सलाम नहीं करता था, भूले से भी उसकी आंख से आंख नहीं मिलाता था, उस दौर में मैं उसे जान और ईमान का दुश्मन समझता था, इसीलिए शायद मैंने यह खुशवहमी पाल ली थी कि मैं उससे बेखबर रह सकूंगा।

अब भी उससे खौफ तो कम नहीं खाता लेकिन यह खुशवहमी मर चुकी है कि मैं उससे बेखबर रह सकता हूं, कि उससे बेखबरी का ढोंग रचा कर उसके खौफोखयाल को मार सकता हूं, कि मैं जान और ईमान को सलामत रख सकता हूं, कि उन्हें सलामत रखना जरूरी है, कि मेरी नींद को कभी कोई आंच नहीं आएगी, कि मेरी दुनिया हमेशा बनी रहेगी, सच तो यह है कि अब किसी भी खुशवहमी का सहारा नहीं रहा, कि अब उससे बेखबर रहना एक साथ असंभव और अनावश्यक लगने लगा है, अब वह मेरी हर सांस में फांस की तरह उलझी रहती है, अब उसका खयाल हर-दम मेरी खाक में चमकता रहता है, अब उसके खौफ से भी खुशबू आती है, अब उसकी आगोश ही एकमात्र असली पनाह नजर आती है, अब उसी के प्रताप से कभी-कभी अपनी खाक से भी नूर फूटता नजर आता है, अब भी उससे खौफ तो आता है लेकिन अब मैं उसे ख्वाहिश में बदल लेता हूं, अब मैं उसी खौफ के सहारे जिंदा हूं।

अब वह लगातार कुछ दिन नजर न आए, सुनायी न दे, महसूस न हो तो मैं निराधार हो मरने-बिखरने लगता हूं, फिर हर चीज से डरना शुरू कर देता हूं, खाक हो जाता हूं, सिर्फ खाक होकर रह जाता हूं, आवाज से ओज उड़ जाता है, कुछ याद नहीं कर पाता, कुछ भूल नहीं सकता, बेनूर हो जाता हूं, शब्द खोखले हो बजते हैं, सोच सच्चाई से खाली हो जाती है, किसी परिंदे पर आंख नहीं टिकती, कान इकहरे हो जाते हैं, कहीं कोई किरण नहीं दिखती, आकाश अर्थहीन हो जाता है, धरती मिट्टी का एक मोहमल ढेला, हवा भर जाती है, सितारे सिफर हो जाते हैं, अब वह लगातार कुछ दिन नजर न आए, सुनायी न दे, महसूस न हो तो मैं किसी अनाथ अंधे की तरह मुंह बाए इधर-उधर झूलना शुरू कर देता हूं।

तो आज शाम भी मैं इसी तरह इधर-उधर झूल रहा था, मकबरों वाले बाग में, क्योंकि कई दिनों से वह कहीं दिखायी नहीं दी थी, सुनायी नहीं दी थी, महसूस नहीं हुई थी, और मैं सोच रहा था कि हो सका तो रात भी वहीं कहीं किसी मकबरे में गुजार दूंगा, कि शाम को वहां अपने ही जैसे अनाथ अंधों को इधर-उधर झूलते पाकर कुछ कड़वी सांतुना मिलेगी, कि शायद रात को वह किसी सपने में ही मेरे साथ आ सोयेगी, कई दिनों से वह किसी सपने में भी नहीं आयी सो मैं बेइंतहा बेनूरी के आलम में घबराया हुआ-सा इधर-उधर झूल-झांक रहा था और उसे याद कर रहा था।

कई बार याद करने पर भी वह दिखाई नहीं देती, बस एक धुंध-सी नमूदार होकर सामने अंगड़ाने लगती है, एक मनोहर नीली धुंध जिसमें से कभी जैज पियानों के नीले बुलबुले उठते सुनायी देते हैं, कभी सरोद की पारदर्शी पुकार, और मैं कल्पना कर लेता हूं कि वही सुनायी दे रही है, वही दिखायी दे रही है, कि अगर दम न टूटा तो शायद उसका साफ दीदार भी हो जाए, तो शायद किसी जादू से मैं उस अंगड़ाती हुई धुंध में से उसकी कोई एक मूर्ति उतार लूंगा, लेकिन कभी-कभी कल्पना भी कोरी हो जाती है और मुझे उसकी धुंध पर ही संतोष करना पड़ता है।

आज शाम मकबरों वाले बाग में झूलते झांकते मैं उस शाम को भी याद कर रहा था जब एक अजनबी शहर के एक काले नीले बार में मैंने उसे पहली बार देखा था, जब अपने भीतर भटकता हुआ मैं न जाने किन रास्तों से होता हुआ उस कोने में जा पहुंचा था जिसमें वह अकेली बैठी हुई थी, धुंध में लिपटी हुई, खामोश, खूबसूरत, खौफनाक, सबसे अलग, सबसे ऊपर साक्षात् संगीत, साक्षात् मौत और मेरे रोए खड़े हो गए थे।

आज शाम मकबरों वाले बाग में अनायास वह शाम याद आ गयी थी और मैंने उसके बारे में सोचना शुरू कर दिया था, हालांकि मुझे सोचना नहीं आता, किसी भी बात या व्यक्ति या विक्ता या वस्तु या पुस्तक या संभावना—इस सूची का कोई अंत नहीं—को लेकर मेरे मन में जो मटियाली मौज-सी उठ खड़ी होती है, उसे सोच की उपाधि सिर्फ सहूलियत के लिए ही दे लेता हूं, सोचना मुझे नहीं आता, फिर भी आज मकबरों वाले बाग में मैं उसके पहले दीदार को याद कर रहा था और उसके बारे में सोच रहा था, मेरी आंखें आधी बंद थीं, उसके बारे में सोचते समय मेरी आंखें पूरी तरह बंद कभी नहीं होतीं, मैं उन्हें होने ही नहीं देता, डरता हूं, बेहोश हो जाऊंगा, अधूरा बेहोश, अधूरी बेहोशी से डरता हूं, मौत को ही अब असली बेहोशी मानता हूं, नकली बेहोशी से अब तसल्ली नहीं मिलती, नकली बेहोशी से डरता हूं, मौत से नहीं, अब नहीं, जब से उस हरजाई को अपनी नियति या अपना अभिशाप मान लिया है तब से नहीं, तबसे मौत को एक अमर माशूका के रूप में देखना शुरू कर दिया है।

सो मैं आंखें आधी बंद किए उसके बारे में सोच रहा था, क्योंकि कई दिनों से वह कहीं दिखाई नहीं दी थी, सुनायी नहीं दी थी, महसूस नहीं हुई

थी, किसी सपने में भी नहीं, अपने मन के किसी कोने में भी नहीं, अपने बिस्तर या बदन में भी नहीं, और मैं निराधार हुआ जा रहा था, मैं आंखें आधी वंद किए उस शाम को याद कर रहा था, उसके पहले दीदार को याद कर रहा था, नीली धुंध में खोया हुआ उसके बारे में सोच रहा था, हालांकि मुझे सोचना नहीं आता, किसी भी याद या यंत्रणा को लेकर मन में जो मलियाली मौज-सी उठती है, उसे ही सहूलियत के लिए सोच की उपाधि दे लेता हूं।

सोचते-सोचते जब नींद-सी आने लगी—उस वक्त मैं एक मकबरे की मुंडेर से टेक लगाए टेढ़ा खड़ा था—तो मैंने ऊपर छाए आकाश का सहारा लिया, क्योंकि ऐसा करने के लिए अपना सर उठाने और आंखें सुकेड़ने के अलावा कुछ करना भी नहीं पड़ता, और अनंत में उड़ने का सुभ्रम भी हो जाता है, मैली मामूलियत से ऊपर उठ जाने का सुभ्रम, मुक्ति का सुभ्रम जो हर मामूली इनसान को अपनी मामूलियत के साथ चिपके रहने की शक्ति भी देता है, उसकी शिकायत करने की शक्ति भी, वैसे भी मैंने आकाश को अनेक देशों की धरती पर खड़े होकर निहारा है लेकिन जितना अलग वह अपने देश की धरती से दिखायी देता है उतना कहीं और से नहीं, अपने देश के दुख और दोष उसके आकाश के कारण कुछ कम दुष्कर हो जाते हैं, मेरे लिए, औरों का मुझे मालूम नहीं, हालांकि मैं जानता हूं कि आकाश का कोई देश नहीं, धर्म नहीं, धरती का भले ही हो, कि आकाश का कोई ठोर या छोर नहीं, हमारा ही एक दृष्टिकोण है कि जिसे हमने एक एक ऊंचा नाम दे रखा है, यहसब जानता हूं फिर भी आकाश में उड़ने से बाज नहीं आता, उड़ने की कोशिश से बाज नहीं आता।

सो आज शाम मकबरों वाले बाग में उड़ने के लिए मैं अपना सर उठा ही रहा था कि मेरी निगाह उसके झुके हुए सर पर जा पड़ी और मुझे भ्रम हुआ जैसे कहीं ऊपर से मैंने एक झुका हुआ आकाश देख लिया हो—आज से पहले मैंने उसे मकबरों वाले बाग में कभी नहीं देखा था, उसके सर को झुका हुआ कभी नहीं देखा था—लेकिन उसे पहचान लेने में मुझे कोई देर नहीं लगी, क्योंकि उसकी गरदन से उठती हुई लौ किसी और की हो ही नहीं सकती थी, उसके बालों के बादल किसी और के हो ही नहीं सकते थे, इसलिए उसे पहचानते ही मैं सारे का सारा न जाने कितनी देर के लिए सुन्न हो गया, एक आकाश को भूल दूसरे में खो गया।

मकबरों वाले बाग में मैं तभी जाता हूं जब कहीं और जाने से चैन नहीं मिलता, वैसे चैन तो वहां जाने से भी नहीं मिलता लेकिन मकबरों के कारण महसूस होता है मिल रहा है, मिल जाएगा, शायद मिल जाएगा, वहीं कहीं पड़ा या खड़ा रहूंगा तो शायद मिल जाएगा, नहीं भी मिलेगा तो मन पर आया संकट टल जाएगा, मकबरों वाले बाग में मैं तभी जाता हूं जब बेजारी इंतहा पर पहुंच जाती है, जब मुझे महसूस होता है कि वह इंतहा पर पहुंच चुकी है, जब मैं हर तरह से हार जाता हूं, हर तरफ से घिर जाता हूं, जब संकट अटल नजर आता है, जब उसकी आगोश में जा गिरने की तमन्ना रहा सहा खून खींच लेती है, जब वह लगातार कई दिनों तक कहीं नजर नहीं आती।

सो आज शाम मेरी निगाह उसके झुके हुए सर पर पड़ी तो न जाने कितनी देर बाद जब मैं सिफर-स्थिति से उभरा तो सबसे पहले मैंने यह खैर मनायी कि उसने मुझे नहीं देखा कि छूटते ही मुझे उसकी आंखों की आग का सामना नहीं करना पड़ा, कि मुझे यह सोचने का अवसर मिल गया है कि मुझे क्या करना चाहिए। हालांकि मुझे सोचना नहीं आता, मैं जो करता हूं अपनी किसी सोच के अनुसार नहीं करता, मैं अक्सर वही करता हूं जो सोचता हूं मुझे नहीं करना चाहिए, नहीं करूंगा, तो मैंने खैर मनायी कि वह मेरी तरफ पीठ किए मुझसे धोखा कर बैठी थी, हालांकि उसे मेरी हर हरकत और हालत की खबर हरदम रहती है, मेरा कोई गुमान या अंदेशा उससे किया हुआ नहीं, मैं उसके सामने पानी की तरह नंगा हूं, सो मुझे शक था कि उसने मुझे जैसे तैसे देख लिया होगा, कि उसे मालूम था कि मैं उसके बादलों की बहार देख रहा था और सोच रहा था मेरा क्या होगा!

मैं चाहता तो उसे भूलकर ऊपर वाले आकाश में उड़ सकता था, और नहीं तो यही देखने के लिए कि उसके आकाश में और ऊपर वाले आकाश में क्या अंतर है, कितना है, लेकिन नहीं, मैं चाहता तो भी उसे भूल कर कहीं और नहीं उड़ सकता था, वैसे मैं यह भी देखना चाहता था कि उसके झुके हुए सर के आकाश में खो जाने से अनंत में खो जाने का जो अनुभव या भ्रम हुआ था वह लौटता है या नहीं, मुझे मालूम था वह लौटेगा नहीं, मेरा कोई भ्रम या अनुभव लौटता नहीं, मुझे उन लोगों से ईर्ष्या होती है जिनके अनुभव और भ्रम भुरभुरे नहीं होते, जिन्हें अपने भ्रम दूसरों के विश्वासों से भी अधिक ठोस नजर आते हैं, लेकिन मुझे किन लोगों से ईर्ष्या नहीं होती, मुझे तो गली के तिनकों से भी ईर्ष्या होती है, मुझे अपना कोई गुण या तो दिखायी नहीं देता या उस पर गोबार का गुमान होता है, मैं ऊपर वाले आकाश में उड़ना चाहता तो भी दम साधे वहीं खड़े रहने के सिवा कुछ नहीं कर सकता था, मैं आकाश में भी शायद उसी की तलाश करता रहता हूं, वैसे भी उसे देखते ही मैं जड़ हो जाता हूं, उड़ना तो एक तरफ रेंगना भी असंभव हो जाता है, फिर भी अपने मन-मान को मरने न देने के लिए सोचता यही हूं कि उड़ रहा हूं, अंदर-ही-अंदर, चोरी-चोरी।

यह गनीमत समझता हूं कि उसकी पीठ मेरी तरफ थी, अगर उसका रुख मेरी तरफ होता तो मुझे महसूस होता मानो मेरी आंखों में नीली रोशनी झोंकी जा रही हो, और मैं उसके बादलों की बहार अधमुंदी आंखों से नहीं देख पाता, सो मैं खैर मना रहा था और सोच रहा था कि समझदार बूढ़े हर नयी तड़प-झड़प से परहेज करते हैं, बलाओं से दूर भागते हैं, बालों और बादलों का फर्क जानते हैं, मकबरों वाले बाग में नहीं भटकते। मैं सोच रहा था, मैं समझदार बूढ़ा नहीं होता तो किसी जवान मजनूं की तरह इस मकबारे की मुंडेर से टेक लगाए उस हरजाई के बालों को न बुहार रहा होता, मैं सोच रहा था कि बूढ़े मजनूं बेहूदा होते हैं, बूढ़ों को कोई भूख शोभा नहीं देती, मेरी तरह के आवारागर्द बूढ़े भिखारी या पागल नजर आते हैं, भिखारी या पागल हो जाते हैं, उन्हें आराम से घर बैठे रहना चाहिए, किसी कोने में किसी चिथड़े की तरह पड़े रहना चाहिए या बेघर हो जाना चाहिए, किसी गुफा को ही घर बना लेना चाहिए, मैं सोच रहा था कि बूढ़ों को मौत क्यों इतनी मुश्किल से आती है मुझे कब आएगी,

कैसे आएगी, मुश्किल से आएगी बिस्तर में आएगी या बाग में, होश में आएगी या बेहोशी में, मैं यह सब सोचते-सोचते अपनी मौत से खेल रहा था, और तभी एक कौंध-सी मेरी चेतना पर टूट पड़ी कि मेरी मौत तो मेरे सामने बैठी हुई थी, मेरी तरफ पीठ किये, किसी दूसरे को अपनी आगोश में लिये, उस पर अपना सिर झुकाए, उसके चेहरे को अपने बादलों से सहलाती हुई, उसे लोरियां-सी देती हुई।

इस कौंध से मेरी तंद्रा टूट गयी, और मैं मुंडेर से टेक हटा कर पांच सीढ़ियां उतर कर नीचे, घास पर जा खड़ा हुआ, उसी घास पर जहां मुझसे तीन कदम दूर वह किसी दूसरे को आगोश में लिये बैठी थी, आंखें मूंदे, शब्दहीन लोरियों से उसकी नींद को गहरा रही थी, उसे कहीं और ले जा रही थी, उसके सफेद बालों को अपनी अंगुलियों से संवारती हुई, उसके मुचड़े हुए चेहरे को अपने बालों से बुहारती हुई, किसी मां या माशूका की तरह, मुझसे बेखबर।

वह बूढ़ा मुझे बेघर नजर आया, भिखारी नजर आया, पागल नजर आया।

और वह बेवफा उसकी जान लेने में इतनी मग्न थी कि उसने मेरी मौजूदगी को महसूस तक नहीं किया।

मैं तीन कदम चलकर ऐन उन दोनों के पास उनके सर पर जा खड़ा हुआ तब भी उसने सर नहीं उठाया।

शायद वह देखना चाहती थी मैं क्या तमाशा करूंगा।

मैंने कोई तमाशा नहीं किया।

शायद मैं देखना चाहता था वह क्या तमाशा करेगी।

उसने कोई तमाशा नहीं किया।

उसका सर उस बूढ़े के सर पर झुका झूल रहा था, उस बूढ़े की आंखें बंद थीं, उसका मुचड़ा हुआ चेहरा एक नूरानी फूल में बदलता जा रहा था, मुझे महसूस हो रहा था उसका सर मेरा था, उसके सफेद बाल मेरे थे नूरानी फूल में बदलता उसका मुचड़ा हुआ चेहरा मेरा था, वह बूढ़ा मैं ही था। मैं वह बूढ़ा भी था, और वह बेवफा मेरे सर पर झुकी अपने बादलों से मेरे मुचड़े हुए चेहरे को बुहारती हुई, उसे एक नूरानी फूल में बदलती हुई, मेरी जान ले रही थी।

किंतु

□ उषा महाजन

"हलो ?"

"हलो !"

"हां, बोलो ?"

"अभी फिर आया था, डैड कॉल !"

"कौन हो सकता है यह कंबख्त ? सोचा तुमने ?"

सोचा क्या ? जानती है। और खूब जानती है। नादान बनने का अभिनय भी कितनी कारीगरी से कर लेते हैं भुवन ! अच्छी तरह जानती है वह कि 'स्लो पॉयजनिंग' कर रहे हैं वे उसे। उसे उलझाने का इससे बेहतर तरीका भी और क्या होगा। सारा दिन बेचैन रहेगी अब वह। उनके तो एक तीर से दो शिकार। पता भी कर लिया कि घर पर ही है वह। टैक्सी लेकर भी पहुंचे वहां खोज-खबर करने, तब भी घंटा भर से तो क्या ही कम समय लगेगा घर से एस० पी० मार्ग तक पहुंचते। और घंटा भर का समय कोई कम तो नहीं था, उस औरत से उनके मिलने के लिए।

नहीं ! यह केवल उसके मन का भ्रम नहीं हो सकता। हरगिज नहीं। उसने देखा है भुवन को, उस औरत को ताकते हुए। उसकी आंखों में झांकते हुए। बल्कि यों कहें कि उन दोनों को एक-दूसरे की आंखों में झांकते हुए। और वह जानती है उस तरह एक-दूसरे की आंखों में झांकना क्या होता है।

"ब्लडी शिट, श्रावणी ! तुम तो पागल ही होती जा रही हो ! मेरा उस औरत से कोई वास्ता नहीं है। 'विडो' है बेचारी ! अपना एक 'इंडस्ट्रियल यूनिट' चलाती है। हमारी कंपनी को माल सप्लाई करती है। और इसी सिलसिले में उससे संपर्क होता है मेरा। दैट्स ऑल ! बस, प्रोफेशनल बेसिस पर। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। और तुम हो कि ·· हजार बार दोहरा चुका हूं कि आई बिलांग टू यू एंड ओनली यू ! पर ·· तुम हो कि···। आखिर उस औरत में है क्या कि···!"

अजित में आखिर क्या था ? सिवाय पढ़ाई-लिखाई की परिष्कृति के कुलीनता की कोई विरासत नहीं। खूबसूरती की कोई शर्त उसकी शक्लो-सूरत पूरी नहीं करती थी। फिर भी क्या था उसमें कि वह उसे दुनिया के सभी पुरुषों से सुदर्शन और सभी गुणों से संपन्न मानती रही थी।

उसके कलेजे में एक हील-सी उठी।

भुवन को उसने जिन नजरों से उस औरत को ताकते देखा था, वह किसी भी तरह किसी महिला की तरफ किसी पुरुष का सामान्य रूप से देखना भर नहीं हो सकता था; जब चाहे जितना झुठला ले भुवन, जो कुछ भी कह कर !

"कुछ समझो, श्रावणी। तुम नाहक परेशान होती हो तो मुझे दुख होता है तुम्हारे लिए। पर तुम्हें तो ख्याल नहीं आता मेरे बारे में यह सब सोचते-कहते। पहले भी तुमने एक बार हंगामा खड़ा किया था मेरे हाथ के लिखे किसी औरत के नाम-पते की किसी पुरानी पर्ची को लेकर। क्या-क्या नहीं कहा था तुमने—कि मेरे अजनबी औरतों से संबंध हैं, कि मैं···! बाद में काफी खोजबीन के बाद तुम्हें पता चला कि तुम्हारी ही किसी भूली-बिसरी शिष्या ने तुम्हारी अनुपस्थिति में फोन पर अपना नाम पता छोड़ा था जिसे मैं समय पर तुम्हें बताना भूल गया था। खैर···! और फिर तुम क्या समझती हो कि मैं दफ्तर में मक्खियां मारने जाता हूं। काम से पल भर को फुर्सत

नहीं मिलती वहां। इतना काम पेंडिंग छोड़कर, कैसे सोच सकती हो तुम, श्रावणी कि मैं किसी से मिलने···!"

अजित भी तो मिलता था उससे, अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद।

"चाय पियोगे ?"

"नहीं मीटिंग छोड़ कर आया हूं। पिलाना ही है तो शरबत-वरबत पिला दो जल्दी से···"

"और बाबूजी कहां हैं ?"

"बाबूजी वहीं हैं, मीटिंग में !"

शरबत वहीं पड़ा-पड़ा चाय-सा गर्म होता रहता। अजित को याद ही कहां रहती कि जल्दी लौटने को कहा था उसने ! एक-दूसरे के सामीप्य के तन्मयता के क्षण होते थे वे जिसमें समय भी मदहोश-सा यों तिरने लगता जैसे वह भी एक भागीदार हो उनकी आत्मविस्मृति की उस अवस्था का।

भुवन के साथ क्यों नहीं हो पाता वैसा। कुछ भी अनायास नहीं होता उनके साथ सबकुछ व्यवस्थित-सा, पूर्व निर्धारित-सा, योजनाबद्ध। देहों को भोगना भी दिनचर्या के क्रम में शामिल। अनुभूतियों के चरमोत्कर्ष के क्षण नहीं, विवाह की शर्तों के सिलसिले की कड़ियां। कहीं कोई उछांह नहीं, कोई धड़कन, कोई उद्वेग नहीं। निभाते चले जाने की व्यवस्था का बासीपन केवल। बिना बात ही क्या कभी उसके हाथ को भी हाथ में लेकर देखा था भुवन ने।

अजित उसके चेहरे की हर शिकन, हर स्मित, हर रेखा को पहचानता था।

"ऐ तुम्हारे चेहरे पर यह अद्‌भुत क्रांति ! सच कहूं, सवी। लगता है···लगता है जैसे तुम···"

बस वही एक वक्त सबसे व्यथित जिया था उसने अजित के साथ।

"तुम्हें क्या ! तुम पुरुष हो न ! कुछ भी सोच सकते हो ! कोई भी कल्पना, कोई भी मंसूबा तुम बना सकते हो, बिना परिणामों की सोचे, क्योंकि तुम्हें तो···"

"नहीं, सिर्फ सोचता ही नहीं। पूरा भी कर सकता हूं। बोलो ! करोगी मुझसे विवाह ?"

"तुम्हारी पत्नी के रहते ?"

"तुम जानती हो, सवी ! तुम्हारे बाबू जी भी जानते हैं कि···उस शादी को भी तुम शादी कहोगी ?"

"क्यों ? बेटा भी तो है तुम्हारा। छोड़ दोगे उसे भी ?"

"सवी तुम कहोगी तो···"

नहीं ! उसने कुछ नहीं कहा था। सिर्फ सोचा था। इतना सोचा था कि कुछ कहने या न कहने की कोई स्थिति ही कहां बनती थी ! कैसी हैं इस जीवन की विडंबनाएं ! किन-किन चक्रव्यूहों में फंसाती है नियति भी इंसान को ! जानकर भी निःसृति का द्वार भेद नहीं पाता है वह।

अजित फिर भी आता रहा। बस एक तीखी लक्ष्मण रेखा बरबस ही आ खिंची थी उन दोनों के बीच, कुछ न पूछने और कुछ न कहने की।

उसके लिए तो सबकुछ ऐसे भी चलता रहता तो भी कुछ ऐसा नहीं था उसे व्यग्र करने को। पर बाबूजी की व्यग्रता थी कि चिंता की कगार तक-आ बैठी थी। राजनीति की उलझनें होती ही ऐसी हैं कि तमाम हेर-फेर में फंसे रहने के बावजूद भी व्यक्ति अपने जीवन के असली सरोकारों से तो जाने-अजाने बेसुध बना ही रहता है। अकेली बेटी पर घर-गृहस्थी का तमाम बोझ लादे कैसे बेखटके कैसे बिचरते रहे थे वे अब तक। कॉलेज में पढ़ाती है। समझदार लड़की है। अपना भला-बुरा जानती है। अपने जीवन को स्वयं नियमित-नियंत्रित करती आयी है, करती रहेगी। पर उम्र के इस पडाव पर आ पहुंची थी वह कि अब उसे और इसी घर से बांधकर नहीं रखा जाना चाहिए था, यह तो जैसे एकदम ही सूझा उन्हें। अब और कब तक करती रहेगी उनकी ही देखभाल !

श्रावणी को भी शायद कहीं तो इतना लगा ही था कि अब अगर समय को नहीं पकड़ पायी तो मौका चूक जायेगी वह। दबी-बसी-सी इच्छा फन उभारती—कोई घर उसका अपना भी हो। एकदम उसका अपना और··· कोई कांति सचमुच ही क्यों न चमके उसके चेहरे पर।

सचमुच अपने चेहरे को देखकर तब एक अद्‌भुत उल्लास से भर-भर उठा था उसका हृदय। इसके बिना भी उसके स्त्री होने की सार्थकता कहां थी। भुवन भी तब ऐसे तो नहीं थे इतने निरपेक्ष, ऐसे निर्मोही !

एक चुभन, छद्‌म-सा एक भय उसे घेरने लगा। दूर-दूर तक निर्जन, निस्सहाय उसका आंतरिक जीवन !

अजित की स्मृतियां किसी अनाहूत अतिथि-सी मन को बोझिल कर गयीं।

बाबूजी ने बताया था कि अजित बेटे को अपने पास लखनऊ ले आया था।

कौन देखता होगा लड़के को ? गांव से क्या वह उसे भी···? कितना कुछ और भी पूछना चाहा था। बाबूजी से, पर पूछने को जबान खुल ही न पायी।

एक पछतावा-सा अपने किसी अधिकार से अनचाहे वंचित होने का आभास। कुछ अनुचित, अनीतिपरक तो नहीं हुआ होता, अगर मान लेती अजित का कहा। किसके साथ न्याय-अन्याय हो रहा होता, यह सोचना तो अजित का काम था, उसका तो नहीं। तब फिर अपने ही सुख पर कुठाराघात करने का निर्णय स्वयं ही क्यों ले लिया उसने ? विवाह के बिल्ले के सिवा भुवन के साथ जिए जा रहे इस जीवन में मिला ही क्या उसे ! पोसा हुआ जंतु भी अपनी आंखों से ही जता जाता है स्वामी के प्रति अपने स्नेह को ! कोई भाषा, कोई शिल्प तो नहीं जानता वह। और इंसान भी शायद जंतुओं से ही वैसा प्यार भी कर सकता है, क्योंकि मूक जो होते हैं वह। दया के पात्रों को प्यार करना भी कितना आसान और आत्मतुष्टि देने वाला होता है। न कोई बराबरी की मांग, न कहीं किसी प्रकार का दायित्व बोध ! और सबसे अधिक, तो दाता होने का इतना बड़ा संतोष !

भुवन के तमाम आश्वासनों के बावजूद भी क्यों नहीं स्वीकार कर पाती वह उनके पक्ष को। भुवन ने अपने अंतरतम के बिंदु तक पहुंचने ही कहां दिया उसे कभी। उनके उसके प्रति अपने लगाव को बार-बार दोहराने के बाद भी क्यों उसे शंका बनी रहती है हरदम कि उन्होंने अपना मन रहस्यमयता के ऐसे दुर्भेद्य दुर्ग में बांध रखा है जहां पहुंच पाने की वर्जना है

उसके लिए। और एक वह है कि भीतर धधकते ज्वालामुखियों के फूटने की प्रतीक्षा की बेचैनी से व्याकुल। क्यों नहीं अपने मन का सबकुछ खोल कर बताते वे। और क्यों नहीं जानना चाहते कि क्या मथता रहता है उसको पल-पल। क्यों यह मनुज इतना शांत, इतना आवेशहीन। संवेदनाओं का ऐसा शून्य, भावनाओं का इतना दारिद्रय इस व्यक्ति में। प्रेम का बीज नहीं पड़ा इस पुरुष के हृदय में।

लेकिन ! तब क्यों फिर उस औरत के लिए···?

"हलो, सर ! आपके इंस्पेक्टर ऑफ वर्क्स को आना था कल हमारे यहां माल को पास करने। आए नहीं वह। ट्रक कल से खड़ा है फैक्टरी के गेट पर। बहुत नुकसान हो रहा है, सर, हमारा ! मैं तो सोचती थी कि आप खुद ही अगर एक चक्कर···"

"हां, हां ! देखता हूं दफ्तर जाकर। आयम श्योर, आज जरूर पहुंचेंगे हमारे आई०ओ०डब्ल्यू० आपके यहां ! नहीं तो फिर···प्लीज डोंट वरी··· मुझे ख्याल रहेगा···।"

पैरेलल फोन पर सब सुन रही थी वह। कितने चौकन्ने रहते हैं भुवन कि बोलते वक्त भी सारी एहतियातें लेना याद रहता है उन्हें। पर जानती है वह कि दफ्तर के काम के बहाने वे उस औरत से···

लेकिन सचमुच ! आखिर है क्या उस औरत में ?

क्यों ?

और कुछ नहीं, तो उससे ज्यादा जवान तो है। अकेली भी। और फिर, वैधव्य के आवरण में दया की पात्र भी तो। उस जैसी चिड़चिड़ी और तानाखोर तो नहीं।

"प्यार ऐसे नहीं जीता जाता, श्रावणी। ऐसे तो तुम मुझे और दूर कर देती हो अपने से।"

हां ! पति का प्यार ऐसे तो नहीं जीता जा सकता। अपना अधिकार जता कर। जीतना है तो जीतो उसके पैर की जूती बन कर।

वह चाहती है अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ पूरी सच्चाई से एक भरा-पूरा जीवन जीना, भुवन के साथ। पूरी तरह खुल कर, पूरी तरह जीवंत। अपने तमाम गुणों-अवगुणों के साथ।

पर भुवन। उन्हें जीना है अपने आप में ही। बांट कर जीना उन्होंने जाना ही कब।

पर, उस औरत के साथ तब फिर···?

भुवन उसके साथ छल कर सकते हैं तो उसे भी अपना जीवन अपने तौर पर जीने का हक है। उसने तो अपने विगत को भी भुला डाला था। पूरी निष्ठा के साथ, पूरी तन्मयता के साथ समर्पित थी वह गृहस्थी के इस यज्ञ को। विचलित तो भुवन ही हो रहे थे। मौका क्या उसे नहीं मिला कभी ! पर वह संभालती रही थी स्वयं को।

उसके यहां आने के बाद पहली बार आया था अजित तो प्रदेश के विश्राम गृह से फोन मिलाया था उसे उसने। अनकही, अजानी-सी बेचैनी और दुविधा में मथी वह तय भी नहीं कर पा रही थी कि उससे बात करना भी अब उसके लिए उचित था अथवा नहीं। जड़ीभूत-सी, चुप्पी के आवरण में केवल सुनती भर रही थी वह उसे।

अजित ने भी उसकी ओर से कोई प्रोत्साहन न पाकर अधिक कुछ नहीं कहा था। बस, "कैसी हो, सवी ?···अच्छा, कभी कुछ कहलाना हो बाबू जी को···तो बस यहीं रिसेप्शन पर 'मैसेज' दे देना मेरे लिए। अक्सर आना होता है मेरा यहां। वैसे भी खबर तो तुरंत ही मिल जायेगी मुझे लखनऊ में भी। प्रायः रोज ही फोन पर बात होती है यहां से···"

बाबू जी को या···?

वैसे भी बाबू जी को यहां अब कितना याद कर पाती थी वह। इस नए लोक का रास्ता ही बनता था अतीत की गुफाओं के मुखद्वारों को विस्मृति की शिलाओं से ढांकने पर।

नहीं ! अजित की स्मृतियों से कंटकित नहीं होने देगी वह दांपत्य के इस पथ को।

भुवन क्यों नहीं समझते उसके मन को !

और, आखिर क्यों सबकुछ चलता रहेगा इसी तरह उनके ही पक्ष में। उसे पुनर्जन्म में कोई आस्था नहीं। यहीं। बस, यही एक छोटा-सा जीवन। क्यों भुवन के लिए अनंत खुले आकाश-सा ? और क्यों उसका अपना, बदहवास व्याकुलता से भरा ? असीम खालीपन ऐसा क्यों सिमट आया था उसके संसार में। दिन भर कल्पनाएं, दिवास्वप्न, डाकिए का इंतजार और फोन की घंटियों की निरर्थक प्रतीक्षा। मानो कुछ नया होगा आज। पर, कुछ नहीं होता कभी। और यों ही ढलती रहती हैं आतुर सुबहें बोझिल शामों में।

सांझ और भोर के बीच फैला अथाह सूनापन अब भरा नहीं जाता उससे।

पर, क्यों नहीं भर सकती वह इसे ?

भरेगी ! चाहे तो भर सकती है वह इसे।

"अजित," वह बुदबुदाई।

वही समझ सकता था उसे। वही बस समझ पायेगा उसे। उसके तन-मन को सूत-सूत कर सींचा था उसने अपने प्रेम से। अपने सारे वजूद के साथ चाहा था उसने उसे। उसके पौरुष ने उसे उसके स्त्री होने की गरिमा का अहसास कराया था। भुवन के ओढ़े हुए बड़प्पन ने दी है उसे केवल स्त्री होने की लाचारी। परकटी, निस्सहाय स्त्री !

भुवन ने उसे उस हद तक बढ़ने ही कहां दिया जहां दोस्ती की डोर जुड़ती हो। नियम-विधान लाभ-हानि, समय-असमय, तू-मैं की बाधाओं-सीमाओं की उपेक्षा करने की न उनमें दृष्टि है, न वैसा फक्कड़ लुटाऊपन।

प्यार जीतना ही है तो इन्हीं से क्यों ? भीख में ही मांगना है तो इस कृपण, दरिद्र हृदय से ही क्यों ?

अजित को उसी क्षण देखने, सुनने की अदम्य आकांक्षा से विह्वल-आतुर हो उठी वह। उसका लिखाया नंबर इतने बरसों से यों सहेज कर रखा था उसने आलमारी के किसी पूर्णतः प्रच्छन्न कोने में, जोकि वही एक सबसे बड़ी छुपाने वाली चीज थी उसके लिए।

दस-बारह सालों में ही कागज कैसा पुराना पड़ जाता है। उसके हाथ की लिखाई भी जैसे कुछ-कुछ बचकानी। समय के साथ हर कहीं कोई-न-कोई परिवर्तन तो आता ही है। यह नंबर भी शायद बदल चुका होगा।

अब तो लगभग पूरे ही शहर में इलेक्ट्रॉनिक एक्सचेंज···

नहीं। डायरेक्टरी देखने की जरूरत नहीं। यहां से संदेश क्यों? लखनऊ का एस० टी० डी० कोड क्या नहीं जानती वह।

आठ बजे तो सोकर ही उठता है अजित। ग्यारह से पहले अमूमन कहीं नहीं निकलता। घर पर ही होगा।

पर इतने वर्षों बाद यों उसको···? क्या सोचेगा वह भी कि···?

तो क्या। बताना भी तो यही था उसे उसको, निस्संकोच, बिना किसी लुकाव-छिपाव के। कोई औपचारिकता अब और नहीं। जब तक जाना, एक-दूसरे के लिए खुली किताब रहे थे वे। अजित आज भी उसे चाहता होगा उसी तरह। उसे लेकर उसके मन में कोई मलाल नहीं होगा क्योंकि···

कांपती उंगलियां यंत्र के बटनों पर फिसली ही थीं कि उधर घंटी बजने लगी थी—एक, दो···

क्या कहेगी? कैसे···? और फिर···शायद नाराज ही···या फिर कल ही आ पहुंचे···

लेकिन···?

"ऊं हूं," एक हल्की-सी चीख उसके गले से उभरी। बरबस ही जैसे उसके मन में कौंधा—लेकिन क्या उसने सचमुच ही भुवन को, उस औरत को उस नजर से ताकते देखा था या···?"

उधर से "हलो, हलो" की व्यग्र आवाजें आने लगी थीं। पर न जाने क्यों उसने झट लाइन काट दी।
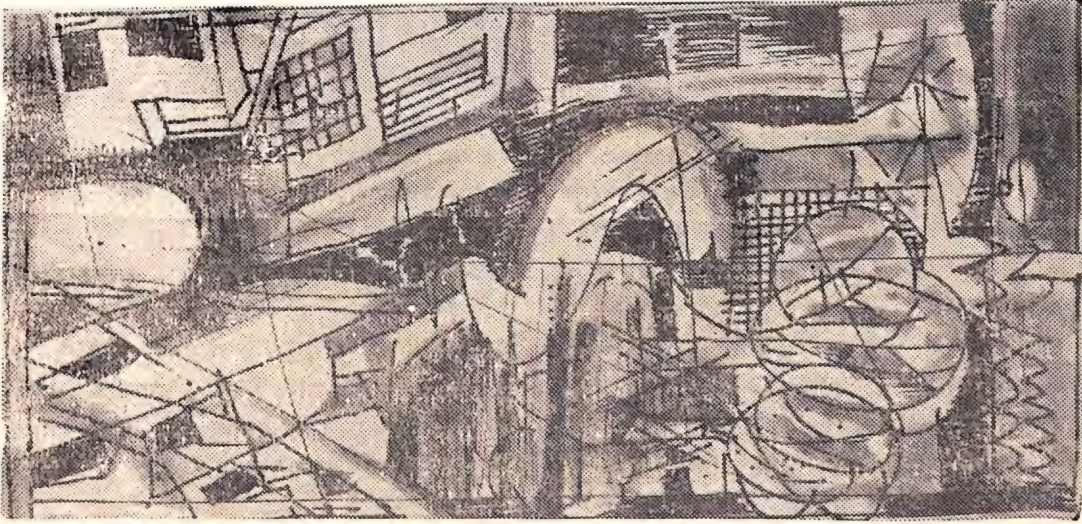
कस्तूरी पहचानो, वत्स !

☐ जयनंदन

बुर्के की सरहद से निकलकर कब सकूर मियां की बेटी जुबैदा ने संस्कृत में एम० ए० कर लिया, दुल्ली मिसिर को पता ही नहीं चला। जब गांव के नये कॉलेज में संस्कृत-प्राध्यापक के लिए उनका बेटा छंट गया और जुबैदा चुन ली गई तब जाकर उनके कान खड़े हुए। उन्होंने इसे सीधा अपने हक पर हमला और पंडिताई के रास्ते में हस्तक्षेप की तरह महसूस किया। हद हो गई ! एक मुसलमानिन होकर और संस्कृत में एम० ए० ! यह सरासर धृष्टता नहीं तो और क्या है ! एम० ए० ही करना था तो फारसी में करती···अरबी में करती···उर्दू में करती···मगर संस्कृत पर उसका क्या हक था ? मालूम भी है कि संस्कृत हिंदुओं की देवभाषा है !

दुल्ली मिसिर एकदम जेठ-बैसाख की दोपहर बन गये थे। उन्हें अपने बेटे के छंट जाने के दुख से ज्यादा इस बात से रक्तचाप उच्च हो गया था कि संस्कृत-शिक्षक जैसे मर्यादित पद पर एक छूतहर मुसलमानिन की बहाली कर ली गई। वह भी उस कॉलेज में जिस पर वे हमेशा अपना विशेषाधिकार का दावा करते थे। चूंकि वे अपने-आपको इसके संस्थापकों में से एक मानते थे। मानें भी क्यों नहीं ? इसकी नींव रखने के समय भू-पूजन और नींव-रोपन की विधि इनके ही मंत्रोच्चार से संपन्न हुई थी तथा गांव के जिस सबसे बड़े भूपति सरयू सुकुल के नाम और चंदे पर यह बन रहा था, वे जाति से ब्राह्मण थे और उन ब्राह्मण के भी ब्राह्मण यानी पुरोहित दुल्ली मिसिर ही थे। इतना ही नहीं—सुकुल जी के आसपास बने रहने के कारण कई बार कॉलेज कमिटीवालों के समर्थन में उन्होंने सुकुलजी को राजी करने के लिए समझाने-बुझाने का भी काम किया था। उनके ध्यान में उसी समय से यह बैठा हुआ था कि अपने कुल-दीपक को इसी में संस्कृत का लेक्चरर बनवा देंगे। मगर ऐसी नामहंसी कराई कूढ़मगज ने कि एक मुसलमानिन से भी मात खा गया और वह भी एक पुश्तैनी विषय में···गणित या विज्ञान होता तो बात अलग थी।

अब यह मामला इस तरह हाथ से निकल गया था कि उनके किसी भी उपक्रम का कोई लाभ होनेवाला नहीं था, चाहे वे गिड़गिड़ायें···घिघियायें या रोयें-बिसुरें, प्रिंसिपल ने सुकुल जी और कमेटी के निर्देश पर चयन-समिति में बड़े विख्यात और प्रकांड आचार्यों को सानुरोध बुलाकर शामिल किया था। जिनके निष्पक्ष निर्णय को बदलना सीधे उनका अपमान था। दुल्ली मिसिर के मन में उन विद्वानों के लिए भी गाली निकल रही थी जिन्होंने ब्राह्मण होकर भी एक मुसलमानिन को लेना यथेष्ट समझा। पता नहीं जाति के नाम पर आजकल क्यों अरुचि और उदासी एक फैशन बनती जा रही है, आखिर इन पढ़े-लिखे विद्वानों को भी क्या जातीय-दायित्वों के प्रति इस तरह सुस्त होना चाहिए ?

दुल्ली मिसिर ने जब अपने चतुराई के बटुए को खोलकर देखा तो उससे एक बड़ी ही वजनदार युक्ति झांकती प्रतीत हुई !

कॉलेज में संस्कृत-अध्यापन की वैकल्पिक-व्यवस्था अब तक हाईस्कूल के संस्कृत मास्टर ही संभाले हुए थे, जो किसी दूर गांव के उनके दूर के रिश्तेदार थे। काफी दिनों तक उनका डेरा-डंडा मिसिर जी के ही घर पर रहा था। बाद में उन्होंने सुकुलजी के लड़के-बच्चे को पढ़ाने के लिए मास्टर को उनके घर रखवा दिया। मिसिर जी को ऐसा विश्वास था कि इस एहसान तले वे उनका कुछ भी कहा टाल नहीं सकेंगे। अतः उन्होंने उनकी मार्फत पूजा की प्रसादी खाने के बहाने सभी संस्कृत-विद्यार्थियों को अपने

घर बुलवाया। ज्यादातर लड़के ब्राह्मण परिवार के और उसी ब्राह्मण बहुल गांव सुकुलपुर के थे। दुल्ली मिसिर सहित मास्टर अवध दुबे ने उन्हें बड़े सुनियोजित ढंग से फुसलाया, भड़काया और उकसाया कि ब्राह्मणों की दुर्दशा की यह कैसी हास्यास्पद घड़ी है जब वेद-पुराण और मंत्र-श्लोक की शिक्षा उसे एक मुसलमानिन से लेनी होगी? क्या एक श्रेष्ठ और पूज्यनीय जाति की गरिमा को ध्वस्त करने का यह एक सीधा षड्यंत्र नहीं है? पुरोहित और कुलगुरु हम होते आये हैं···और हमें ही पढ़ाने के लिए हमारी गुरुआई एक मलेच्छिन छोकरी करे? गाय-ऊंट खाने वाले किसी मुंह से अपनी पवित्र यशस्वी ऋचाओं और सुभाषितों का उच्चारण सुनना क्या एक लज्जा और अपमान की घटना नहीं है?

दुल्ली मिसिर अपने उद्देश्य में सफल रहे। सरयू सुकुल के नजदीकी होने की वजह से गांववालों पर उनकी अच्छी धाक थी। हिंदू तो हिंदू मुसलमानों तक ने उनके सवाल को सही ठहराया। इसकी वजह एक तो गांव में अपनी कमजोर स्थिति थी, दूसरे वे सकूर मियां की चाल-ढाल से बरसों से परेशान थे।

नियुक्ति-पत्र मिलने के बाद जुबैदा जब इंटर-कक्षा में पहली बार पढ़ाने गई तो एक-एक कर सारे छात्र यह कहते हुए बाहर हो गए कि "हम एक मुसलमानिन से संस्कृत नहीं पढ़ेंगे!" स्नातक-कक्षा के छात्रों का भी यही रवैया रहा! जुबैदा हैरान रह गई जैसे संस्कृत की तालीम लेकर उसने एक बहुत बड़ा गुनाह कर दिया हो। प्रिंसिपल के लाख समझाने-बुझाने के बावजूद कक्षा-बहिष्कार का सिलसिला एक सप्ताह तक जारी रहा। इस बीच दुल्ली मिसिर के हवाले से कानोकान यह खबर गांव में रेंग गई थी कि इस घटना को लेकर यहां कभी भी कुछ अप्रिय हो सकता है।

गांव के हिंदू-मुसलमानों के सारे गणमान्य सकूर मियां को चेताने लगे कि यहां अगर किसी तरह की अशांति फैली तो उसकी जिम्मेदार एकमात्र उसकी बेटी होगी।

जुबैदा ने अगले सप्ताह से कॉलेज जाना बंद कर दिया। उसे अपने किए पर पश्चाताप की जगह गांव के उन तंग और क्षुद्र विषखोपड़ियों पर दया आ रही थी जो किसी एक भाषा विशेष को अपनी जागीर समझ रहे थे। ऐसी समझ रखनेवालों में मुसलमान भी शामिल थे। वे भी संस्कृत पढ़ने के उसके निर्णय को बहुत पहले से कोस रहे थे, उन्हें यह एकदम गले से नहीं उतर पा रहा था कि एक मुसलमान को संस्कृत (हिंदू धर्म की आधार-भाषा) पढ़ने की कोई तुक भी हो सकती है? उनकी निगाह में खामखा एक काफिर जुबान को तरजीह देना अपने अदब और जुबान की सरासर तौहीन है। सकूर मियां को कितनी बार इसकी हिदायत की गई···उन्हें दुरदुराया गया···लताड़ा गया। मगर उनकी जहनियत कुछ और ही मिट्टी में उगी थी। बचपन से ही उनके सीने में एक फनकार का दिल धड़कता था, जिसमें कुरान और वेद-पुराण के लिए एक समान तवज्जो थी। मंदिर की घंटियों और मस्जिद की अजान में उन्हें एक ही लय सुनाई पड़ती थी।

सकूर मियां एक पेंटर थे। किसी भी आकृति या दृश्य को कागज पर साकार कर देने की एक हैरतंगेज हुनर था उनके पास, जिसे वयोवृद्ध कविराज तारक ने ताड़ लिया था। सकूर अपने अब्बा की खेती-गृहस्थी में हाथ बंटाने के बाद बचे हुए समय को तारक बाबू के साथ उनकी जड़ी-बूटी वाली कोठरी में ही गुजारते थे। इसलिए वे सकूर के स्वभाव से पूर्ण परिचित हो गये थे। चित्रकारी में उनकी रूचि को उन्होंने प्रोत्साहित किया और अपनी ही कोठरी में गीता-रामायण के कथा-प्रसंगों को सुनाकर उन पर चित्रकारी करवाने लगे। थोड़े ही दिनों के अभ्यास के बाद सकूर की तूलिका द्वारा अनेकानेक पौराणिक संदर्भ कैनवस पर जीवंत होने लगे।

तारक बाबू उपनिषद्, ब्राह्मण, वेद, पुराण, पंचतंत्र आदि कहीं की भी कथा सुनाते और सकूर उसके महत्त्वपूर्ण पहलुओं को रंगों में ढाल देते। धीरे-धीरे वे उस वैद्य-गृह के एक अभिन्न अंग बन गए। न उनके बिना तारक बाबू को चैन, न तारक बाबू के बिना उन्हें। जड़ी-बूटियों से उनके परिचय अपने-आप घने होते चले गए। तारक बाबू ने अपनी विरासत जीवित रखने के लिए सकूर को बहुत उपयुक्त व्यक्ति समझा। फिर तो उन्होंने सारी जड़ी-बूटियों की जन्म-कुंडली एक साथ उन्हें थमा दी। वे फिर उनके पक्के सहायक बन गए।

तारक बाबू ने अपने कुछ शहरी मित्रों-परिचितों के जरिये सकूर के बहुत सारे चित्र शहर भिजवाए। जो खासे चर्चित हुए, प्रशंसित हुए और खरीदे भी गए। कई प्रमुख मंदिरों और धर्मशालाओं में इन्हें सजने का मौका मिला।

गांव में लोगों को जब पता चला तो एकदम जल-भून गए। सनक गए हैं तारक बाबू। खामखा एक मुसलमान से हिंदू देवी-देवताओं की पवित्रता विनष्ट और यश क्षीण करवा रहे हैं! मुसलमानों ने भी अपनी नाक सिकोड़ी कि बड़ा प्रचारक और खैरखवाह बनने चला है हिंदुओं का! देखना अंजाम बहुत बुरा होगा।

इस तरह गांव के प्रायः लोगों की सकूर से चिढ़ हो गई। उन्होंने फिर भी इसकी परवाह न की, जो फितरत थी वह बनी रही। अंकुश लगाने वाले उसके अब्बा भी अब मरहूम हो चुके थे। अतः मरजी पर अपनी मालिकियत थी।

उनकी बेटी जुबैदा को गीता-रामायण और वेद-पुराण की समझ और रुचि घर में मौजूद चित्रों से ही जगने लगी थी, धीरे-धीरे उसे यह अनायास महसूस होने लगा कि इन पुस्तकों के मर्म को वह जानना चाहती है, इनमें डूबना चाहती है। तारक बाबू जब संस्कृत-श्लोक या रूपक या आख्यान पढ़कर उसके ज्ञान और नीतिगत तथ्यों को सुना रहे होते तो जुबैदा एकदम मंत्रमुग्ध होकर उन्हें आत्मसात करने की कोशिश करती। भाषा की ध्वन्यात्मकता और सौंदर्य तथा अर्थ की गूढ़ता का मानो उस पर जादू छा जाता। इस भांति अनायास जुबैदा तारक बाबू की देखरेख में रोज-ब-रोज संस्कृत में उतरने लगी···विचरने लगी और तब पता भी न चला कि सस्कृत की ऊंची तालीम का खब्त उस पर कब सवार हो गया! तारक बाबू का मार्गदर्शन व प्रोत्साहन हमेशा उसके लिए उपलब्ध था, चूंकि संस्कृत को वे स्वयं बहुत आदर्श और प्राणप्रिय भाषा मानते रहे थे, तथा उस पर अपना काबू भी बना लिया था। साथ ही जुबैदा सकूर की बेटी होने के कारण उनकी अत्यंत आत्मीय भी बन गई थी। अत: अपने ही दिशा-निर्देश में उन्होंने जुबैदा को एम० ए० तक की प्राईवेट परीक्षा

प्रथम श्रेणी से पास करा दी ।

तारक बाबू ने सपनों में नहीं सोचा था कि उनके किए का इतना कठोर और बेईमान मूल्यांकन किया जाएगा । उन्हें अपनी कोई संतान नहीं थी । पत्नी बांझपन की कुढ़न से क्षीण होते-होते बहुत जल्दी कूच कर गई । तारक बाबू ने सकूर के परिवार को ही अपना मान लिया । चूंकि वैद्यगिरी में उसकी साझी के कारण वे उसे अपने सबसे पास महसूसते थे । अतः इसके घर खाने-पीने का भी सिलसिला शुरू हो गया था। दरअसल सेवा और राहत पहुंचाने वाले इस पेशे में हिंदू-मुसलमान का फर्क उनके जेहन में कभी आया ही नहीं। आदमी को वे दो ही श्रेणी में बांटते थे—एक बीमार और दूसरा स्वस्थ ।

जुबैदा के प्रति गांववालों के इस दुराचरण को भी उन्होंने एक अस्वस्थ मानसिकता की ही संज्ञा दी । वे देख रहे थे कि दुल्ली मिसिर की कनफुंकाई पर लोगों की उनके औषधालय में आमद-रफ्त काफी कम हो गई थी । जरूरी समझकर किसी को आना भी पड़ रहा था तो रात के झुटपुटे में सबसे नजरें बचाकर जैसे वे उपचार लेने की जगह व्यभिचार करने आए हों ।

तारक बाबू को ऐसे ही किसी नागवार वक्त में बराबर लगा करता था कि अगर समझदारी ने इंसान को आसमान की ऊंचाई बख्श कर त्रिलोक का सबसे उत्तम प्राणी बनाया है तो उसकी बेवकूफी ने उसे पाताल के गर्त में गिराकर सबसे निकृष्ट कोटि में भी पहुंचाया है ।

बनिस्वत सकूर और जुबैदा के मौजूदा हालात की कसक तारक बाबू पर ही ज्यादा तारी हुई थी । जुबैदा तो एक नामाकूल-वाहियात पन्ने की तरह अपने जीवन के इस मोड़ने वाले कंटीले अध्याय को फाड़कर निश्चित हो गई और ज्ञान की बेअंत क्षुधा के तहत एकांत अध्ययन में लीन रहने लगी। जबकि सकूर मियां सारे मसाल को धो-पोंछ कर अब जुबैदा के हाथ पीले कर देने की फिराक में लग गए ताकि जीवन की शेष सर्व-साधारण मार्ग की यात्रा सुनिश्चित हो जाए । इसी जरूरत के लिए वे बिरादरी वालों की बेरहम दुलत्ती बर्दाश्त करते जा रहे थे और अपने सामने खामखा बरपाये जा रहे लानत-मलामत भरे फासले को पाटते जा रहे थे । उनका खयाल था कि एक न एक दिन इनका बेबुनियाद और तंगदिल एतराज अपने-आप बुझ जाएगा ।

खुशामदी और गमख्वार रुख लेकर सकूर ने शादी की बात चलानी शुरू कर दी। गांव में चार-पांच ऐसे लड़के थे जिनसे जुबैदा की अच्छी जोड़ी बन सकती थी । पर हरेक ने सकूर के मुंह पर अपना हिराकत-भरा इंकार उड़ेल डाला कि एक संस्कृतदां लड़की से शादी करके उन्हें घर में गुरुकुल या विद्यापीठ नहीं खोलना है ।

सकूर समझ गए कि सबने मिलकर उसे सबक सिखाने का मंसूबा बना लिया है। इस वर्ताव को उसने एक बहुत ही तकलीफदेह हादसे की तरह लिया । जुबैदा को वे आखिर कब तक घर में बिठाए रखेंगे ? सकूर बिना कसूर के ही सबसे माफी मांगने लगे । हालांकि जुबैदा बिलकुल इसके खिलाफ थी । चूंकि अपने किए पर उसे कहीं से भी एक रत्ती रंज या अफसोस नहीं था । अब भी संस्कृत साहित्य का नियमित अध्ययन उसकी दिनचर्या में शामिल था। इसे पढ़े-गुने-सुने बिना रह लेने की वह कल्पना भी नहीं कर पा रही थी। अतएव हमेशा वह अपने अब्बा से जिद किया करती कि उसकी शादी के लिए वे इस तरह परेशान और हैरान न हों ।

मगर सकूर मियां यह कभी न भूल पाते कि वे एक जवान बेटी के बाप हैं । उन्होंने गांव में काम न बनता देख इलाके-ज्वार में रिश्ते टटोलने की कोशिश की । पर गांव की खुसुर-फुसुर, रंजिश और बदनीयती ने हर जगह रोड़े अटका दिए । उनके सामने अब एक ही उपाय था कि अल्लाह के करम पर अपने हालात को टांग दें ।

उन्होंने यही किया भी ! तारक बाबू ने कहा कि वह जुबैदा को बेटी नहीं बेटा मानकर चलें, बस मामला साफ ! हालांकि ढाढ़स के शब्द तले स्वयं वे भी कम अधीर और चिंतित न थे । उन्हें बरबस यह लगने लगता था कि इस स्थिति के लिए वे ही गुनहगार हैं । अन्यथा दूसरी ऊंची तालीम लेकर जुबैदा किसी बड़े घर की शान और फक्र वाली बहू बनती । अब वे चाहते थे कि इस संकीर्ण और क्षुद्र आबोहवा से निकालकर जुबैदा की प्रतिभा का मूल्यांकन शहर की खुली परिधि में करायें !

काश ! ऐसा हो पाता तो शायद कुछ शुभ की गुंजाईश रहती । मगर विडंबना तो कुछ और ही कराना चाहती थी । मुसलमानों के रहनुमा और खैरख्वाह माने जाने वाले बरकत अली ने जब यह सुना कि जुबैदा को तारक शहर की लीक पकड़ाना चाहते हैं तो बहुत चिंतित हुए कि फिर तो उनकी पकड़ के दायरे से यह लड़की बाहर निकल जाएगी । पता नहीं फिर क्या गुल-गपाड़ा शहर में करेगी···नाहक गांव की और नामहंसी होगी । तारक पता नहीं कबका बदला निकाल रहा है ! उसने सकूर से बात की इस बारे में कि कुछ दिन वह ठहर जाए, कहीं न कहीं जुबैदा की शादी अब करा दी जाएगी ।

सकूर खुश हुए···यही तो वे चाहते भी थे । कुछ ही दिन बाद बरकत ने तीन नाम सुझाए, जिनमें तीनों के पास पहले से ही दो-दो बीवियां थीं और वे एकदम अनपढ़ व निकम्मा टाइप आदमी थे । सकूर ने इस तलाश के लिए बरकत को शुक्रिया कहकर सीधा ना कर दिया । उसे बहुत बुरा लगा कि एक खारिज लड़की के लिए सकूर इस तरह मीनमेख निकाल रहा है।

खैर, कुछ दिनों बाद उसने एक चौथा नाम सुझाया जिसकी तीन बीवियां पहले मर चुकी थीं और जिसके पहली दो से दो-दो बच्चे भी थे । बरकत ने जोर देकर कहा कि जुबैदा के लिए इससे और बढ़िया लड़का मिलना मुश्किल है। जैसे वह कहना चाहता हो कि जुबैदा बहुत ही गयी-गुजरी और बेकार लड़की है । उम्र भी उसने चालीस की पैंतीस बताई और तालीम आठवीं पास की दसवीं पास । जैसे गांव में रहकर भी सकूर इसके बारे में जानता ही न हो । अंत में बरकत ने यह भी सुना दिया कि अगर यह खाता-पीता लड़का भी उसे पसंद न हो तो फिर उसकी जैसी मरजी ! अब उसके पास कोई उपाय नहीं है ।

सकूर दो साल से अपनी जूती फटकाते-फटकाते आजिज आ चुके थे । अब इससे बेहतर की गुंजाईश इन्हें भी नजर नहीं आ रही थी । सोचा कि इस बार चुक गए तो फिर कहीं चुके ही न रह जायें । अतः बेमन से ही सही,

लेकिन लाचारी में उन्होंने हां कर दिया। हालांकि स्वयं जुबैदा और तारक बाबू भी इसके पक्ष में नहीं थे। पर करते क्या, विकल्प इनके पास भी कुछ कहां था ?

अंततः सुलेमान से निकाह करवाकर जुबैदा रातोंरात चार बच्चों की मां वना दी गई। गांववाले भीतर-ही-भीतर चुटकी लेते रहे—"लो, और पढ़ो संस्कृत !" सुलेमान ने घर आते ही जुबैदा के सामने हिदायत की एक मोटी लाठी रोप दी—जैसे यही उसका परिचय हो कि अब इस घर में उसके मुंह से संस्कृत का एक अल्फाज नहीं टपकना चाहिए। अगर पढ़ने का शौक हो तो सुबह-शाम कुरान शरीफ पढ़ा करे। जुबैदा तिलमिलाकर रह गई। उसकी आंखों में असहमति के डोरे थे, फिर भी पहली ही भेंट में जवान खोलना उसने मुनासिब न समझा।

अब्बा के घर में कुरान-शरीफ के बगल में ही रामायण-महाभारत की प्रतियां एकरंगे कपड़े के खोल में सजी होती थीं। रोज लोबान या अगरबत्ती समान भाव से इनके सामने फिरायी जाती थीं।

वातचीत करते हुए अक्सर उसके मुंह से प्रसंगवश संस्कृत के दोहे या श्लोक आदि कहावत की तरह अनायास उद्धृत हो उठते थे। मगर तब श्रोता उसके अब्बा या तारक बाबू ही हुआ करते थे। जहां उसकी इस हाजिर-जवाबी के लिए अक्सर दाद तक मिला करती थी।

अब उसके बोलने तक पर मनाही की जा रही है। पढ़ने की तो बात ही दीगर है। जबकि कालिदास, बाणभट्ट, शूद्रक आदि की कुछ कृतियां वह एक संदूकची में बंद कर ले आई थीं। सोचा था कि फुर्सत के समय वह इनसे अंतरंग हो सकेगी। मगर सुलेमान ने यह भी साफ कर दिया था कि घर में संस्कृत की किसी भी किताब का प्रवेश सख्ती से बंद रहेगा।

जुबैदा समझ गई थी कि जिंदगी का बहुत ही नीरस और कठोर दौर शुरू होने वाला है, बेचारी सुबह उठती और बच्चों के गू-मूत से लेकर खिलाने-पिलाने और शौहर के हजार नखरे से लेकर घर की सौ तीमारदारियों को गई रात तक निपटाने में लिप्त रहती। इत्तेफाक से घड़ी भर की मोहलत कभी मिल जाती तो संदूकची खोलकर चुपके से कालीदास की कुछ पंक्तियों को अपने सीने में स्वच्छ हवा की तरह लेती। हालांकि ऐसा करने में उसे बराबर डर बना रहता कि कहीं कोई दीवार सुलेमान से चुगली न कर दे या दुर्भाग्य से वह स्वयं ही प्रकट होकर रंगे हाथ धर न ले ! यह खयाल आते ही उसे सुलेमान शौहर नहीं बल्कि पहरेदारी करनेवाला एक खूंखार संतरी प्रतीत होता। सख्ती, रौब और हुक्म चलाने के उसके अंदाज थे भी ऐसे कि वह शौहर कतई नहीं जान पड़ता था। हमेशा तेवर यूं होता जैसे जुबैदा एक बहुत ही अदना, नामुराद और नाकाबिल लड़की है, जिससे निकाह करके उसने बहुत बड़ा एहसान कर दिया है। ऐसा नहीं कि पहली तीनों बीवियों के लिए वह बहुत रहमदिल रहा था ! एक ही गांव में होने की वजह से वह अच्छी तरह जानती थी कि उनकी मौत का कारण कहीं-न-कहीं इसकी बदसलूकी और कमीनगी ही थी।

खैर जुबैदा ने अपनी इस नियति को भी स्वीकार कर लिया था। अब्बा और तारक बाबू यदा-कदा उससे हाल-चाल पूछने आते। उसका मन करता कि फूट-फूटकर रो पड़े और बस उनकी गोद में सिर रखकर रोती रहे। पर ऐसा करके उन्हें दुखी करना उसे अपराध जान पड़ता और फिर बड़ी मुश्किल से वह खुद पर काबू रख पाती ! दो-चार दिनों के अंतर पर वह खुद भी उनके पास चली जाती···उनकी अस्त-व्यस्तता को थोड़ा व्यवस्थित कर देती। अम्मा के इतकाल के बाद घर वही संभालती रही थी। किताबों को बच्छी तरह उलट-पलटकर उनसे क्षमा-सी मांगती मुद्रा में भीतर-ही-भीतर मानो संवाद कर उठती। अब्बा उन किताबों पर रोज हाथ फिराते थे ताकि कोई धूल न जमे···कोई दीमक न लगे···जुबैदा जानती थी कि ऐसा करके अब्बा दरअसल किताबों के बहाने उसे ही प्यार देते थे···उसकी ही मौजूदगी का एहसास किया करते थे।

यह सिलसिला एकरस घुटन के बीच राहत-भरा मध्यांतर का काम करता था, पर सुलेमान को यह भी अच्छा न लगा। पास-पड़ोस वाले उसके कान भरने लगे कि पहले ही यह लड़की काफी बिगड़ी है—सकूर और तारक ने इसके लच्छन बिगाड़ रखे हैं, अब अगर रास न कसी गई तो मुंह पर कालिख पोतवाए बिन यह न रहेगी। सुलेमान ने तब सकूर और तारक से उसके मिलने-जुलने पर कड़ी रोक लगा दी। एक जालिम और बेहया घुड़सवार की तरह अनुशासन की लगाम बेरहमी से खींच डाली। जुबैदा तड़पकर रह गई। एक गांव में होने के बावजूद सकूर और तारक बाबू से उसका फासला मानो आकाश-पाताल तक फैला दिया गया था। ऐसा लगता था कि सुलेमान शौहर के बहाने उसे प्रताड़ित करने के किसी षड्यंत्र से संचालित था। उसका रवैया अब सरासर तू-तड़ाक और थूकम-फजीहत का हो गया था। हमेशा कोई छोटे-बड़े बहाने की उसे तलाश रहती थी और वह बहाना दाल में हल्दी ज्यादा पड़ने से लेकर खिड़की से बाहर झांकने का भी बन जाता था।

दिन अब इसी तरह आहों और सिसकियों के बीच घिसट-घिसट कर रेंग रहा था जैसे जिंदगी भार-सी होकर महज एक खानापूरी रह गई हो। तारक और सकूर जुबैदा से मिलने की पाबंदी को एक सदमे की तरह झेल रहे थे। तब ही एक दिन जुबैदा को थोड़ी मोहलत मिल गई। सुलेमान दो-तीन दिनों के लिए किसी रिश्तेदार के यहां चला गया था, शायद शादी-वादी कुछ थी। जुबैदा यह जानती थी कि अपनी गैरहाजिरी में जरूर वह किसी जासूस को लगाकर गया होगा फिर भी जोखिम उठाते हुए उसने इसकी परवाह न की और अब्बा से मिलने सांझ की स्याही में निकल पड़ी। रास्ते में मंदिर के सामने कोई यज्ञ हो रहा था। जहां कुछ श्रद्धालु लोग आसन जमाए बैठे थे और पंडित रामजतन एक आदमी से मंत्रोच्चार करवाते हुए क्रिया-कर्म निपटाते जा रहे थे। शायद किसी विशेष कामना-पूर्ति के लिए यह सब किया जा रहा था। जुबैदा ठिठकर पंडित जी के मंत्रोच्चार सुनने से खुद को रोक न सकी। ध्येय था कि संजीवनी सदृश इन शब्दों को अपने कानों के रास्ते हृदय में उतर जाने दे, मगर उनके अशुद्ध और फूहड़ उच्चारण ने उसे बेचैन कर दिया ! वह चकित थी कि पंडित जी गांव में पूजा-पाठ और नेम-धर्म के लिए सर्वाधिक यशस्वी तथा जानकार माने जाते थे, फिर भी उनकी जिह्वा से ऐसे दोषपूर्ण और जाहिल उच्चारण ! पता नहीं क्यों उसका अपने-आप पर वश नहीं रहा और वह बीच में ही बोल पड़ी, "टोकने के लिए क्षमा चाहती हूं महाराज ! पहले मेरा प्रणाम

स्वीकार कीजिए।"

सबने मुड़कर देखा और उसे पहचानते ही वहां एक झुंझलाहट पसर गई। एक ने डपटकर कहा, "भागती है यहां से या नहीं···सूझ नहीं रहा तुम्हें कि क्या हो रहा है? विघ्न डालना चाहती है बदतमीज कहीं की !"

जुबैदा बात को बतंगड़ बनाने का बिना अवसर दिए झट बोल पड़ी, "मेरा मकसद विघ्न डालना नहीं बल्कि यह कहना है कि पंडित जी जो उच्चारण कर रहे हैं वह अत्यंत त्रुटिपूर्ण और गलत है, ऐसे में प्रयोजन की सिद्धि भला क्या होगी?"

पंडित रामजतन तमतमाकर उठ खड़े हुए, "तो चंडालिनक हीं की, तुम्हारी यह मजाल कि तू मुझे उच्चारण सिखाए ! खामखा टांग अड़ाना चाहती है हमारे धार्मिक मामले में···देख रहे हैं आप लोग इसकी दखलंदाजी !"

इसी समय किसी ने कड़कदार स्वरों में पूछा, "क्या गलत उच्चारण है, जरा बताओ तो?"

जुबैदा झट-झट सात-आठ शब्दों का उच्चारण बता गई। सब लोग पंडित जी के मुंह देखने लगे। पंडित जी की आंखें ग्लानि से धधक उठीं, "ठीक है, तो तुम्हीं शेष अनुष्ठान संपन्न कराओ, मैं चलता हूं।"

वे जाने लगे तो सबने मनाया। जुबैदा हाथ जोड़कर चली गई।

जब सुलेमान वापस आया तो पंडित जी ने बढ़-चढ़कर इसकी जबर्दस्त शिकायत की। अब तक इस घटना से पूरा गांव वाकिफ हो चुका था। मुल्ला-मौलवी टाइप लोगों ने भी इस हरकत को सांप्रदायिक सद्भाव के लिए बहुत खतरनाक बताया। सुलेमान ने जुबैदा की जी-भर पिटाई की और फिर ताकीद किया कि इस तरह की आदत अगर उसने दोबारा देखी तो सीधा काट डालेगा। घर की बाहर उसकी छाया तक न पड़नी चाहिए।

जुबैदा बहुत दिनों तक सहमी-सिमटी अपने भाग्य की विडंबना को कोसती रही।

एक रोज कानोंकान उसे खबर मिली कि रात में बनारस के एक पहुंचे हुए विद्वान का व्याख्यान होनेवाला है। इनकी ख्याति पहले भी वह सुन चुकी थी। उसका मन मानो सुनने के लिए एकदम व्याकुल हो उठा। जब सुलेमान गाढ़ी नींद में सो गया तो दबे पांव वह घर से बाहर निकल गई और चादर ओढ़कर चुपचाप पीछे बैठ गई। उपनिषद् का एक रोचक प्रसंग चल रहा था जिसे गांव के सैकड़ों लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे। एक श्लोक की व्याख्या करते-करते अचानक श्रोताओं की नब्ज टटोलने का मन हो आया आचार्य का। संभव है ऐसा करने के पीछे तनिक चैन लेने व देने का इरादा भी रहा हो। उन्होंने कहा, "आप लोगों में से कोई क्या इस बहुश्रुत और लोकोक्ति की तरह प्रयुक्त होने वाले इस श्लोक के अर्थ और प्रसंग बता सकते हैं?"

जवाब में कहीं से कोई सुगबुगाहट नहीं। आचार्य देर तक प्रतीक्षा करते रहे। जुबैदा को लगा जैसे इस गांव की प्रतिष्ठा दांव पर लग गई हो। अर्थ और प्रसंग दोनों ही उसके जेहन में कौंधकर उसे कुरेदने लगे थे। अंततः बिना किसी अंजाम पर विचार किए वह खड़े होकर अति मृदु स्वर में निवेदन कर उठी, "आचार्यवर ! अगर आज्ञा हो तो मैं अपना विनम्र उत्तर प्रस्तुत करूं !"

जुबैदा पर एक साथ कई युवकों ने टार्च की रोशनी फेंककर उसकी आंखें चुंधियां दीं। आचार्य ने बुझती हुई आशा को पुनः समेटकर तत्क्षण कहा, "हां···हां कहो···कोशिश करो।"

अब तक तमाम श्रोताओं में यह खुसुर-फुसुर व्याप्त हो गई थी कि यह तो जुबैदवा है···जुबैदवा ! देखो, फिर टांग अड़ाने आ गई···इस चुड़ैल को कोई यादगार सबक सिखाना ही होगा।

दुल्ली मिसिर अगली पंक्ति में बैठे थे। उन्होंने खड़े होकर जोरदार दहाड़ लगाई, "इस बेशर्म मलेच्छिन को उठाकर फेंक दो यहां से कि सारी अक्ल ठिकाने लग जाए। बार-बार अपनी मनहूस शक्ल लेकर रंग में भंग करने चली आती है···।"

कुछ लोग उठकर उसकी ओर लपके। तब ही आचार्य किंचित नाराज होकर ऊंचे स्वर में बोल पड़े, "जो जहां है वहीं बैठ जाए और उस कन्या को बोलने दें।"

एक ही साथ कई कंठ गुहार-से कर उठे, "वह एक मुसलमानिन है आचार्य !"

"वह चाहे कोई भी है···अगर उत्तर जानती है तो उसे बोलने का पूरा हक है···बोलो बेटी ! क्या तुम इस श्लोक का अर्थ समझती हो?"

सबकी खा जानेवाली हिंसक मुद्रा को देख हालांकि जुबैदा के पैर थरथराने लगे थे, पर आचार्य की वात्सल्यमय विलक्षण वाणी से उसका साहस दोबारा लौट आया था। करबद्ध होकर उसने उस श्लोक की सप्रसंग व्याख्या प्रस्तुत कर दी। आचार्य वाह-वाह कर उठे कि इससे उत्कृष्ट अर्थ की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते। उन्होंने भाव-विभोर होकर पुनः पूछा कि क्या वह इसके आगे की कथा जानती है? जुबैदा ने कहा, "पहले यह कथा उसे अक्षरशः कंठस्थ थी। हो सकता है अब कतिपय अंश भूल गई हो।"

आचार्य ने उसे अपने पास बुलाया और अपने आसन के बगल में सस्नेह जगह दी तथा कहा कि वह कथा को आगे बढ़ाए।

उपस्थित सारे लोगों के चेहरे पर आपत्ति मुखर हो उठी थी। यह उनके लिए सर्वथा असहनीय था कि एक अदनी मुसलमानिन के मुख से वे उपनिषद् की व्याख्या सुनें। दुल्ली मिसिर बर्रे की तरह भनभना उठे थे, "सुनाना है तो आप स्वयं सुनाए महाराज ! अन्यथा किसी ऐरे-गैरे से सुनना हमें मान्य नहीं।"

"आप पहले सुनकर तो देखें ! क्या पता प्रभाव छोड़ने में इसके स्वर और अंदाज मुझसे ज्यादा समर्थ हों ! चलो बेटी···आरंभ करो।"

जुबैदा ने विनीत भाव से अपना पहला वाक्य ज्यों ही उच्चारा, दुल्ली मिसिर खड़े होकर जाने लगे। उनकी देखा-देखी अन्य लोग भी खड़े हो गए। उसके शब्द कंठ में ही ठिठक गए। आचार्य ने उसके संकोच में पड़े मन को पुनः प्रेरणा दी कि वह निरंतर जारी रहे। जुबैदा शुरू हो गई। एक रामजतन पांडे और उनके लड़के रामनिवारण को छोड़कर बाकी सभी लोग चले गए। इनका रुकना एक मजबूरी थी। निवारण बनारस में इन्हीं आचार्य की देख-रेख में पढ़ता था। इसलिए रामजतन ने उनकी विशेष कृपा पाने की दृष्टि से उन्हें यहां आमंत्रित किया था। वे उसी के घर विशिष्ट

अतिथि थे। मगर क्या सोचा था और क्या हो गया ? गांववाले भी दुखी और संभवत: आचार्य भी । जुबैदवा ने सब सत्यानाश कर दिया। मरती भी नहीं कंबख्त ! हमेशा कोई-न-कोई कांड कर गुजरती है !

आचार्य मंत्रमुग्ध होकर जुबैदा के विद्वतापूर्ण संभाषण सुनते रहे। जब कथा पूरी हुई तो उन्होंने उसे अपने ममता-भरे वक्ष से सटा लिया और आशीर्वचनों की मानो वर्षा कर दी। वह धन्य-धन्य हो उठी। पहली बार किसी ने उसके अध्ययन-मनन को खुलकर मान्यता प्रदान की थी। स्नेहोद्गार से उसकी आंखें छलछला आईं। उन्होंने उसकी शिक्षा-दीक्षा और जीवन-स्थिति की समुचित जानकारी ली, फिर सहज ही उनके गले से फूट पड़ा, "इस गांव का यह बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हारे जैसी संस्कृताचार्य यहां बसती है ! तुम्हारे ज्ञान बड़े ही अनमोल हैं बेटी !"

अब उन्होंने अपने शिष्य रामनिवारण को बड़े प्यार से संबोधित किया, "निवारण बेटे ! तुम्हें अब और मेरे साथ उतना दूर जाकर रहने की कोई जरूरत नहीं···अब तुम यहीं रहकर इसी से शिक्षा ग्रहण करो। कस्तूरी पहचानो, वत्स ! वह तुम्हारे पास ही है।"

आज्ञा को शिरोधार्य करने की तरह निवारण ने विनयपूर्वक हाथ जोड़े। जुबैदा की मेधा पर वह काफी देर से अवाक् था। हृदय में सहज ही उसके लिए आदर और श्रद्धा का कोना सुरक्षित हो चुका था। मगर रामजतन एकदम असहमत हो उठे, "नहीं महाराज ! यह नहीं हो सकता। मेरा बेटा एक मुसलमानिन से शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। इसमें ब्राह्मणत्व का सरासर अपमान है।"

आचार्य के चेहरे पर शालीन रोष की लकीरें खिंच गईं, "तो सुन लीजिए रामजतन ! भाषा और शिक्षा को धर्म-कर्म से जोड़ने वालों के लिए मेरे पास भी कोई जगह नहीं है। संस्कृत किसी ब्राह्मण की पुश्तैनी जागीर नहीं है कि उसका गुरु और विद्वान होने के अधिकारी सिर्फ ब्राह्मण ही हों। ब्राह्मणत्व का अपमान तो प्रतिभा के नकार में निहित है।"

रामजतन का चेहरा अब लटक गया था। जबकि निवारण की आंखों में जुबैदा के प्रति सम्मान के भाव झिलमिला रहे थे। अब आचार्य जुबैदा को अपनी ओर से कुछ आश्वासन और मार्गदर्शन सौंपना ही चाहते थे कि शायद दुल्ली मिसिर की कृपा से सुलेमान हाथ में मोटी लाठी लिए अपने दो-चार भाई-बंदों के साथ आ धमका। आचार्य के कहने का बिना कोई मौका दिए, वे उसे अंधाधुंध मारते-पीटते और घसीटते हुए लेकर चले गए।

आचार्य की आत्मा जैसे लहूलुहान हो उठी। काश ! जुबैदा के लिए वे कुछ कर पाते ! उस रात उनसे भोजन न किया गया। समग्र रूप से यह गांव उनके लिए एक कटु अनुभव साबित हुआ था। बहुत आहत स्वर में उन्होंने रामनिवारण को एक परामर्श सौंपा कि संभव हो तो वह जुबैदा की मुक्ति के लिए प्रयत्न करे। फिर सुबह ही वे बनारस के लिए प्रस्थान कर गए।

इस बार की कसाई-मार के कारण जुबैदा के जिस्म पर हल्दी की लेप महीनों बरकरार रही। उसकी सेहत अब बड़ी तेजी से गिरने लगी थी। जीने की अपेक्षा अब मरने में ही उसकी रुचि ज्यादा थी। पहरेदारी अब उस पर और सख्त कर दी गई थी। मोहल्ले वाले तक को अधिकार हस्तांतरित कर दिया गया था कि घर से जब ही उसकी छाया बाहर पड़े कि पिटाई शुरू कर दी जाए।

जुबैदा की दुर्गति देख रामनिवारण के रोयें सिहर गए थे। आचार्य के कहने पर उसकी आंतरिक इच्छा हो गई थी कि वह अपनी पढ़ाई में उसकी सहायता प्राप्त करे। पर हालात एकदम प्रतिकूल थे। जुबैदा से मिलना-जुलना आसान नहीं रह गया था। फिर भी उसने तय किया कि इस बारे में सुलेमान से ही बेधड़क इजाजत ले लेने की कोशिश करनी चाहिए ! ताकि कोई शक-शुबहा की बात न रहे। यों उम्र में वह जुबैदा से सात-आठ साल छोटा था फिर भी बाल की खाल निकालने वालों का क्या ठिकाना !

सुलेमान से जब उसने यह प्रस्ताव रखा कि पढ़ाई के मामले में उसे जुबैदा की मदद की जरूरत है, एकाध घंटा वह हर रोज आकर मार्गदर्शन चाहता है, साथ में वह अपनी बड़ी दीदी को भी ले आएगा ताकि कोई गलत अर्थ निकालने की गुंजाइश न रहे, तो वह काफी देर तक खूंखार नजरों से उसे देखता रहा, जैसे उछलकर चढ़ बैठेगा उसकी गर्दन पर ! मगर गांव में बिरादरी की स्थिति को मद्दे नजर रखते हुए दंतहीन नाग की तरह सिर्फ उसे फुंफकार कर रह जाना पड़ा। उसने कहा, "जुबैदा अब सिर्फ मेरी बीवी है, इसके आगे उसके कुछ भी होने या करने पर मुझे सख्त एतराज है।"

दो टूक जवाब सुनकर निवारण ने अपने पिता के प्रभाव की आजमाईश की—शायद उनके कहने से सुलेमान राजी हो जाए ! हालांकि रामजतन इसके लिए तैयार नहीं थे, उन्हें इसमें बड़ी हेठी और तौहीन दिखाई पड़ती थी। एक तरह से यह कारंवाई जुबैदा की योग्यता की स्वीकारोक्ति थी, जबकि वे उसे उच्चारण के मामले में काफी जलील करवा चुके थे। कॉलेज में बहाली के मसले पर भी वे दुल्ली मिसिर के साथ थे। फिर भी वे करते क्या ? संतान की जिद के सामने भला कोई बाप अब कहां जीतता है ! दूसरे आचार्य की सलाह भी उन पर हावी थी। उन्होंने सबसे आंखें बचाकर अकेले में सुलेमान से दरख्वास्त की। उसने बड़ी अभद्रता से कहा, "संस्कृत का एक लफ्ज भी अगर उसके मुंह से अब निकला तो मैंने उसकी गर्दन तक दबा देने की सोच रखी है, इससे ज्यादा शायद मुझे कुछ कहने की जरूरत नहीं है।"

अपना-सा मुंह लेकर रह गये रामजतन। स्वयं निवारण भी बहुत आहत हुआ—एक प्रतिभावान और उच्च शिक्षा प्राप्त पत्नी का यह शर्मनाक हश्र ! भला जानवर सदृश खूंटे में बंधे रहने या बांधे रखने की वह कौन-सी विवशता है ? बनारस में रहने के कारण इस प्रसंग से वह बहुत ज्यादा परिचित नहीं था।

उसने सकूर मियां से मुलाकात की। देखकर वह हैरान रह गया कि हट्टे-कट्ठे सकूर एकदम जीर्ण-शीर्ण हो गए थे। तारक बाबू पास ही एक खाट पर अधमरे-से पड़े थे। पता चला—कई महीनों से वे बीमार चल रहे हैं। उनकी हालत देख-सुनकर उसे बहुत क्षोभ हो आया। गांव का कोई भी आदमी उन्हें झांककर देखने तक नहीं आ रहा था। जबकि तारक बाबू

सबके दुख-दर्द और बीमारी ठीक न होने तक अपने कंधे पर उठाकर ढोया करते थे। सकूर से बातचीत कर निवारण का कलेजा दहल गया—तो बेइंसाफी और दुर्भावना की कंटीली खर-पतवार इस गांव में भी उगने लगी! सकूर ने बताया कि तारक बाबू चंद दिनों के ही मेहमान रह गए हैं—बस इनके प्राण एक ही साध में अटके हुए हैं। इनकी ख्वाहिश है कि एक बार जुबैदा के कंठ से गीता-पाठ सुन लें! जब ही होश में आते हैं जुबैदा का नाम लेते हैं। मगर सुलेमान के अड़ियल और चंठ मिजाज को देखते हुए यह एकदम नामुमकिन-सा लगता है।

निवारण ने कहा, "गीता-पाठ तो मैं भी सुना सकता था सकूर चाचा! लेकिन जुबैदा के कंठ से सुनने का तो कुछ और ही माने और मकसद है!"

अचानक जैसे निवारण के मन में संदेह का एक बीज पड़ गया। वह जब वहां से उठकर चला तो चाल में समाए एक दृढ़-निश्चय को स्पष्टत: महसूसा जा सकता था।

सुलेमान की देहरी पर उसके पहुंचते ही भीतर से आती एक हृदय द्रावक आर्तनाद ने उसे अविचलित बना दिया। उसे समझने में देर न लगी कि अभागिन जुबैदा फिर पीटी जा रही है। अब उसने पूछने का भी शिष्टाचार निभाना आवश्यक न समझा और दनदनाता हुआ भीतर दाखिल हो गया। लाठियां उस पर लगातार वज्र की तरह टूट रही थीं। निवारण को देखते ही सुलेमान हक्का-बक्का रह गया। जुबैदा खुद को समेटती हुई उठने लगी। निवारण ने देखा—सामने आंगन में कुमारसंभव, मृच्छकटिक और कादंबरी एक बर्बर दुत्कार खाकर असहाय-सी मुंहबायी पड़ी थीं। शायद जुबैदा उन्हें पढ़ती हुई पकड़ी गयी थी। उसके बिना पूछे भीतर आने के दुस्साहस पर सुलेमान प्रहारात्मक जवाब-तलब करना ही चाहता था कि निवारण ने पहले ही अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया, "तारक चाचा मरणासन्न हैं, उनकी अंतिम इच्छा जुबैदा को एक नजर देखने की है।"

"नहीं···।" गर्जना कर उठा सुलेमान, "कह दो उनसे कि वे किसी और से मिलने की इच्छा हाजिर करें···यह उनकी कोई नहीं लगती··· और तुम सुन लो, दोबारा इस घर में पैर रखने की जुर्रत न करना। अपने जाती मामले में दखल देने का हक मैं किसी को नहीं दे सकता।"

राम निवारण को इन बातों से अधिक चोट वहां का उपस्थित दृश्य दे रहा था—जुबैदा के कटे-फटे और लुटे-पिटे अंग-प्रत्यंग मानो उसे चुनौती दे रहे थे। ऐसा लगा था कि संस्कृत की इस संकटग्रस्त प्रकांड मनीषी की मुक्ति सचमुच उसका कर्त्तव्य है! वह सुलेमान को कोई मुंहतोड़ जवाब थमाना ही चाहता था कि जुबैदा जैसे उसके चेहरे पर जम रहे आवेग को ताड़ गयी और बीच में ही उसे रोक दिया, "पंडित रामनिवारण, आपने जो संदेश कहा, उसे मैंने सुन लिया है, अब बात आगे न खिंचे, इसलिए आपका यहां से चला जाना उचित है।"

"आपका आदेश है तो उसका उल्लंघन मेरी अशिष्टता होगी, हालांकि मैं यहां रुककर अपना कर्त्तव्य स्पष्ट कर देना चाहता था।"

"उसके लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कीजिए। मेरी सहनशीलता अभी चरम पर नहीं पहुंची है। संयम-भंग जब तक नहीं होता परिस्थिति में परिवर्तन की संभावना शेष है मन में। मैं पीड़ित अवश्य हूं लेकिन अक्षम नहीं।"

"काफी बल मिला सुनकर। अच्छा मैं चलता हूं। क्या जाते-जाते इन पुस्तकों को समेट लूं?"

"हां, यह कृपा आप अवश्य करते जायें। संभव हो तो इन्हें मेरी धरोहर के रूप में अपने पास सहेज कर रख लें, इस समय तो मैं इनकी अपराधिनी हूं।"

सुलेमान उजबक की तरह इन संवादों के मर्म को टटोलता रहा और रोकना चाहकर भी उन पुस्तकों को ले जाने पर रोक न सका। जबकि वह उन्हें जला देने की घोषणा कर चुका था।

शाम में जब निवारण समाचार लेने-देने के लिए सकूर के पास पहुंचा तो वहां जुबैदा अर्द्धचेतन तारक बाबू के सामने तन्मय हो गीता-पाठ में संलग्न थी। ठगा-सा रह गया वह—सस्वर गीता के श्लोक यूं फूट रहे थे उसके गले से जैसे साक्षात् सरस्वती बैठी हो जिह्वा पर। शुद्धता और माधुर्यता सर्वथा अनुकरणीय···अभूतपूर्व! रामनिवारण ने सोचा कि बहुत भाग्यशाली हैं तारक बाबू कि एक पारंगत-प्रकांड मुख से उन्हें गीता-पाठ सुनने का अवसर मिल रहा है। अगर इसे सुनने से आत्मशांति या मोक्ष मिला करता होगा तो निश्चित रूप से तारक बाबू को मिलेगा। निवारण सम्मोहन की हद तक डूबा हुआ था सारगर्भित भावों और जादुई स्वरलहरियों में। दो घड़ी रात मानो पलक झपकते ही बीत गयी थी। तब ही सुलेमान अपने बंधु-बांधवों के साथ आ धमका और जुबैदा को बालों से पकड़कर खड़ा कर दिया, "चुड़ैल! तूने यहां आने की हिम्मत कैसे की, जबकि मैंने मना कर दिया था।"

"जब तक मैं गीता-पाठ समाप्त न कर लूं, घर नहीं जाऊंगी, चाहे कुछ हो जाए।" जुबैदा ने अपने निर्णय को अंगद की तरह रोप दिया मानो।

सुलेमान की बत्तीसी आपस में रगड़ खाकर रह गयी। इतनी हिम्मत! अपना घर रहता तो वह इस जवाब पर उसे कच्चा चबा गया होता। फिर भी उसके मुंह से कोई सड़ी गाली आदतन निकलना ही चाहती थी कि उसके बंधुओं ने उसके कान में फुसफुसाकर कुछ मौके की सलाह दी। जिसे सुन-समझकर सुलेमान ने अपना रंग एकाएक बदल डाला, "ठीक है, तुम इसे पढ़ लेने के बाद बेखौफ घर चली आओ। तारक बाबू के एहसान के बदले अगर इस आखिरी दम में अपना कुछ फर्ज चुकाना चाहती हो तो बेशक चुका लो।"

सभी आगंतुक चले गए। जुबैदा फिर से पाठ में लीन हो गयी, जबकि रामनिवारण और सकूर अब तक हैरान थे कि सुलेमान ने अपना पैंतरा एकाएक बदल क्यों लिया, कहीं यह किसी षड्यंत्र का हिस्सा तो नहीं?

गीता-पाठ खत्म होते-होते तारकनाथ सचमुच यहां से महाप्रयाण कर गए। निवारण ने अपने प्रभाव के कुछ लोगों को बुलाकर उनकी अंत्येष्टि संपन्न करा दी। इनकी मृत्यु पर अगर किसी की आंख से आंसू बहे तो वे सिर्फ एक जोड़ी आंखें जुबैदा की थीं।

जुबैदा मन पर दुख की एक और गठरी लेकर शौहर के घर वापस आ गयी। पता नहीं क्यों एक अंदरूनी भय से सकूर मियां का कलेजा हौल-

होल कांपने लगा था। जब जुबैदा का ख्याल था कि सुलेमान अब जरूर पेश आने का ढंग बदल डालेगा। मगर वह तो जैसे अपने जबड़े चढ़ाकर पहले से ही उसकी प्रतीक्षा में तैयार बैठा था। ज्यों ही वह घर आयी, जोरदार धक्का-मुक्की करके उसने उसे एक कमरे में बंद कर दिया। जुबैदा उस के इरादे में छिपे भेड़िये को पहचान गयी।

थोड़ी ही देर बाद उसने खिड़की की फांक से देखा कि आंगन में सुलेमान के कुछ बंधु-बांधव, बरकत अली और दुल्ली मिसिर चौकी पर बैठकर खुसुर-फुसुर कर रहे हैं, जैसे एक गंभीर मसले पर किसी फैसले की आड़ में खूनी साजिश कर रहे हों।

उनके चेहरे पर क्रोध, आक्रोश, घृणा और धूर्तता के कई रंग आने-जाने के बाद जैसे कुछ तय हो गया। कमीनगी की एक काली छाया आकर सबके मुंह पर ठहर गयी। उसे जैसे आभास हो गया कि कोई बड़ा कहर एकदम समीप है।

दरवाजा जब खुला तो चार व्यक्तियों ने आनन-फानन में उसके हाथ-पैर खींचकर जमीन पर उसे पटक दिया। पांचवे ने माथे को जकड़ लिया अपने पंजे में। छठे ने उसके जबड़े फैला दिए। सातवें सुलेमान ने उसकी जीभ खींची और एक तेज चाकू से उसे काट डाला। बेपनाह दर्द से जुबैदा कटे हुए मुर्गे की तरह तड़फड़ा उठी। मुंह में खून की धारा फूट पड़ी। सुलेमान ने कटी जीभ को दिखाते हुए होंठों पर एक दरिंदे की मुस्कान लाकर कहा, "लो, अब करो गीता-पाठ और दो तालीम अपने यार रामनिवारण को।"

इस संगीन और वहशी हादसे की खबर सुनकर सकूर मियां मानो बर्फ की तरह जम गए। हफ्तों उनसे खाया-पिया न गया। गांव में इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। हां, रामनिवारण के अंतस को जरूर एक जबर्दस्त चोट पहुंची और कुछ करने के लिए उसकी देह में मानो खलबली समा गयी। उसे इसका बेहद अफसोस था कि वह प्रतीक्षा ही करता रह गया और समय कहर ढाकर फरार हो गया। बहरहाल, जुबैदा की मुक्ति अब भी बहुत आवश्यक थी, नहीं तो जीभ काटने के बाद उसकी आंखें भी फोड़ी जा सकती थीं।

मगर रामनिवारण कुछ कर पाता, इसके पहले ही सुलेमान की शिकायत पर कि जुबैदा से नाजायज संबंध स्थापित कर उसके व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप किया जा रहा है, दुल्ली मिसिर के नेतृत्व में एक पंचायत बैठायी गयी, जिसमें सर्वसम्मति से निवारण के पक्ष की बिना परवाह किए रामजतन पांडे से कहा कि वह अपने सुपुत्र को अविलंब कुछ दिनों के लिए गांव से बाहर भेज दें, अन्यथा उसके सिरफिरे रवैये पर, जिससे गांव की शांति-सद्भावना को खतरा है, गांव को कोई सख्त कदम उठाने पर मजबूर होना पड़ेगा और जाति-समाज से उसे अलग कर दिया जाएगा।

इस फैसले के बाद रामनिवारण को कहां भेज दिया गया किसी को कुछ मालूम नहीं।

जुबैदा अब बोल नहीं सकती थी मगर जमीन या दीवार पर ठिकरे से हर समय "तलाक···तलाक" लिखती रहती थी···जिसे सुलेमान मिटाता रहता था···वह लिखती रहती थी···लिखती रहती थी···।

सुराख के मुंह पर अंटा सूरज और सरदार

□ ज्योत्स्ना मिलन

सीढ़ीनुमा बैठकों पर बैठे हुए लोग उगे हुए से लग रहे थे। बातें आवाजों में डुबकी थीं और अक्सर अगल-बगल या आगे-पीछे वालों की श्रवण सीमा तक ही गतिशील थीं। हॉल में रोशनी ऐसे गुल हुई जैसे अंधेरे के बम ने उसे उड़ा दिया हो। रोशनी के साथ-साथ ढेरों बातें आधे में ही उड़ गईं। उसे लगा हॉल में अंधेरा ही नहीं खाली भी है। नहीं, खाली नहीं हो सकता, कम से कम खुद वह तो वहां थी ही। सन्नाटा इतना था कि उसे अपनी ही सांस किसी दूसरे की तरह सुनाई दे रही थी।

अंधेरे में एक छोटा-सा सुराख हुआ। सुराख के मुंह पर सूरज अंटा था और सूरज की सारी रोशनी, उसी के चेहरे पर पड़ रही थी। उसे किसी का भी चेहरा दिखाई नहीं दे रहा था। हॉल में सब दूर आकार ही आकार थे। अपनी-अपनी जगहों पर उगे हुए आकार।

हॉल में इतना अंधेरा या उजाला था कि लोग एक-दूसरे को आकार से पहचान लें। अधिकतर लोग एक-दूसरे के आकार से परिचित तो थे, मगर इस बात को जानते न थे। उसने अभी-अभी मंत्री जी को पहली कतार से गुजरते देखा तो उनके डील-डौल की ओर उसका ध्यान पहली ही बार गया। वे एक कद्दावर किस्म के अदमी थे। अनुपात में मगर, उनके हाथ किस कदर छोटे थे। जैसे किसी दस-बारह साल के बच्चे के हों। इसी तरह चौथी कतार के दाहिने सिरे पर बैठी कांता मिश्रा पर नज़र पड़ी तो वह दंग रह गई। पिछले पंद्रह सालों में उसने उन्हें कम से कम चालीस-पचास बार तो देखा ही होगा और कुल मिलाकर पंद्रह-बीस घंटे तो उनके साथ बिताए ही होंगे। आज उसे पहली बार पता चला कि उनकी गरदन तो नदारद है। चेहरा सीधे उनके धड़ पर धरा-सा है—एकदम गोल-मटोल। गेंद जैसा गोल नहीं, सेव जैसा गोल। शुरू के दिनों में कुंजी जब स्कूल से लौटकर आती तो वह उससे पूछती हिंदी कौन पढ़ाता है? वह अपने मुंह के गिर्द, चौखटा बनाती। अब आप बूझिए पहेली? अगला सवाल गणित कौन पढ़ाता है? इस बार जवाब में उसने अपने मुंह के गिर्द तिकोण बनाया अपनी पहली उंगली से। पता तो कुछ नहीं चला पर उसे भी मजा आने लगा और अंग्रेजी? इस बार उसने उंगली से चेहरे के गिर्द गोला बनाया। पता चला कि इन विषयों का क्रमश: चौकट्ठे, तिकोने और गोल मुंह वाले अध्यापक या अध्यापिकाएं पढ़ाते हैं। गोल मुंह वाली मैडम का मुंह भी कांता मिश्रा की तरह गोल न रहा होगा।

आकारों की भीड़ में चेहरा सिर्फ उसी का उजागर था और इसी बात पर मगन था कि चाहें तो सारे लोग उसके चेहरे को देख सकते हैं। उसके आगे वह कतारें थीं और आगे बैठे हुए लोगों की पीठें उसकी तरफ थीं। पिछले वाली कतारों के लोग उसकी पीठ पीछे थे। फिर भी आड़े-तिरछे, अगल-बगल से कई लोग देख रहे होंगे, एक मात्र दिखने वाले चेहरे को।

अगर लोग देख रहे हों तो उसे कैसा दिखना चाहिए? चेहरे पर खुशी पहने रहना चाहिए? उसे तानकर रखना चाहिए? या एकदम खाली कर देना चाहिए? वह तय नहीं कर पा रही थी। खुशी पहना चेहरा, एक मगन चेहरा हो सकता है, और इसलिए बेखबर भी। तना हुआ चेहरा एक साथ डरा हुआ और डराने वाला दोनों हो सकता है या आतंकित करने वाला भी।

खाली चेहरा एक सोचता हुआ चेहरा भी हो सकता है। सोचने वाले आदमी को डूबा हुआ या लापता आदमी भी माना जा सकता है।

वह डराती हुई दिखना चाहती है या सोचती हुई, यानी लापता। यों तो यहां मगन दिखने या होने में भी कोई खतरा नहीं था। दिक्कत बस इतनी ही थी कि सोचकर या तय करके न वो देर तक मगन रह सकती थी न तनी हुई, न खाली। अपनी ही निगरानी में क्यों न हो न कुछ सोचना संभव है न लापता होना।

हॉल भर में एक उसका चेहरा था और दूसरा मंच जो रोशनी में नहा रहा था। मंच पर के चेहरों पर रोशनी की परछाइयां उड़ रही थीं और लोग उन्हें पकड़ने में व्यस्त थे।

मंच पर के तमाम चेहरे डूब गए या बिला गए और एक फूलों से बना पेड़ रोशनी में उतर आया। हल्के गुलाबी और सफेद फूलों का पेड़। वे दोनों पेड़ के नीचे बैठे थे और किसी मोनियेचर पेंटिंग के एक दृश्य की तरह दिखाई दे रहे थे। मंच पर का पेड़ और आकार सिनेमा के पेड़ और आकार की तरह बड़े होते जाकर उसके पास नहीं आ सकते थे। सिर्फ रोशनी ही घट या बढ़ सकती थी।

पेड़ को देखते-देखते ही उसे पता चला कि उसके सिर की नसें उस एक क्षण तक किस कदर तनी हुई थीं। इस पेड़ के अवतरित होने के एक मिनट पहले स्वयं राशू उसके सामने प्रकट होकर कहता कि, "इस वक्त, तुम तनाव में हो।" तो वह अपना वाला एक ठहाका लगाती और कहती, "अगर मैं तनाव में हूं, तब तो संसार भर में किसी तनावमुक्त आदमी का खोजे से भी मिलना मुश्किल है।" तनाव न सही इतना तो मानोगी कि नसें तनी थीं और इसलिए चेहरा भी। तिस पर ये कि खुद उसे इसका पता ही न था।

अब चेहरा मगन था।

पेड़ बुझना शुरू हो चुका था और आकार सुलगना।

मंच अब फिर से रोशनी में नहा रहा था, चेहरों पर रोशनी की परछाइयां उड़ रही थीं, सुराख पर अंटे सूरज की रोशनी भी इस बीच मध्याह्न के सूरज की तरह बढ़ गई थी।

उसकी नजर बार-बार एक ही जगह पहुंच रही थी। पहले उसने जगह को सोचा, फिर देखा। उस जगह एक सरदार बैठा हुआ था, ठीक उसके आगे वाली कतार में दाहिने तिरछा। वह उसकी मंच को देखती बाईं आंख की चमक थी। वह सलेटी पगड़ी वाले सरदार को देखने लगी। हॉल के सारे लोग अगर इस वक्त उसकी ओर देखें तो वे उसे सरदार को देखता पाएंगे। अगर वे सरदार की ओर देखेंगे तो वे उसे सामने देखता पाएंगे। वे सोच सकते हैं कि सरदार को पता नहीं है कि वह उसे देख रही है।

वह सरदार से एक कतार पीछे है और उसकी पीठ को पूरा देख सकती है। दीवार की तरह की पीठ।

बिना पता चलने दिए वह सरदार को अधिक देर तक देखती नहीं रह सकती थी। उसकी आंख का चकता बीच-बीच में कौंधता रहता। वह फिर उधर देखने लगती।

आखिरकार सरदार को पता चल गया कि वह उसे देख रही है। उसे छोड़ वह अगल-बगल, आमने-सामने की किसी भी चीज को देख रहा था और जोर-शोर से देख रहा था जैसे उस चीज को छोड़कर वहां देखने लायक कोई दूसरी चीज हो ही नहीं फिर वह मंच पर ढेर की तरह गिरी हुई औरत हो या किसी कतार से उठकर जाने वाला कोई व्यक्ति ही क्यों न हो। सरदार के कहीं भी देखने में उसका देखा जाना शामिल था।

अब उसने मंच की ओर देखना लगभग बंद कर दिया है। बीच में उसने दो बार मंच की ओर उड़ती-सी नजर डाली थी जो मंच पर बिना टिके रोशनी के उड़ते चकत्तों की तरह मंच पर उड़ी थी। उड़ते समय ही पता चला कि सरदार ने उसकी ओर देखा है। उसने मंच को उड़ती नजर से देखना भी बंद कर दिया मगर सरदार अब ठीक सामने सिर्फ मंच को ही देखे जा रहा था। उसके देखने में अभी भी उसका देखा जाना शामिल था।

उपन्यास अंश :

सिद्धार्थ आएगा

□ चंद्रकांता

उस दिन कक्षा में राधानाथ राय की कविता 'चंद्रभागा' पढ़ाई थी। कवि ने इस कविता में ग्रीक माइथोलोजी के अपोलो और डैफिनी की तरह का कथा आधार लेकर पुरुष सूर्य और शर्मीली चंद्रभागा का वर्णन किया है। छात्र-छात्राएं मुग्ध होकर सुन रहे थे। कोणार्क मंदिर की वर्तमान दशा पर लिखी यह कविता मुझे भी बांधती रही है। कहानी पूर्णमासी के उत्सव से आरंभ होती है। मुझे अकसर लगता रहा है कि मैं वहीं कहीं इस घटना को घटते देख रही हूं। जगन्नाथ पुरी में सभी देवता स्वामी जगन्नाथ की आराधना कर रहे हैं। समस्त देवता आकर पहले मुख्य द्वार पर खड़े कामदेव को नमन करते हैं। पर सूर्यदेव बिना नमन किए सीधे ही भीतर चले जाते हैं। कामदेव इसे अपनी उपेक्षा समझ बुरा मान जाते हैं और बदला लेने की सोचते हैं। मौका भी उन्हें मिल जाता है। एक बार ऋषि सुमन्यु की कन्या चंद्रभागा समुद्र के किनारे खेल रही होती है, सूर्य उसे देखता है और कामदेव के प्रभाव में आकर उसका पीछा करने लगता है। चंद्रभागा अपने पिता के अलावा और किसी पुरुष को नहीं जानती। सो सूर्य को पीछा करते देख घबरा कर भागने लगती है। सूर्य पीछे-पीछे भागता है। चंद्रभागा डरकर समुद्र में कूद जाती है। सूर्य निराश होकर कोणार्क मंदिर लौट आते हैं तो वहां मंदिर को खंडहर हुआ पाते हैं। चंद्रभागा के पिता ऋषि सुमन्यु ने सूर्य के मन में चंद्रभागा के प्रति उपजे पाप के कारण शाप देकर कोणार्क को खंडित कर दिया है···

चंद्रभागा नदी, जो कभी कोणार्क के पास बहा करती थी, सूर्य किरणों के ताप से धीरे-धीरे सूखकर विलप्त हो गई। राधानाथ राय की कल्पना ने इसी तथ्य को सुंदर कविता का रूप देकर कथाशैली में बांध दिया।

उस दिन सूर्य के पीछा करने और चंद्रभागा के समुद्र में कूदने के दृश्य बार-बार मेरी आंखों के आगे घूमते रहे। चंद्रभागा के मन में प्रेम जैसी भावना का अंकुर नहीं फूटा था। तभी एक डर, एक वहम उसे पुरुष संपर्क से बचने के लिए मजबूर करता रहा और वह भागती रही, भागती रही सागर में अलोप होने तक।

पता नहीं क्यों मैं अपने आपको चंद्रभागा की जगह पर देखने लगी। कहीं कोई साम्य था क्या? बाहरी तो नहीं, पर भीतर अवश्य कुछ समान था। पुरुष की छाया से भागने की प्रवृत्ति! मैं भी तो अब तक पुरुष की छाया से दूर छिटकती रही थी। मैंने सोचा, कभी यदि कोई मेरा पीछा करे, तो क्या मैं भी सागर में कूदकर अलोप हो जाऊंगी? दरअसल उस दिन मन बड़े बेतुके ढंग से सोचने लगा था—सिद्धार्थ से फोन पर हुई बात से अनाम डर-सा मन में उगने लगा था—वह मुझे बुला रहा है, या मेरा पीछा कर रहा है? मेरे भीतर सागर की उत्ताल लहरों का ज्वार उफनने लगा।

"नहीं, मैं नहीं जाऊंगी। इस बार जाकर लौटना नहीं होगा।" लेकिन मुझमें बैठा कोई दूसरा मुझे ढकेल रहा था। "जा न···चली जा। वह इंतजार में बैठा होगा।" उसकी कांपती-सी आवाज कानों में गूंज उठती। "प्लीज, डोंट डिच मी।"

आज सोचती हूं, न मैं चंद्रभागा थी और न ही सिद्धार्थ सूर्यदेव! हम दोनों साधारण इंसान थे और युवा स्त्री-पुरुष की इच्छाओं-आकांक्षाओं से भरे! हमारे मनों की दौड़भाग डूबकर उबरने के लिए थी। हमारी ऊहा-पोह अपने इर्दगिर्द बुने जालों को न तोड़ पाने की दुविधा थी।

लेकिन उस वक्त ? उस वक्त सोचा कि जाऊंगी तो क्या पहले की तरह अलग-थलग रह पाऊंगी ? पहली मुलाकात को औपचारिकता का जामा पहनाकर मैंने सहज होने की कोशिश की थी। पर अब मन बेतरह डगमगा रहा था। बार-बार सिद्धार्थ की अनुरोधभरी कांपती आवाज मेरा पीछा करती—"प्लीज डोंट डिच मी !"

तो क्या सूर्य फिर चंद्रभागा का पीछा कर रहा था ? लेकिन इस बार की चंद्रभागा किशोरी-बालिका नहीं थी। डर कर समुद्र में छलांग नहीं लगायेगी। भीतर का डर बाहर दिखाने में भी संकोच आड़े आ जाएगा। उम्र ने उसे बाहर से पक्का तो कर दिया पर भीतर की अनछुई किशोरी छुई-मुई-सी मुरझा रही है।

मैं कुछ देर बिखरे काम समेटती रही। अपने आपको आश्वस्त करती रही। आह ! यह सब भावुकता है ! कोई अपराध करने तो नहीं जा रही, मिलने जा रही हूं। सिद्धार्थ की जगह कोई लड़की होती, तो यह सब उधेड़-बुन होती ही नहीं। मैं भी कम पिछड़ी हुई नहीं हूं। सदियों पहले का सोच मुझे जकड़े बैठा है।

यह स्त्री पुरुष का भेद करके मैं नाहक उलझने लगी हूं। मेरे भीतर की कुंठाएं मुझे सहज नहीं होने दे रहीं !

मन हर बात को मानने से पहले तर्क गढ़ने लगता था। गलत को सही और सही को गलत करने के हास्यास्पद तर्क ! दरअसल मेरा मन तब बेहद अस्पष्ट और कमजोर था। चीजों को सही-स्वाभाविक ढंग से देखना मुमकिन नहीं हो पा रहा था। फिर अपने लिए सोचना भी तो गुनाह लगता था।

पता नहीं, तमाम ऊहापोह के बावजूद, उस दिन मैं कैसे 'कोणार्क' होटल पहुंच गई। पांव अपने आप उसी दिशा में चल पड़े थे। वह लाऊंज में चहलकदमी करता हुआ मिला था। मुझे देखते ही लपककर आगे बढ़ आया, "आधे घंटे से इंतजार कर रहा हूं।" उसने उंगली से कलाई पर बंधी घड़ी की तरफ इशारा किया।

"निकलते-निकलते थोड़ी देर हो गई। पर आ तो गई न ?"

"थैंक्स ए लॉट ! मुझे डर था कहीं मैं इंतजार न करता रहूं···"

"नहीं, मैंने वादा किया था।" मैं उससे आंख नहीं मिला पा रही थी। जबकि वह सीधे मेरी तरफ देखकर बात कर रहा था। इस 'आई कांटेक्ट' से मैं बेहद उलझ जाती थी। आंखें मन का आईना जो होती हैं। पता नहीं कौन-सा रूप दिखा दें।

"सो नाईस आफ यू। आइए, ऊपर चलें।"

"यहीं लाऊंज में बैठकर बात कर सकते हैं।" मैं उसके साथ कमरे में चलने को राजी नहीं हो पा रही थी, हालांकि यह भी जानती थी कि लाऊंज में बैठना खतरे से खाली नहीं। लोगों का आना-जाना जारी था। कब कौन पहचान वाला नजर आए···कौन जाने।

"यहां भीड़ है। आइए, घबराने की कोई बात नहीं।" वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए सीढ़ियों की तरफ जाने लगा और मैं अपने कदमों को उसके पीछे-पीछे घसीटने लगी थी। मैं दो कदम पीछे रह जाती तो वह रुक कर मेरे बराबर हो लेता। उसे तो साथ चलने वाला दोस्त चाहिए था। दो कदम पीछे चलने वाली अनुगामिनी नहीं। उस वक्त होटल के कर्मचारी, बैरे, यात्री वगैरह ऊपर नीचे आवाजाही कर रहे थे। इस वजह से भी मैं बहसमुबाहिसे में न पड़कर चुपचाप साथ हो ली थी। सहज होने की तमाम कोशिशों के बाद भी लग रहा था कि आते-जाते लोग मुझे शंका की नजरों से देख रहे हैं।

कमरे में पैर रखते ही मेरी नजर सिंगल बेड पर पड़ी। दिमाग ने चेताया—यह बैचलर का कमरा है। यहां तुम्हारा क्या काम ? मेज पर कुछ छिले अधछिले संतरे रखे हुए थे। साइड टेबल पर पैड और पेन रखा था। खुले कागज पर सुंदर अक्षरों में कुछ पंक्तियां लिखी थीं। शायद लिखते-लिखते अधबीच ही उठना पड़ा हो। कागज पेपरवेट के नीचे दबा पंखे की हवा से फड़फड़ा रहा था।

"बैठिए।" उसने अकेली कुर्सी की तरफ इशारा किया और खुद पलंग के किनारे पर बैठ गया।

"फ्लाइट आज देर से आई। दो बजे यहां पहुंचा तो एयरपोर्ट से ही आपको फोन कर दिया। वाराणसी में दो घंटे रुकना पड़ा। वहां प्लेटफार्म पर बोर होते आपके बारे में ही सोचता रहा तो वक्त कट गया।"

"उससे तो बोरियत और ज्यादा बढ़ गई होगी।" मैं कुछ कहने की खातिर ही कह गई।

"नहीं। बल्कि लगा आपसे बतिया रहा हूं। आपके साथ बिताए वक्त को दोबारा से जी लिया। जाते वक्त आपसे बात नहीं हो पाई थी न, इसलिए खराब-सा लग रहा था। यह पिछले बीसेक दिन मैंने कैसे गुजारे आपको क्या बताऊं ? कहूं भी तो शायद आप विश्वास न करें। वैसे भी आप मुझ पर विश्वास कम ही करती हैं।"

"नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं।" मैं छोटी-सी हंसी हंसकर रह गई, थोड़ी नर्वस-सी हंसी। वह कितने अरसे से मुझे जानता था ? मेरे मन की हर बात, हर आशंका, डर, उससे कुछ भी अचीन्हा नहीं रह पाया था। मैं तो बस, अवश खिंचाव से उसके आसपास डोलने लगी थी, अपनी लक्ष्मण रेखाओं को लांघती। पूर्व जन्म के बारे में मैंने कभी नहीं सोचा। अगर पूर्व जन्म होता हो तो जरूर इस व्यक्ति से मेरा कोई रिश्ता रहा होगा। नहीं तो मैं एक लगभग अनजान आदमी के साथ होटल के कमरे में आने की हिम्मत ही कैसे करती ? मैं, जो मिश्र परिवार की परंपराओं और मान्यताओं के प्रति बचपन से ही प्रतिबद्ध रही हूं, घर परिवार के अनुशासन की धुरी, जिसके बारे में मेरी खामोश मां भी कभी-कभार कह ही लेती हैं—"घर परिवार के सुख में अपना सुख देखती इस लड़की ने अपने लिए कभी कुछ नहीं सोचा, कभी कुछ नहीं मांगा। जाने किस जन्म की तपस्विनी है···"

मैं, अब तक की तपस्विनी, इस अनजाने पुरुष के पास चाय-कॉफी पीने और बतियाने के आमंत्रण पर होटल में। मेरे परिजन देखें तो शायद अपनी आंखों को ही दोष दें, या घोर आश्चर्य से चक्कर खाकर गिर पड़ें। मगर मैं भीतर से नर्वस होते हुए भी बाहर से सहज बनी रही।

"आपने कहा था कोई जरूरी बात करनी है।"

"हां, पहले चाय तो पी लें। खाने को क्या मंगाऊं ?"

"मैं जल्दी में हूं। एक कप चाय पी लूंगी बस। आप जो मन हो, ले लें।

"जल्दी में तो आप हमेशा ही होती हैं।" वह मुस्कराया। मैंने देखा, मुस्कराने से उसका चेहरा उजला हो जाता है। आंखें ढेर-सी अनकही बातें कहती गुदगुदाने लगती हैं।

"इस बार आपके साथ कोणार्क का प्रोग्राम बनाना है। दो दिन शहर में रहूंगा। एक पूरा दिन आपके नाम करना है। उसके बाद कलकत्ता जा रहा हूं। जीजा जी ने एक बिजनेस डील में फंसा दिया है।"

"कोणार्क? ओ मां! मैं नहीं जा पाऊंगी। सॉरी! घरवाले इजाजत नहीं देंगे, और बिना बताये जाना ठीक नहीं होगा" मेरे भीतर की 'मैं' के आसन पर बाहर की कुनी बैठती हुई बोली। ठीक तो यहां आना भी नहीं था। पर वह सब मैंने नहीं कहा। सिद्धार्थ का चेहरा मेरी बातें सुनकर उतर गया था।

"आप ठीक कहती हैं पर…"

कुछ देर के लिए कमरा चुप्प हो गया। अपनी सांसों की आवाज सुनती मैं अगली बात का इंतजार करती रही। क्या कहेगा सिद्धार्थ?

"बुरा लगे तो माफ करना, एक बात पूछ सकता हूं?" वह गांभीर्य झटक कर सहज हो आया था।

"कहिए।"

"क्या आप अपनी सभी बातें घरवालों को बताती हैं?"

"मैं समझी नहीं।"

"मतलब यह कि आपका निजी भी तो कुछ होगा। जिसे सभी के साथ शेयर नहीं किया जा सकता हो। या शेयर करना जरूरी नहीं हो।"

सिद्धार्थ की बात ने मुझे आहत-सा कर दिया था। उसके शब्द कठोर नहीं थे, पर मेरे लिए उनका अर्थ यातनाप्रद था। मैंने किसी को भी अपने निजी सुख-दुख का भागीदार नहीं बनाया था। मेरे भीतर उगता निचाट अकेलापन और खाली झोली का अहसास मुझे बेतरह सालने लगा था और सिद्धार्थ ने मेरी दुखती रग पर अंगुली रख दी थी। सिद्धार्थ की बात का उत्तर देते इसीलिए मेरा लहजा सख्त हो गया था।

"मेरा ऐसा निजी कुछ भी नहीं है जिसे दूसरों से छिपाना पड़े। मैं गैरजरूरी पचड़ों में पड़ती ही नहीं।"

बोलते-बोलते मेरा चेहरा सफेद पड़ गया था। उसी ने बाद में बताया—"तुम्हें क्या हो गया था अचानक?" लेकिन उस वक्त वह क्षमा याचना-सी करते बोला—

"आय यम सॉरी! मेरा मतलब यह नहीं था।"

"अच्छा, मैं चलूंगी अब।" मैं अचानक खड़ी हो गई थी। "घर पर चिंता करेंगे। उस वक्त लगा था किसी ने मेरे निजी मामले में दखलंदाजी कर मुझे अपमानित कर दिया है। आज तक मैंने किसी को इस तरह के हस्तक्षेप का अधिकार नहीं दिया था।

"मैंने आपको नाराज कर दिया।" वह भी मेरे साथ उठ खड़ा हुआ। "…मुझे सचमुच अफसोस है, मैं ऐसा चाहता नहीं था।"

"…नहीं, ऐसा कुछ नहीं।" मुझे उसके उतरे चेहरे पर फिर ममता हो आई।

"…मैंने सच ही कहा है। घर में सबसे बड़ी हूं न? अपने लिए कभी सोचने का मौका ही नहीं मिला। सभी जो मेरे लिए चिंता करने वाले हैं।"

दरवाजे पर पहुंचकर उसने मेरे कंधे पर हाथ रख दिए। क्या मालूम क्या हरकत करे, मैं चौकन्नी हो आई थी, लेकिन उसने कोई बेअदबी नहीं की।

"तो मैं समझूं कि मेरी बात आपको बुरी नहीं लगी?"

"नहीं-नहीं। इसमें बुरा क्या लगना, बस, जरा जल्दी में हूं।"

अगर सचमुच बुरा नहीं लगा तो मेरी एक बात याद रखिए। अपने लिए सोचना गुनाह नहीं होता। आखिर हम खुद अपने बारे में न सोचें तो दूसरा क्यों सोचेगा? आप भी अपने लिए सोचना सीखिए।"

वह बहुत पास आकर खड़ा हो गया था। मैं उसकी सांसों की आवाज सुन सकती थी। कोलोन और आफ्टर शेव लोशन की मिली जुली गंध मेरी सांसों में घुलने लगी थी। मैं वहां से भागना चाहती थी। पता नहीं किससे? सिद्धार्थ से या अपने आप से? मैं लगभग दौड़ती-सी बाहर जाने लगी तो उसने मेरी बांह पकड़ ली।

"ऐसे नहीं भागो प्लीज। मुझसे क्या भागना? कहोगी तो खुद ही दूर चला जाऊंगा। जैसे आया वैसे जाऊंगा भी। पर तुम अपने से भाग कर कहां जाओगी? एक मिनट रुक जाओ। जाने से पहले तुम्हें कुछ देना है। इसे लेती जाओ।"

उसने साइड टेबल पर पेपर वेट के नीचे दबा पड़ा कागज मोड़कर लिफाफे में डाल दिया और मेरी ओर बढ़ाया—

"इसका जवाब देना! दोगी न?" आवाज में वही आत्मीय आग्रह!

"कल मैं यहीं हूं। कोई अपॉइंटमेंट नहीं है। तुम्हारा इंतजार करूंगा। कोणार्क न सही, और भी तो जगहें हैं इधर देखने की। जरूर आना। साथ चलेंगे।"

"देखूंगी, अगर मुमकिन हुआ तो।" मैं फिर सुन्न-सी होने लगी। अवश खिंचाव से असहाय-सी।

"होगा मुमकिन कुनी! तुम चाहो तो जरूर आ सकती हो।"

इस बार उसने हाथ नहीं हिलाया। कंधों को हल्के से घेर लिया, "सी यू।"

उस दिन मैं घर कैसे पहुंची, मालूम नहीं। धड़कनों का बेकाबू होकर सीने से बाहर निकलने को उतावला होना, मैंने उस दिन पूरी शिद्दत से महसूस किया था। कंधों पर कोई जादुई छुअन ठहर गई थी और मैं उस अहसास से होश खोने लगी थी। मैं अपने कंधे बार-बार ढक लेती। लगता अगर कंधे ढक नहीं लिए तो वह मीठी छुअन उड़कर मुझसे दूर हो जाएगी। मुझे कोई नायाब चीज मिली थी जो बिना खोजे ही मेरी झोली में आ गिरी थी। मैं उसे सहेज कर रखना चाहती थी। मेरे भीतर की सोई पड़ी औरत अंगड़ाई लेकर जाग रही थी। एक बार जरूर लगा था कि मुझसे कुछ गलत हुआ है, पर उस गलत के लिए मैं अपने को दोषी नहीं ठहरा सकी। उसने मुझमें आतंकभरा सुख भर दिया था। जो कभी असंभव था, वह अचानक संभव हो गया था।

"होगा, कुनी होगा!"

मेरे अवचेतन के भीतर उठते कई-कई प्रश्नों का उत्तर सिद्धार्थ ने मुझे थमा दिया था। "होगा, कुनी होगा। तुम चाहो तो जरूर होगा।" क्या होगा? उस होने का कोई चेहरा मेरे सामने स्पष्ट नहीं था।

घर पहुंच कर मैंने सिद्धार्थ का छोटा-सा पत्र खोलकर पढ़ा, बड़े सुंदर अक्षरों में लिखा था—"कुना डियर! तुम नये अनुभव की ताजगी लेकर मेरे मन में उतरी हो। जब से देखा है, पल-भर के लिए भी तुम्हें अपनी आंखों से दूर नहीं कर पाया हूं। अब तक कहां थीं तुम? अब आई हो तो जाना मत। मैंने मन का एक खाली कोना तुम्हारे लिए सुरक्षित रखा है। तुम्हारे पास कोई खाली जगह हो तो मैं आ जाऊं?"

खाली जगह! कैसे कहती कि मैं तो मनवंतरों से तुम्हें खोज रही हूं। मेरे भीतर तो आकाश भर जगह है तुम्हें संजोकर रखने के लिए। तुम्हारी अहसानमंद हूं कि तुमने मुझे एक चिड़चिड़ी लड़की होने से बचा लिया। अपनी खाली झोली पर पछताती ताउम्र अपनी मजबूरियों का स्यापा पढ़ती, 'तपस्विनी' का चोला पहने मैं अपने स्त्री होने का मातम मनाती ही गुजर जाती। अपने भीतर उगती इच्छाओं का गला घोंटती मैं, कुढ़ती-खीजती दूसरों की हंसी से खामखाह ईर्ष्या करने लगी थी। तुमने मेरे बाकी बचे दिनों को कोई अर्थ दिया है। मेरे भीतर गजब का विश्वास जन्म लेने लगा था। कुनी! एक ही रात में तेरी झोली चांद तारों से भर गई। तेरे भीतर नयी उम्मीदों के सूरज उगने लगे। इतनी खुशी तू कैसे सम्हाल पायेगी?

उस रात मैंने कुछ नहीं सोचा। सिर्फ रात बीतने का इंतजार करती रही। सुबह घर में कहा कि कुछ लोग बाहर से आए हैं, उन्हें नगर दर्शन कराना है। कॉलेज से छूटते ही उनके साथ जाना होगा। देर हो जाए तो चिंता मत करना।

मेरी बातों की प्रतिक्रिया मां और मंदा पर क्या हुई, मैंने नहीं देखा। यों भी उन दोनों के चेहरे इतने सपाट और भावहीन रहते हैं कि उनके मन में क्या उग रहा है, इसका अनुमान लगाना मुश्किल होता है। उस वक्त मैं उनकी प्रतिक्रिया पर माथापच्ची करने की स्थिति में नहीं थी। मैं किसी का अधिकार नहीं छीन रही, किसी का सुख नहीं बांट रही। मन में एक ठोस तर्क घर कर चुका था। बस, अपने लिए कुछ खुशी के पल बटोर रही हूं, जिन्हें अगर हाथ से निकलने दूं, तो दोबारा पाने का अवसर नहीं मिलेगा।

उसी अगले दिन मैं और सिद्धार्थ धौलगिरि की पहाड़ी चढ़े थे। चढ़ाई चढ़ते पल-भर किसी पत्थर या पेड़ की टेक लेकर मैं सुस्ताने को रुक जाती तो सिद्धार्थ अपनी बांह का सहारा देता और फिर दोनों साथ-साथ हवा के थपेड़ों को समूचे जिस्म पर झेलते हम आगे बढ़ जाते। हवा के वेग से सांसें रुंध-सी जातीं—"ऐऽऽ। थोड़ा रुक जाओ न! कोई पीछा कर रहा है क्या?" मैं फेफड़ों में भरी सांस बाहर फेंक देती। वह कदम रोक लेता।

"अब ठीक?"

"हां, मुझसे इस तरह भागा नहीं जाएगा।"

"सॉरी! दरअसल मैं धीरे चलने का आदी नहीं हूं। टांगें भी कुछ ज्यादा ही लंबी हैं न? छोटे कदम उठा ही नहीं पाता। कॉलेज के दिनों में दोस्त मुझे अब्राहम लिंकन कहकर पुकारते थे···" वह चहकने लगा था। मैं भी खुल गई थी। मौसम बेहद खुशगवार था। वर्षा के बाद की हवा में गीली मिट्टी की सौंधी खुशबू घुल गई थी। दूर तक पहाड़ी की तराई में बिखरे पेड़-पौधों के बीच बिछी चट्टानों की दरारों में हरी दूब झांक रही थी। पत्थरीले जोड़ों पर काई के गुच्छे! शहर के कोलाहल से दूर हरियाली और हवा के खेल में थकान भाग गई थी। काजू, नारियल और केवड़े के दरख्तों की खुशबुओं से महकी हवा हमें छूकर गुदगुदा रही थी और हम बेहद खुश थे। धौलगिरि के दामन में हरियाली का आलम पसरा पड़ा था और ऊपर पहाड़ी की चोटी पर श्वेत संगमरमर का शांति स्तूप! वहां पहुंचना उस समूचे माहौल में रमने का लाजवाब सुख हथियाना था ऊपर तक पहुंचते-पहुंचते हम दोनों हांफने लगे थे और हांफते-हांफते एक-दूसरे को थाम बिला वजह खिलखिला रहे थे। या शायद वजह थी, कुनी और सिद्धार्थ एक साथ भीतर से बाहर आ गए थे। वक्त के एक नायाब टुकड़े को फूलों की तरह थामे, और हवा उनके साथ थी।

ऊपर तथागत के चेहरे पर इतनी शांति थी कि देखकर शांति का अहसास अंतरात्मा को अनायास छू जाय और मन का सारा क्षोभ घुल जाय। काफी देर तक हम स्तूप की परिक्रमा में दीवारों पर अंकित ठहरे हुए अतीत के कालखंड को देखते रहे। बोधिसत्व के जन्म से लेकर निर्वाण तक की मुख्य घटनाएं! अशोक का शौर्य मद से चूर होकर शूरवीर कलिंग वासियों का निर्मम शिरोच्छेदन करना और मुकाबले में रक्त नदी में तैरते योद्धाओं का हार स्वीकार न करने का प्रण! कैसा चीत्कार गूंज उठा होगा चौतरफा तब? दया नदी वीर पाइकों के खून से लाल हो गई। यह कैसी विजय थी कि सम्राट अशोक बुद्ध के चरणों पर ढह पड़ा। "मुक्त करो। मुझे इस नृशंस नरसंहार की आत्मप्रताड़ना से मुक्त करो तथागत!"

जब-जब मैं धौलगिरि में बुद्ध की प्रतिमा के पास आती हूं, तथागत की शांत मुद्रा को मोहाविष्ठ हो देखती रहती हूं। उनकी दृष्टि से कई-कई अदृश्य ज्योतिपुंज फैलते दिखाई पड़ते हैं। इसी तेजस्वी दृष्टि ने तो 'चंड अशोक' को 'धर्म अशोक' बना दिया था। यहां मन की गिठानें खुलने लगती हैं। मैं यहां अकसर आती रहती हूं पर सिद्धार्थ पहली बार आया था, उत्कल प्रदेश की सांस्कृतिक-ऐतिहासिक गरिमा से खिंचा! वह मुग्ध था। उसे तो जड़ शिल्प, मूर्तियां और भवन देखने थे। मूर्तियों का इतिहास जानना था, उनमें उगती सांस को महसूस करने का अनुभव तो यहीं आकर हुआ। उसने कहा भी—"यहां की हर मूर्ति बोलती है कुनी, फिर तुम पत्थर कैसे बन गईं?"

"लेकिन तुम्हारे छूने से तो मैं पत्थर से हाड़ मांस की स्त्री बन गई। तुमने तो असंभव तो संभव कर दिया सिद्धार्थ!"

कभी-कभी ऐसा होता है जो शायद पहले से ही तय हो चुका होता है। जैसे यहां तुम्हारे चंड अशोक का धर्मनिष्ठ बनना पूर्व निर्धारित था, वैसे ही हमारा तुम्हारा अचानक मिलन भी पूर्व निर्धारित हो सकता है।"

हम ध्यानमग्न तथागत के निर्विकार चेहरे के सामने खड़े थे। अपने भीतर जन्मे नये राग की चंचल उद्विग्नता को धड़कनों में संभाले हुए! हमारे लिए बुद्ध होना संभव नहीं था। राग और विराग के लंबे ऊबड़-खाबड़ रास्तों से गुजरे बिना बुद्ध की शांति पाना मुमकिन नहीं होता!

इस सच को हम दोनों अनाड़ी होने के बावजूद तब भी जानते थे ! फिर भी मेरे भीतर सवाल उठे थे।

इतनी शांति ! इतनी बेफिक्री ! मुमकिन हो सकती है क्या आदमी के लिए आज ? भीतर की लड़ाइयों से छुटकारा पाना तुमसे कैसे संभव हो सका तथागत !

सिद्धार्थ मुझे कंधों से घेरकर गोलाकार दीवार के पिछवाड़े ले गया—"इधर देखो ! यहां ! उंचाई पर खड़े अस्त होते सूर्य की किरणों का मोह जाल ! अपने में जज्ब कर देता है यह नजारा ! यह फलसफा छोड़ो। सच कहो, मन बेफिक्र नहीं होता कुछ देर के लिए ? निर्द्वंद !"

आसमान के पश्चिमी घेरे पर सफेद काले बादलों के टुकड़े गुलाबी-सुनहरे रंगों में रंग गए थे। नीचे दूर तक बिछी हरियाली लाज के रंगों में घुल रही थी—सुनहरे रंगों के अक्स में सिद्धार्थ का चेहरा भी उजला हो आया था। बेरोक हवाओं ने हमारे बाल छितरा दिए थे। लेकिन बिखरी लटों को बार-बार कानों के पीछे खोंस कर मैं अपने मुग्ध क्षणों में बाधा नहीं चाहती थी। मोहसनी किशोरी-सी मैं आसपास के कई बार देखे दृश्यों को विभोर होकर देख रही थी। आकाश से धरती पर बरसे ढेर सुवर्ण रंग धरती की छाती में बहती दया नदी का रंग भी सुनहरा हो आया था। सिद्धार्थ ने दायीं बांह से मेरे कंधे को जकड़-सा लिया था। मैं उसे हटा नहीं पा रही थी क्योंकि मेरे अंदर कई-कई वाद्यों की सिंफनी बज रही थी। यहूदी-मैनहू्युन का आत्मलीन करने वाला आर्केस्ट्रा ! मैं सुन रही थी उस संगीत का जो आदम और हव्वा की धमनियों में भी शायद इसी तरह से गूंजा होगा कभी ! रगों-रेशों में गुनगुने रक्त का प्रवाह तेज और तेज होता हुआ। मेरी सोई देह तन गई थी। चलते-चलते ज्यों चीड़ के फिसलने वाले पत्तों पर पांव पड़े हों और मैं रपटने लगी होऊं। मुझे संभालो ! मैं हाथ बढ़ाकर सिद्धार्थ को थामना चाहती थी, मुझे बचा लो ! गिर पड़ी तो टूट कर बिखर जाऊंगी···लेकिन मेरे लिए खुद ही संभलना जरूरी था। कई-कई जोड़ी अदृश्य आंखों के प्रेत जो मुझे घूरे जा रहे थे, भीतर तक चीरती हुई प्रश्नाकुल आंखें ! उदास आंखें ! धमकाती आंखें। बोलो ! अब अगला कदम क्या होगा तुम्हारा ?

हव्वा को तो इन आंखों का सामना नहीं करना था। तभी शायद देह को तड़क कर टूटने से बचाना ही उसकी अकेली चाह बन गई थी ! देह-मन के ताप से मुक्ति ! पर मेरे लिए मुक्ति अभी भी सहज नहीं हो पा रही थी। शायद इसीलिए मैं एक लंबी दूरी तय करने के बाद नजदीक पहुंचने पर यकायक छिटक आई थी। सिद्धार्थ से ज्यादा अपने प्रति बेरहम होते हुए।

"इसी दया नदी में पानी के बदले रक्त बहा था जब अशोक ने कलिंग देश पर आक्रमण किया था। कैसा दृश्य रहा होगा वह, जब दया के किनारे इन काजू, कटहल और आमों के पेड़ों के बीच यह शांत पहाड़ी लाशों से पटी होगी और इसके दामन में बिछी धरती की छाती छलनी हो गई होगी !"

"लेकिन इस वक्त वह सब क्यों याद करना ? शांति और द्वंद्व साथ-साथ ! उंगलियां जब मनचाहे वाद्यों पर थिरकने को मचल रही हों, उस वक्त यह बेसुरा आलाप क्यों !" मंत्रविद्ध-सा सिद्धार्थ इस अप्रत्यासित संवाद से उत्पन्न स्थिति के लिए तैयार नहीं था।

"कम ऑन कुनी ! अब इन खूबसूरत लम्हों को यों हलाल न करो। कुछ देर तो भूलने दो इतिहास को ! तुम्हारे वर्तमान का कोई भी पल क्या अपने में पूरा नहीं होता ?"

मैं चुप हो गई थी। एकदम पूरा माहौल चुप हो गया था। कितनी खामोशी छा गई थी वहां ! हवा के झोंकों से गिरते पत्ते भी बुदबुदा रहे थे शीऽऽऽ ! चुप !

"अब चलें ?" मैं जल्दी ही अपनी धरती पर लौट आई थी या शायद मैं उससे दूर हो ही नहीं पाई थी। जरा पर तौलने लगी थी आकाश में उड़ान भरने के लिए, कि वापस जमीन पर लौट आई। वह भी जल्दी ही संभल गया।

"हां, देर हो रही है तुम्हें ! चलो !"

पत्थरीली सीढ़ियां उतरते हम फिर एक-दूसरे से दूर चले गए। तराई पर ढोक चट्टानों के बीच उगे जंगल को पार कर हम पहाड़ी के दामन तक उतर आए। काई जमी चट्टानों के पास टैक्सी खड़ी थी। सांझ ने सुरमई रंग पेड़-पौधों और दूर तक फैले खेतों पर उलीचना शुरू कर दिया था। अब और रुकना ठीक नहीं था। लेकिन सिद्धार्थ को अगली सुबह जाना था। फिर न जाने कब इस तरफ आना हो। कल हमें फिर अलग हो जाएंगे और अपनी-अपनी काई-कछारों से ढक जायेंगे···। वह अचानक बीच में आई दूरी से उदास हो गया था, और शायद विदा होने से पहले उस खाई को पाटना चाहता था।

"उधर शिलालेखों के पास, ऊपर वाली चट्टानों पर बैठ जायें ?" उसकी आवाज में चिरौरी थी।

"इस वक्त नहीं। अगली बार। अभी आपने ही तो कहा था देर हो रही है। भूल गए ?" मैंने उसका मूड़ ठीक करने के लिए अगली बार का लालच दिया। सचमुच ही उसका चेहरा खिल आया।

"अच्छा, जरा दो मिनट देखें उन शिलालेखों पर क्या लिखवाया है चंड अशोक ने ?"

"जब यह शिलालेख लिखे गए तब चंड अशोक बुद्ध की शरण में आकर 'धर्म अशोक' बन गया था। जाहिर है उन अभिलेखों पर महात्मा बुद्ध के दर्शन की प्रतिच्छाया है, जो पाली में लिखे हैं और हमारी समझ से बाहर हैं। उसके ऊपर विशाल चट्टानों पर बैठना भी खतरे से खाली नहीं है। वहां जहरीले सांप-बिच्छू बेधड़क घूमते रहते हैं।"

"ओ गॉड ! तुमने तो मुझे डरा ही दिया। तो चलो, वहां उस बरगद के नीचे उन पट्टों पर देखें क्या लिखा है। ओडिया, अंग्रेजी और हिंदी में लिखा है। दो भाषायें तो मैं पढ़ सकता हूं, तीसरी तुम पढ़ कर समझा देना।"

वह एक-एक पल चुरा कर यादों में संजोना चाहता था। उसके लिए उसे बचकानी हरकतें करने में भी कोई परहेज नहीं था। जटाधारी बरगद की छांह में, जहां पट्टों पर संदेश लिखा था। अंधेरा चुपचाप खड़ा हो गया था। सिद्धार्थ मेरा हाथ थाम उस ओर बढ़ने लगा।

"आप तो बच्चों की तरह जिद करते हैं।"

"नहीं, बच्चों की तरह नहीं कुनी ! कल मैं चला जाऊंगा । एक बार करीब से तुम्हें महसूस करना चाहता हूं ।" बरगद की घनी छांह में उसने मेरी पत्ते-सी कांपती देह को बाजुओं में भींच कर सीने से लगा लिया । और जल्दी ही अलग हो गया । बस, कुछ पल ! पर वे पल हमेशा के लिए मेरी छाती पर खुद कर रह गए ।

"थैंक यू डियर ! थैंक्स ए लॉट !"

हम लोग टैक्सी में बैठ गए तो सिद्धार्थ के सीने की धड़कन मेरी सांसों के गुंबद में गूंज रही थीं । नीला-नीला जादुई-सा कुहरा मुझे अपनी गिरफ्त में ले चुका था, पहाड़ी कुहरा, जो ऊंची-ऊंची चोटियों को लिहाफ की तरह ढक देता है । मेरा जेहन भी उस जादुई कुहरे से कुछ देर ढक गया था । फिर तन्नाई हुई देह धीरे-धीरे कुनकुनी धूप में पिघलने लगी और पसीने से सराबोर हो गई । यह सब अचानक ही हो गया । पल भर में ही दुनिया का चेहरा बदल गया ।

वह बीता हुआ कालखंड कैसे आज भी जेहन में सुरक्षित है ! कुछ भी तो भूली नहीं हूं मैं ! विदा लेते उसने कहा था, "दो जने साथ हों तो दुनिया कितनी सुंदर लगती है । ऐसे मिलकर जीने के क्षण भी जिंदगी में बहुत कम आते हैं । बाकी तो रुटीन ही है कुनी !"

मैं तब तक भीतर चलती ग्रंथियों से मुक्त नहीं हो पाई थी, बदलाव की प्रक्रिया हालांकि शुरू हो चुकी थी । नैतिकता का जो रूढ़ अर्थ मेरे जेहन में भरा था उसे बदले बिना मैं सिद्धार्थ को अपना नहीं सकती थी क्योंकि मेरे रूढ़िवादी परिवार के मानदंडों पर हमारा रिश्ता खरा नहीं उतरता था । लेकिन सिद्धार्थ में गजब का धैर्य था ।—"मैं फिर आऊंगा कुनी !"

शीघ्र प्रकाश्य उपन्यास 'अपने-अपने कोणार्क' का अंश ।

छोटी लड़ाई बड़ी लड़ाई

□ गुलशन राय मोंगा

बाबूलाल की भट्ठी आज कई रोज के बाद फिर से गर्म हो रही थी।

कर्फ्यू की मियाद खत्म होने पर मुमकिन है वह पहला शख्स रहा हो जिसने कई रोज से बंद पड़े ताले को खोला था।

मुंह-अंधेरे दुकान खोलने पर भी चार-छः जन वहां पहले से मौजूद होते हैं—हमेशा।

बाबूलाल की चाय पीने को बेसब्र। इनमें सुबह-सवेरे के वक्त अधिकतर सड़कों पर रात बिताने वाले शरीफ लोग, कम शरीफ लोग, सफाई वाले, चौकीदार, रिक्शा-ठेले वाले, अखबार वाले आदि के अलावा और कई दूसरे भी हो सकते हैं। सुबह बाबूलाल के लिए इन सबका ध्यान रखना जरूरी होता है और शाम को 'जैंटरी' में तबदीली हो जाती है। शाम के समय चाय के होटल में (बाबूलाल ने इसे चाय का होटल नाम दे रखा है) दफ्तरों के बाबू अपना कोई रोजगार करने वाले भद्र-जन तथा पढ़ने-लिखने और मेज के आसपास बहसें करने वाले शुमार होते हैं। बाबूलाल को भी मजा शाम की 'जैंटरी' के साथ ही आता है।

अब पिछले कई रोज से बाबूलाल को यह जो घर बैठना पड़ा है, कर्फ्यू की वजह से, तो इस यातना को स्वयं उसके इलावा दूसरा कोई समझ नहीं सकता है। सवाल धंधे-पैसे का नहीं है। वह तो बकौल बाबूलाल के, उसकी जरूरतों को देखते हुए काफी ही नहीं बहुत काफी है। सवाल है, घर बैठकर उन दिनों वक्त का काटना और यही मुश्किल बात है।

अब दूसरी तरफ उसके परमानेंट ग्राहकों को लें जो घंटों उसके होटल में गुजारने वाले निश्चित ही उसी तरह व्याकुल और परेशान रहते होंगे जिस तरह बाबूलाल। जिंदगी जैसे बेरस-सी लगने लगती है।

यूं अपनी ओर से बाबूलाल ने अपनी उस छोटी-सी दुकाननुमा होटल को अपनी मर्जी से कुल दो मर्तबा बंद किया था। एक तो अपने इकलौते लड़के के घोड़ी चढ़ने के दिन और दूसरे जब उसकी पत्नी शांति के सिर पर गिरने से काफी चोट लग गई थी।

अपनी जिस्मानी तकलीफ को तो बाबूलाल ने कभी कुछ समझा ही नहीं। पत्नी के बहुत मना करने पर भी ऐसी हालत में काम पर मत जाओ, घर पर आराम करो, वह उससे कहा करता कि "बिमारी-सिमारी तो शरीर का भोग है, आई है, चली जाएगी। यह दवा अपने साथ ले जा ही रहा हूं।" उसकी पत्नी शांति अच्छी तरह से अपने पति के स्वभाव से वाकिफ हो चुकी थी। जानती थी कि घर में वह बैठ ही नहीं सकता। पर उसे घर बैठने को मजबूर होना पड़ता है। कितनी अजीब बात है। "कभी बंद, तो कभी कर्फ्यू लगा रहता है।"

बाबूलाल का कहना है इस तरह की बातें पहले वक्त में नहीं हुआ करती थीं। पहले वक्त से उसका तात्पर्य हुआ करता है—जब वह जवान था या फिर उससे भी कुछ पहले शायद।

अब यह दूसरा वक्त है। और बाबूलाल अब बुढ़ापे में कदम रख चुका है।

यूं पहले और दूसरे के बीच कोई बहुत लंबा-चौड़ा अंतराल नहीं है। जिन बातों की ओर बाबूलाल का इशारा होता है उसका संबंध बढ़ रहे उग्रवाद से है और इस तरह की घटनाएं पिछले १०-१५ वर्ष से ही अधिकतर बढ़ चली हैं, जो कुछ हो रहा है, सब अप्रिय और अवांछित है। यह जो इतना खून-खराबा, धोखा-मक्कारी आज बढ़ चले हैं—'पहले वक्त' में यह

सच नहीं था। बाबूलाल जब यह कहता है तो बात उसके दिल की गहराई से निकलकर आती है। उस जैसे सरल-स्वभाव और सादे आदमी को यह बड़ा तकलीफ-देह लगता है।

सबका भला चाहने वाला बाबूलाल उस समय बेहद दुखी होता है जब खबर लगती है फलां जगह इतने बेकसूर लोगों को अमानवीय ढंग से मार दिया गया है।

इस तरह की घटनाएं अब आम बात हो चली हैं, अतः बाबूलाल का दुःख भी अब आम हो चला है। शुरू-शुरू में तकलीफ ज्यादा होती थी। हत्याओं की इस तरह की प्रक्रिया की तब शुरूआत थी, पहले कभी देखा-सुना नहीं था, इसलिए वह ज्यादा दुखी हो जाया करता था। अब तो दुख सहने की एक आदत-सी हो चली थी।

उस जैसे सरल स्वभाव के व्यक्ति की जहां तक बात है तो जब इस देश में नया-नया टेलिविजन आया था तो अपनी एक छोटी-सी दुनिया में मगन रहने वाले बाबूलाल सरीखे व्यक्ति के लिए यह बड़ी बात थी। अपने ग्राहकों के साथ बाबूलाल अक्सर ऐसी बातों पर चर्चा करता और आश्चर्य प्रकट किया करता था।

"साईंस ने क्या कमाल कर दिखाया है।"

कहते समय उसकी आंखों में एक खास तरह की चमक के साथ-साथ विज्ञान के प्रति श्रद्धा-भाव भी उमड़ आया करते।

इधर अब कुछ वर्षों में आम जीवन बेहद तनावग्रस्त हो गया है। और लोगों के दुख तकलीफें भी बढ़ गयी हैं। बाबूलाल इन सबका सीधा संबंध अपनी चाय के दाम से जोड़कर विश्लेषण किया करता है।

उसकी चाय जब चवन्नी प्रति कप तक नहीं पहुंची थी तो जीवन काफी सादा-सरल और सहज हुआ करता था।

फिर चाय का दाम हुआ चवन्नी। तकलीफें और बढ़ चली थीं और आज है एक रुपया। पहली मर्तबा जब बाबूलाल ने एक रुपया प्रति कप वसूल किया तो उसे बड़ी झेंप महसूस हुई थी। जैसे कोई गुनाह कर रहा हो।

अगर चाय की 'क्वालिटी' पर जायें तो बाबूलाल की चाय जहां तक दाम का संबंध है तो एक-सा होने पर भी दूसरों से कहीं बेहतर है। वजह यह है कि चाय का जायका जिन दो चीजों पर निर्भर करता है, बाबूलाल किसी एक के साथ भी समझौता नहीं करता। "पहली चीज है दूध। अपनी दुकान के लिए उसने अहाते से खलिस भैंस का 'चुआंवा' दूध लगा रखा है।"

"दूसरी अहम् बात है चाय-पत्ती का इस्तेमाल।"

औरों की तरह न तो वह सस्ती और खुली चाय पत्ती लाता है और न बार-बार एक ही पत्ती को उबालता है। हर बार वह पत्ती बदलता है इसलिए चाय का जायका बरकरार रहता है।

इन दो बातों के इलावा तीसरा उसका अपना गुण शामिल है जो दुकानदारी में एक बड़ी चीज माना जाता है। वह है—सब ग्राहकों के साथ उसका अपनत्व का व्यवहार। अपने अधिकतर ग्राहकों को वह उनके नामों से जानता है और संबोधित किया करता है। इन सब बातों के मद्दे नजर उसकी दुकानदारी या शायद कहना चाहिए होटल चलता है और खूब चलता है।

"बाबूलाल का होटल"

वर्षों पुराना लटकता हुआ एक लोहे का तख्ता है जिस पर नीले रंग की लिखावट में यह कभी लिखा गया था। कितनी ही आंधी बरसात और झंझावतों का सामना कर चुका है यह टीन का बोर्ड। बाबू में ऊ मात्रा का तो लगभग लोप ही हो चुका है और होटल का ट इतना मद्धम पड़ चुका है कि होल पढ़ा जाता है और बहुत गौर करने पर लगता है कि इस होल में 'ट' जैसा अक्षर होना चाहिए।

वैसे अक्षरों की रंगत भले उड़ चली हो पर इस दुकान की अंदरूनी रंगत आज भी बरकरार है। इसका एक मात्र श्रेय जाता है बाबूलाल को। जिसका अपना अस्तित्व जगह-जगह से उखड़े हुए दीवारों के पलस्तर को भी ढक देता है। काली पड़ चुकी शेल्फ, वही बीसियों साल पुरानी है और वैसे ही रखा हुआ उस पर एक बहुत बड़े आकार का रेडियो। किसी और भाषा में कहें तो 'बाबा आजम के जमाने का' रेडियो। एक जगह पर स्थिर। फिर भी देश और दुनिया की अस्थिरता का हर पल उद्घोष करता हुआ, बाबूलाल का वह 'रेडुवा'। इसी नाम से बहुत से दूसरे पंजाबी लोगों की तरह वह भी संबोधित करता है।

खबरें सुनने का बाबूलाल को बेहद शौक है। खासकर रात ९ बजे वाली खबरों के वक्त उसकी हिदायत रहती है कि कोई बातचीत या शोर नहीं होना चाहिए वह एकाग्रचित होकर सब झूठी सच्ची बातों को सुनता है—पचाता है और जुगाली किया करता है।

बाबूलाल की खासियत है कि जिस किसी विषय पर चर्चा करता है, जम कर किया करता है। राजनीति तो उसका प्रिय विषय है ही। बहरहाल उसकी बातें उसकी उम्र के तजुरबे और हकीकत में सराबोर हुआ करती हैं। अतः एक आध जन उसका कोई ग्राहक कभी कोई चुटकी ले लेता है "अबकि इलैक्शन में तुम्हें खड़ा करना है, चाचा"

"और जो मैं मंत्री-वंत्री बन गया बच्चूजी तो चाय बनाकर कौन पिलाएगा तुम्हें?"

प्रति उत्तर में बाबूलाल भी तैयार मिलता था। फिर हंसी-ठठे से वातावरण गूंज जाता। अपने जीवन के दुख-तकलीफों और तनावों को भूल-भालकर कुछ क्षण इस तरह हल्के फुलके ढंग से गुजार कर सब खुश रहते हैं—बाबूलाल भी उसके ग्राहक भी।

अब इसी बाबूलाल पर पिछले कई दिनों से यह शहर छोड़ देने के दबाव पड़ते रहे जो आज भी हैं। उसके सामने ही कुछ लोगों ने अपना बोरिया बिस्तर बांधा और एक रोज मुंह-अंधेरे शहर छोड़कर चल दिए। ऐसे लोगों की दलील हुआ करती कि यह शहर अब उन्हें झेलने में असमर्थ है जबकि बाबूलाल ऐसा नहीं मानता। इसे वह उन लोगों की मानसिक कमजोरी या कायरता मानता है। जहां तक उसका अपना प्रश्न है तो उसका कहना होता 'क्यों छोड़ूं मैं अपने इस शहर को? सिर्फ इसलिए न कि किसी 'टैम' उग्रवादी की कोई गोली जिंदगी का काम तमाम कर देगी। मौत तो एक-न-एक दिन आनी है। इससे क्या डर।'

बाबूलाल का जीवन-दर्शन आईने की तरह बिलकुल साफ है। जो बात

वह कहता है दिल की गहराई से उतर कर आती है।

उस पर पड़ने वाले दबावों में दूर क्यों जाएं—उसकी अपनी पत्नी शांति और उसकी एक मात्र औलाद सुभाष है जो वहां दिल्ली से अक्सर लिखता रहता है, तकरीबन हर चिट्ठी में, कि 'बाऊ' जी को बोलो अब यहीं पर आ जाएं। छोड़ दें उस मनहूस जगह को। मनहूस वह इसलिए कहता है कि हर समय मौत वहां रहने वाले 'मानो' (जो सिख नहीं हैं) के सिर पर गिद्ध कौवों की तरह मंडराती है। इस डर से सुभाष अपनी पत्नी को लेकर कभी यहां आता नहीं। एक पांच-सात साल का उनका लड़का है जिसके जेहन में भी यह डाल दिया गया है कि

"पंजाब जाकर मरना है"

इस कारण महीनों बरसों तक बाबूलाल अपने पुत्र-पौत्र को मिलने से वंचित रह गया है। पत्नी शांति अकेले ही कई मर्तबा उन लोगों के पास दिल्ली हो आई है। वापस आने पर उसकी एक ही रट होती है—"अब यहां अपना धरा क्या है। फिर सुभाष कहता है, चाय की दुकान तो यहां आकर भी बाऊजी कहीं खोल लें चल निकलेगी।"

दिल्ली इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि बाजार तो दरकिनार, गलियों मुहल्लों में भी काम चल निकलता है।

बाबूलाल इन सब बातों को एक कान सुनता है दूसरे से निकाल देता है और यूं इसी तरह समय बीतता रहता है अपनी गति और अपनी लय के साथ।

जो वाक्या उस दिन हुआ उसने बाबूलाल को हिला कर रख दिया।

घटना से चंद मिनट पहले मदन लाल अखबार वाला बाबूलाल के हाथ से चाय पीकर उसके होटल से एक फर्लांग दूर न जा पाया था कि उग्रवादियों ने उसे गोलियों से भून डाला। आवाज बाबूलाल के होटल तक साफ सुनी गई थी। सुबह सवेरे वातावरण वैसे भी शांत होता है। कुछ क्षणों तक एक अजीब बेरहम-सी खामोशी व्याप्त हो गई जिसमें सबके चेहरों के उड़े हुए रंगों को साफ पढ़ा जा सकता था। उसके पश्चात् बहुत निकट से अत्यंत तीव्र गति के साथ एक मोटर साईकिल गुजर जाती है। चालक की दाढ़ी कपड़े के काले पट्टे के कारण जो उसने सिर तक बांधा हुआ था, उससे छिप गई थी और उसके पीछे बैठे हुए आदमी ने एक बड़े से कंबल में अपने को जैसे छुपा रखा हो। सुना बहुत था बाबूलाल ने और आज पहली बार अपनी आंखों के सामने बहुत कुछ देखा था। वे लोग उस घटना-स्थल पर बहुत निकट होने के कारण तुरंत पहुंच जाते हैं।

अपनी आंखों के आगे बाबूलाल अपने चेहते ग्राहक मदनलाल अखबार वाले की लाश को साईकिल के ऊपर गिरा हुआ पाता है। अखबार एक ओर बिखरे पड़े हैं और एक मोटी-सी लकीर बनाता हुआ लहू काली सड़क को रंग रहा होता है। अपनी आंखों के आगे यह दृश्य देखकर बाबूलाल का दिल रो उठता है—अभी कुछ ही मिनट पहले तो मदनलाल उसके होटल में बैठा चाय पी रहा था।

"होनी को कोई टाल नहीं सकता"

एक दूसरा ग्राहक कह रहा होता है। बाबूलाल की आवाज जैसे रुक गई हो जो कुछ वह अपनी आंखों के सामने देख रहा था उस पर विश्वास करने को जैसे उसका मन नहीं मान रहा था।

अब इस घटना के कुछ समय पश्चात—"बंद का ऐलान" और दुकानों के शटर गिरने लगे।

भारी मन लिए बाबूलाल भी घर लौटने की तैयारी में लग जाता है। दूसरा कोई उपाय भी तो नहीं है।

दिन में इतनी जल्दी दुकानदार पति को घर आया पाकर शांति देवी जैसी पत्नियां बिना कुछ कहे-सुने ही सब समझ जाया करती हैं। "आज फिर कुछ?"
सीधे पति की आंखों में देखते हुए उसने प्रश्न किया था।

"हां, वह अपने मदन लाल को मार दिया है" एक नपा-तुला उत्तर देकर बाबूलाल बिस्तर पर बैठता है ओर फिर लेट जाता है। पत्नी साबुन वाले हाथ धोकर उसके पास आ जाती है।

"कौन, वही मदन अखबारों वाला" छोटी जगह पर सब को जानते होते हैं। "हां।"

"अरे च···च···च"

"उसके तो छोटे-छोटे बच्चें हैं" शांति कहती है।

"वह तो गऊ था भला उसने किसी का क्या बिगाड़ा होगा।" पत्नी इस तरह उससे पूछ रही थी मानो इन सब सवालों के जवाब बाबूलाल के पास हों। जो भी हो अपनी पत्नी के एक सवाल का जवाब सिर्फ उसी के पास था।

"क्यों न यह शहर छोड़ कर चले जाएं"

उसकी सवालिया निगाहों का मतलब ही यही था, और बाबूलाल से बेहतर भला इसे और कौन समझ सकता था।

"सुभाष को चिट्ठी लिख दो" वो कहता है।

"महीना शुरू होते ही पहली तारीखों में सब समेट समाट कर हम लोग उसके पास पहुंच जाएंगे।"

पत्नी को एक बारगी तो यह यकीन ही नहीं होता कि यह बात उसके पति ने ही कही है—"हां अब यहां नहीं रहेंगे।"

और यह कहने के साथ उसके अंदर कोई चीज तड़ाक करके टूटती है जिसकी आवाज सिर्फ उसकी पत्नी शांति सुनती है, जो उसे खुद बाबूलाल से भी अधिक जानती है। दूसरा कोई चारा भी तो नहीं है। वह यह भी समझती है, हां यह जरूर है कि अपनी पति की भावनाओं से ज्यादा उसे उसकी सलामती प्यारी है।

"ठीक है, यही ठीक रहेगा।" वह कहती है। सब सामान कैसे-कैसे जायेगा वह अपने पति से इस पर राय लेना चाहती है पर बाबूलाल की दिलचस्पी इन सब बातों में नहीं थी। मगर शांति उन लोगों में से एक है जो अपने घर की सुई तक को संभाल कर ले जाने की बाबत ही सोचती-विचारती है। और यही वह कर भी रही थी।

उधर बाबूलाल अपने इस अभी-अभी लिए गये निर्णय का अवलोकन कर रहा था।

"मैं यह शहर छोड़ रहा हूं तो किसलिए ? यही न कि आज मदन का नंबर आया है कल को मेरा आएगा 'अरे मरना तो एक-न-एक दिन सभी

को है।' "

इस बात के लिए कोई अपना घर-बार, शहर छोड़ देता है क्या ! वह जगह जिससे पिछले ५० साल से वह जुड़ा हुआ है और जिसका चप्पा-चप्पा उसे अपना लगता है। निर्णय लेने के बाद होना तो यह चाहिए था कि मन हल्का हो जाता पर यहां तो विपरीत हुआ। बाबूलाल और भी 'टैंस' हो गया। जैसे कोई बड़ी लड़ाई हार गया हो। उसकी सबसे बड़ी उलझन यह थी कि उन लोगों को क्या मुंह दिखायेगा जिन्हें वह सदा हिम्मत दिया करता था कि जगह छोड़ कर चल देने से मसले हल नहीं हुआ करते। इससे तो उन लोगों को और बल मिलेगा जो चाहते ही यही हैं। वे हमें तोड़ना चाहते हैं। "हम क्यों हार मान लें"

और आज उसने खुद हार मान ली। बाबूलाल स्वयं हार गया। दूसरों के लिए मिसालें कायम करने वाले की खुद की हिम्मत टूट गई। पस्त हो गया है। एक छोटी-सी वारदात ने इतनी जल्दी उसे डिगा दिया है। "क्या यह (मैं) वही बाबूलाल है (हूं)"

"तुम तो और उदास हो गए हो। नहीं मन है तो रहने दो। हम लोग कहीं नहीं जायेंगे।" उसे इस तरह अनमना-सा पाकर पत्नी उससे कहती है।

"नहीं, यूं ही सोच के देख रहा था यह सब, किस तरह होगा।"

"वह सब हो जायेगा। अभी तो बहुत दिन पड़े हैं।" पत्नी शांति यह कह कर अपने घर के काम धंधे में व्यस्त हो जाती है और बाबूलाल अपने अंदर की दुनिया में जहां धोखा, फरेब, बनावट, छिपावट कुछ नहीं है। बस सफाई है और सच्चाई है। इससे कोई बच नहीं सकता।

एक दिन के बंद के पश्चात बाजार अगले रोज फिर खुल जाता है और जिंदगी फिर से उसी तरह चलने लगती है। लोग धीरे-धीरे इस वाले मदन लाल को और उसकी मौत को भुलाने लगते हैं और उपाय भी क्या है। जीना तो सभी चाहते हैं, दुख को कब तक ओढ़ा जाये?

पूरा दिन बाबूलाल का काम में मन नहीं लगता। अपने ग्राहकों से भी वह उखड़ा-उखड़ा रहने लगा था। इस तरह दो-तीन रोज ऐसे ही गुजरते हैं। दिन बीतते कौन देर लगती है। वह दिन अब पास आता ही जा रहा था जब उन्होंने अपने इस शहर को, इस जगह को और सभी को अलविदा कहकर चल देना था।

इतना दुखी बाबूलाल को पहले किसी ने कभी देखा न था। उसके कुछ खास ग्राहकों ने भी कुरेदने की बहुत कोशिश की पर हाथ कुछ लगा नहीं।

अलबत्ता बाबूलाल के हाथ एक रोज जरूर कुछ लग जाता है।

"एक ऐसी खबर जो उसकी जीवन-धारा को ही मोड़ देती है।"

"अमरीका ने इराक पर युद्ध थोप दिया था।"

युद्ध हो तो रहा था बहुत दूर-दराज जगहों पर—खाड़ी में। मगर हजारों मील बैठे हुए लोग भी इससे मुत्तासिर हुए बिना नहीं रहे थे।

अब बाबूलाल को दिन और रात बस समाचार बुलेटिनों से फुर्सत न थी। उसका वही 'बाबा आजम' के जमाने का 'रेडुवा' और भी आकर्षण का केंद्र बन चुका था।

अब तो आसपास की दुकानों वाले और दूसरे राह चलते भी खबरों के वक्त आकर यहां जुट जाते। 'बाबूलाल के होटल में।'

फिर तरह-तरह की बातों और चर्चाओं ने लोगों के मुरदा जिस्मों में जैसे प्राण फूंक दिए हों। इधर बाबूलाल भी चाश्नी चढ़ाकर ऐसी खबरों को उन्हें चटाया करता। मसलन—"इराक के पास ऐसे-ऐसे खतरनाक हथियार मौजूद हैं कि यदि उनका प्रयोग हो जाए तो आधी दुनिया तो बस खत्म समझो।"

"अब दूर क्यों जाते हो" वह कहता, "अपने तेल के कुंओं को उसने आग लगा दी तो बीसियों साल तो यह आग बुझने से रही। और इसका काला धुंआ घने बादल बन कर फैल जाएगा और बरसों तक सूरज को ढक लेगा। फिर इस धुएं के बादल जब बरसेंगे तो वहां पानी नहीं तेजाब गिरेगा।" आदि, आदि। ऐसी कई बातों से अब चर्चाओं का बाजार गर्म रहने लगा था।

बाबूलाल जोर देकर कहता कि "इराक ऐसा करेगा अवश्य। दूसरा कोई उपाय उसके पास है भी नहीं। अमरीका से टक्कर तो ले बैठा है अब देखना जो हो जाए वह कम है।"

बाबूलाल का रंग अपने ग्राहकों पर कुछ इस तरह चढ़ जाया करता है कि सब यह मान कर चलने लगे हैं कि वाकई वह दिन दूर नहीं है जब काले धुएं के बादल तेजाब बनकर गिरेंगे। सभी की नजरें इराक पर टिक गई हैं। अमरीका की, दुनिया की और बाबूलाल की भी।

इससे और कुछ हुआ तो या नहीं इतना अवश्य है कि बाबूलाल अब यह भूल चुका था कि उसने कभी इस जगह को छोड़ देने का निश्चय किया था।

खाड़ी युद्ध ने बाबूलाल के निर्णय को ही बदल दिया था। इधर कई रोज से देश में एक वारदात भी नहीं हुई। सभी की आंखें जैसे अब उधर ही टिकी हैं।

"अब आगे क्या होगा"

शायद यह युद्ध निर्णायक युद्ध हो मनुष्य जाति के लिए।

"अब जब कुछ होना ही है तो यहीं क्यों न हो जाए। सबके साथ। सबके पास। जगह छोड़ने की अब कोई जरूरत नहीं।" यह निर्णय बाबूलाल को एक बड़ी चिंता से मुक्त कर देता है जो पिछले कई दिनों से उसे खाए जा रही थी। "अब वह जरा भी तनावग्रस्त नहीं है"

मातृ-ऋण

□ क्षमा शर्मा

[हिंदी अकादमी द्वारा आयोजित कथा-संध्या में पढ़ी गई कहानी।]

···वह मेरी भतीजी है। मैं उसकी बुआ। बहुत छोटी थी तो मैंने ही उसका नाम रखा अनु। अनुपमा। मेरे बड़े भाई की पहली संतान। तब मैं हायर सेकेंड्री कर रही थी। भाभी को सख्त अफसोस था कि वह बेटा न दे सकीं। मुझे भी था। शायद भाई को भी रहा हो।

मैंने भाईसाहब के घर रह कर पढ़ाई की। भाभी के तनाव सहे। फिर विवाह किया। अलग घर बनाया।

आज अनु का सोलहवां जन्मदिन था। उसे मेरे पास आना था। अब वह बड़ी थी—साड़ी में वह और भी बड़ी दिखती थी।

स्त्रियों के बारे में जो लोग कहते हैं कि वे बात के बिना नहीं रह सकतीं, वे नहीं जानते कि इस समाज ने उन्हें अभी जबान भर बख्शी हुई है। वे उसी से सारे काम लेती हैं···मैं और अनु भी बातचीत में व्यस्त थे।

पता नहीं कैसे बात चल निकली। अनु के साथ एक विचित्र-सी बातचीत में उसने कुछ कहा।

कपड़े खरीदते वक्त मेरे मुंह से निकल गया था, "पता नहीं उम्र कैसे बीत जाती है।" अनु कपड़ा पसंद करती हुई बोली थी, "मैं तो मम्मी पापा से यही कहती हूं कि आप लोगों ने कुछ इंजाय नहीं किया। बस सब के लिए करने में भी जिंदगी निकाल दी।"

अनु को शायद पता भी न था इस एक 'करने' शब्द का असर क्या हुआ था। अनु के पिता यानी कि मेरे बड़े भाई द्वारा यश नहीं कमाया गया। यदि परिवार का बोझ उनके ऊपर न होता तो वह बहुत कुछ कर सकते थे।

'पापा को आजकल लगता है कि उन्होंने खुद को वेस्ट कर दिया।' कार्पोरेशन की बदइंतजामी के मारे पार्क में बुरा हाल था। हम दोनों साथ-साथ थे। हमारे पैरों के वजन से सूखे पत्ते बहुत देर तक किकियाते रहे थे। मेरी भतीजी बड़ी हो चुकी थी। उसका यह नया रूप खुल रहा था। बड़ों की बातों के अर्थ वह समझने लगी थी। उस वक्त अनु के चेहरे पर कोई भाव नहीं था। लेकिन उसके मन में हमारे प्रति वितृष्णा ही रही होगी। हम बुआ-चाचा उसके लिए, उसके परिवार के सुखों में सेंध लगाने वालों के अतिरिक्त और थे भी क्या!

"देखो बुआ!"—उसने चलते-चलते एक छोटा-सा हरा-पीला पंख उठा लिया था—"कित्ता सुंदर है!"

"तोते का है।"

"आपको इन सबकी बहुत पहचान है। पापा कहते हैं उनकी योग्यता आपको मिली थी।"

"थी।" मैंने कहा और हंस दी।

"थी, क्या अब भी आप बहुत होशियार हैं। बहुत-सी ऐसी चीजें हैं जो परिवार में आपने ही सबसे पहले कीं।"

"जैसे!"

"जैसे अपनी पसंद से शादी।"

मैंने उसकी तरफ देखा। यह कहते हुए उसके सांवले गाल भी सुर्ख हो गए थे—उम्र का तकाजा था।

"और यह नहीं कि शादी में एक छदाम भी खर्च नहीं हुआ?"

"हां, यह तो है ही! लेकिन अब हर एक आपकी तरह लकी तो नहीं हो सकता।" वह पंख को उलट-पुलट रही थी।

"हां तभी भाईसाहब कहते हैं कि तेरे लिए पैसा खर्च करके भी अच्छा लड़का मिला तो ढूंढ़ेंगे। जैसे-जैसे मुसबतें आती हैं, मनुष्य उनके अनुसार बदलता जाता है। उसी हिसाब से जस्टीफिकेशन ढूंढ भी लेता है। लोग कैसे किसी के अहसान को भूल जाते हैं। मैं तो कोशिश करती हूं जिस काबिल भी हूं जैसी भी हूं, किसी को मेरे कारण कोई कष्ट न हो। फिर भी···"

"क्या फिर भी!"

"फिर भी लगता है कितनी उंगलियां हैं जो अपनी ओर उठी हुई हैं। लगता है जैसे हमारे कारण ही सबकुछ हो गया। किसी को कुछ न मिल सका। काश, हम हुए ही न होते!"

"आप शायद गलत समझीं। पापा सबसे बड़े थे तो सबसे ज्यादा करना पड़ा।"

"हां सबके अपने-अपने दुःख हैं। हमारी पीढ़ी में घर का बड़ा परिवार का जुआ ढोता था और घर का सबसे छोटा बच्चा कभी अपने घर का अहसास ही नहीं कर पाता था। मां-बाप का घर नहीं रहता तो रहता ही क्या है? वैसे भी माता-पिता के बाद भाई-बहनों में जो भी थोड़ी-बहुत पतली, उलझी हुई, स्नेह की डोर बचती है, अगली पीढ़ी तक आते-आते वह भी नष्ट हो जाती है।"

"आप तो सबसे ज्यादा लाड़ली थीं। फिर भी ऐसा कहती हैं।" वह शरारत से बोली।

पार्क के कोने में अनु के साथ बैठी क्या-क्या सोचती रही। जब भी इसे देखती हूं लगता है किसी ने सवालों के समुद्र में फेंक दिया है। आसपास कोई चिड़िया भी चहकती है तो लगता है कोई फुसफुसा रहा है—"भाईसाहब इसलिए कुछ नहीं कर पाए क्योंकि हम थे। हम हैं, हम रहेंगे।"

संयुक्त परिवार की एक दुखद नियति। एक ऐसी त्रासदी जिस पर किसी का वश नहीं···काश कि हम अपने जन्म के लिए खुद जिम्मेदार होते। अनु की बात इतनी दिल से लग गई थी। लगा था फूट-फूटकर रो पड़ूंगी।

मैं उठी तो वह भी उठ ली। वह साथ चलने को आई थी। मैं अकेली होना चाहती थी। सिसकना चाहती थी। चीखना चाहती थी।

"मां कब आएंगी?" मैंने यूं ही पूछ लिया।

"पता नहीं वह सुनती कब हैं किसी की।" उसने कहा।

"सुनें भी क्या! उनकी जरूरत ही क्या है किसी को। उनकी राय, उनकी नीयत, उनकी उम्र सबकुछ तो बीते जमाने की बातें हो गईं।"

"इन से यह नहीं होता चुपचाप रोटी खाएं भगवान का नाम लें। बेकार की मोह-माया में पड़ी रहती हैं।" अनु ने बुजुर्गों वाले अंदाज में कहा।

मैं जानती हूं, वह नहीं जानती कि क्या कह रही है। वह अभी स्त्री नहीं बनी है इसीलिए नहीं जानती कि बेटे मां के बारे में क्या सोचते हैं।

गांव में भाई के नाम मकान ट्रांसफर करते वक्त मां को कैसा लगा होगा? उसकी संपत्ति, उसके पति द्वारा खरीदी हुई मगर उसे दान करने वाला कोई और। जिसकी ईंट-ईंट मां के खून-पसीने से सराबोर थी, गारा बनाने से ईंट ढोने तक। क्या नहीं किया था मां ने उस वक्त! एक खुद्दार स्त्री सिर्फ कहानियों, कविताओं नाटकों में ही सम्मान पाती है। जीवन में तो वह सिर्फ मां जैसी बन जाती है, अकेली उदास और विरक्त। जब मां ने इस ओर इशारा किया तो उन्हें डपटा गया—"तुम बहुत छोटी बातें करती हो! भाईयों में मनमुटाव कराना चाहती हो!"

फाटक बंद था।

कार रोककर भाई ने कहा था—"मैं चाय ले आता हूं।"

कई बार बिलकुल अपनों में बातचीत के कोई मुद्दे नहीं बचते। बातचीत के सिरे ढूंढ़ने पड़ते हैं—"हम चाहे जहां चले जाएं, रहेंगे यू०पी० वाले ही। यू० पी० की सीमा में घुसते ही एक आकर्षण-सा पैदा हो जाता है।"

"सच्ची बात कहूं!" बड़े भाई बोले थे, "मुझे ऐसा कुछ नहीं होता! डिटैचमेंट की एक फीलिंग मुझे बाउजी से मिली थी।"

"बाउजी आज होते तो···" मैंने कहा, "चलो मां तो हैं।"

बात पूरी नहीं हुई थी कि फाटक खुल गया था। भाई चाय छोड़कर चले आए थे। चायवाला कुड़बुड़ाता रहा था।

"अब यहां भी हम बस जा ही रहे हैं।" बड़े भाई ने कहा था।

"यस···यस नो बडी इज वेटिंग फार अस।" भाई ने कार मोड़ी थी।

"ठीक है। चचा हमारे पिता की पीढ़ी के अंतिम सदस्य थे। "बड़े भाई पान चबाते कह रहे थे।

"जिंदगी भर बाउजी को सताया। अब वहां भी पहुंच गए।" कहते हुए मैंने देखा एक आदमी साईकिल पर डलिया रखे ले जा रहा था। उसमें छोटा दूध जैसा सफेद गाय का बच्चा बैठा था। उसे चारों ओर रस्सी से बांध दिया था। पीछे-पीछे गाय जा रही थी। बच्चे के पीछे भागती मां! खेत सरसों, गेहूं और ईख से भरे हुए थे।

बिलकुल इसी तरह उस दिन बाजार में छत पर बैठे बंदर ने टकटकी लगाकर अमरूद खरीदते देखा था और उसे भी न जाने क्या सूझा कि एक अमरूद उसकी तरफ उछाला था। बंदर ने कुशल कैच पकड़ने वाले की तरह पिछले दो पैरों पर खड़े हो बिना कोई गलती किए अमरूद लपक लिया था। ऐसा करना उसने कहां से सीखा होगा?

"पता नहीं मां भी कब तक हैं? जब भी देखती हूं लगता है बस किसी दिन ये भी चल देंगी।"—पीछे छूटते खेतों को मुड़कर देखते हुए मैंने कहा था।

"अब जो चीज होनी है उसे कौन रोक सकता है!" भाई कुछ और भी कहना चाहते थे।

"मैं तो कहता हूं अब यहां जा और वहां जा छोड़ो। एक जगह टिककर रहो। बेचो साले उस मकान को।" छोटे भाई खीज से रहे थे।

"लेकिन क्या एक बूढ़े आदमी की बोरियत की समस्या नहीं होती! जब उसकी जिंदगी की सारी समस्याएं हल हो गई होती हैं तो वह अपना वक्त कैसे काटे! हम सब तो अपने-अपने कामों में लगे हैं। इधर-उधर आने जाने से मन तो लगा रहता है उनका। मैं मां के पक्ष में खड़ी क्यों दिखती

थी !"

"तब क्या होगा जब रास्ते में कहीं मरी मिलेंगी । या हाथ-पैर तुड़वा लेंगी ।" बड़े भाई की चाय खत्म हो गई थी—"मैं तो कहता हूं मकान बेचकर पैसा फिक्स्ड में करो। चैन से रहो ।" छोटे भाई बोले।

"लेकिन कोई बूढ़ा आदमी इंडिपेंडेंट रहना चाहे तो···वह नहीं लेना चाहतीं किसी से पैसा ।"

"दुनिया से यही कहलवाना चाहती हैं न कि साहब कुंगड़-कुंगड़ लड़के हैं और मां को रख नहीं सकते ।"

कितनी ऐसी बातें हैं जो लोक-लिहाज से नहीं कही जा सकतीं। अनु ने कहा था—"करना ।" भाभी ने कहा था—"एक ही हमेशा क्या करे ?" बीच के भाई की राय थी—"हमारी मां राजनीति करती हैं। इसकी नीयत में खोट है !"

और मां जब पिछली बार आई तो कहती रहीं "मैं किसी के पास नहीं रहना चाहती। मैं रहती हूं लोग आते-जाते हैं इन सबको बोझ लगता है !"

मां जिद्दी हैं। अपनी बात कहती हैं। अतीत के मुर्दे उखाड़ती हैं··· मगर फिर भी क्या वह हमारी जिंदगी में इतनी गैर जरूरी हो गई ! वक्त ने उनको पंक्ति से बाहर खदेड़ दिया। यह दुनिया जिसमें शक्ति, चुस्ती, फुर्ती और युवावस्था का साम्राज्य है उसमें मां दृश्य से परे चली गई !

मैं असहाय-सी देखती हूं एक मनुष्य की असहायता नहीं किसी की लड़की होने की असहायता···मां जिसकी हर चीज लड़कों तक चली गई··· सम्वेदना सिर्फ मेरे हिस्से तक बची क्यों ?

"बेटी मैं तेरे घर नहीं रहूंगी ! सारी दुनिया कहेगी लड़के छोड़ लड़कियों के घर पड़ी है !"

"तुम मकान मत बेचना ।"

"हां, मैं भी हाथ नहीं फैलाना चाहती। तेरी दादी और बाप के आगे ही नहीं फैलाया तो अब इनके आगे फैलाऊं जिनके गू-मूत धोए हैं। इनकी औरतें यही चाहती हैं ।"

"तुम औरतों को बीच में क्यों लाती हो, जो कहना है अपने लड़कों से कहो ।"

"लड़के मेरे कहां हैं ? पाल दिए पनास दिए और दे दिए।"

"मुझे तो तुमसे यही शिकायत है कि पैदा ही क्यों किया ? पैदा किया था तो कर्तव्य भी पूरे किये होते।"

"तेरे बाप रिटायर हो गए जल्दी सब किस्मत की बात है। मगर तेरे भाई लाखों से अच्छे हैं। वे तो कुछ नहीं कहते।"

"वे कुछ नहीं कहते···जब कोई और कुछ कहता है—खासतौर से बच्चे तो लगता है एक डिग्री नीचे कर दिया गया है। कहीं अपमान का भाव है जिसकी प्रतिध्वनियां सुनाई देती रहती हैं। ऐसा कौन-सा ऋण है जिससे आप उऋण नहीं हो सकते। सिवाय उसके जिसमें अपने माता-पिता के कर्तव्यों का हिसाब आपकी अगली पीढ़ी आपसे मांगती है।"

"जा रही हो ! मगर ध्यान रखना !" मैं मां को बस में चढ़ा रही हूं। "वैसे तो दो दिन रुक जाती मैं तुम्हें छोड़ आती !"

"अब इन बूढ़े हाड़ों में क्या नई जान डालेगी ! कितने तवे चिमटे टूट गए—शरीर कब तक चलेगा !"

"बस तुम मरने की बात मुझसे मत किया करो। जब तक तुम हो हम एक टूटी छान के नीचे खड़े हैं, तुम नहीं रहोगी तो यह भी उड़ जाएगी। हम सब न जाने कहां से कहां होंगे !" मैं मां से आंसू छिपाना चाहती हूं। मगर वह बिना देखे भी देख लेती हैं—"अगले जन्म में भगवान से मांगूंगी कि एक छोड़ कई लड़कियां दे, मगर बहुत-सा धन भी दे।"

"क्या तुम अगले जन्म में लड़की बनना चाहोगी ! इस जन्म से पेट नहीं भरा !" मैं हंसकर कहती हूं।

"तेरे बाप कहते थे लड़की का जन्म बड़े भाग्य से मिलता है। वैसे भी इन सबको अपनी लड़कियां इतनी प्यारी हैं और मेरी लड़कियां घूरे से उठकर आई थीं। जैसे।" कई बार शब्द कान में गूंजकर हवा में गुम हो जाते हैं। महीनों से मैं अनु का 'करना' भूलना चाहती हूं। लेकिन वह है कि रिकार्ड की तरह बजता रहता है।"

"छोड़ो भी इन बातों से क्या फायदा ! फिर अपने बच्चों के लिए सब करते ही हैं !"

"यही तो मैं कहती हूं। बात-बात पर सुना देती हैं इन्हें तो अपनी लड़कियां ही प्यारी हैं। क्यों प्यारी न हों। अपनी-अपनी छातियों पर हाथ-रखकर देखें, पर क्या कह सकते हैं ! अपने बच्चे ही सबसे ज्यादा जूते मारने वाले बन जाते हैं !"

"तुमने बेकार में उस मकान का किस्सा उठाया। तुम क्या करतीं अपना हिस्सा लेकर !"

"मैंने सिर्फ इतना कहा था कि इस मकान के सात हिस्से होने चाहिए। बस इसी पर चिढ़ गए कि लड़कियों का नाम क्यों लिया ?"

"तुम्हें तो पता है मुझे कुछ नहीं चाहिए। अपने हाथों में दम हो।"

"एक बार पूछ तो सकते थे। मेरी लड़कियों के पास भगवान का दिया क्या नहीं है ? तुम लोगों की बात तो छोड़ो मैंने अपनी बात कही इसी पर मार झगड़ा ! जिंदा रही तो देखूंगी कि जो महल-दुमहले इन्होंने खड़े किए हैं उन्हें इनके बच्चे इनके सामने बेचेंगे तो इन्हें कैसा लगेगा ?"

"मैं फिर कहती हूं बेकार की बुराई क्यों लेती हो !"

"बुराई की क्या बात है ! बस अपने हाथ कटाते जाओ। कानून लड़कियों को कुछ दे दे पर लड़कियां मांगेंगी नहीं, इस डर से कि कहीं भाइयों से संबंध न बिगड़ जाएं !" यह मां कानून कब से जानने लगीं सोचते हुए मैंने कहा,

"चलो बस लग गई है। बिठा दूं। ध्यान से जाना। चिट्ठी लिख देना चिंता लगी रहती है।"

"चिंता की क्या बात है ! मरे कुत्ते को भी घसीट कर एक तरफ कर देते हैं। मैं मर जाऊं तो अब रह क्या गया ! तुम सब बने रहो !"

सब के बने रहने की चिंता है। हम उनके बने रहने की कितनी चिंता करते हैं !

मेरा मन करता है कि मनु महाराज को एक चिट्ठी लिखूं। लिखकर (शेष पृष्ठ ६४ पर)

पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ बयासी

□ **संजय चौहान**

[हिंदी अकादमी द्वारा आयोजित कथा-संध्या में पढ़ी गई कहानी]

डेढ़ साल बड़ी होने के कारण उसे हमेशा इस बात की शिकायत रही कि मैं उसे नाम लेकर क्यों बुलाता हूं। मैं उसे अंजू, अंजू की बच्ची या मंजू कहकर बुलाता था। नाम के अलावा कोई और शब्द या संबोधन मेरी जबान पर चढ़ता ही नहीं था। बचपन में एक बार वह इसी बात पर नाराज हो गई थी। उसने साफ कह दिया था कि जब तक मैं उसे 'दीदी' नहीं कहूंगा, वह राखी नहीं बांधेगी। बाऊजी की वह लालड़ी थी ही, उन्होंने मुझे डांटा और जब मैं डांटने पर भी अड़ा रहा तो फिर मेरी पिटाई भी हुई। मुझे दीदी कहना ही पड़ा लेकिन राखी बंधते ही मैं उसे 'गंजू' कहकर भाग गया था। स्वभाव के विपरीत बाऊजी हंस पड़े थे, जबकि वह मुझे मारने के लिए पीछे दौड़ पड़ी थी।

अब मैं उसे अंजू, गंजू कुछ न कहकर दीदी कहता हूं। राकेश तो बचपन से ही उसे दीदी कहता था, इसलिए उसे कोई दिक्कत आई ही नहीं। अब हम दोनों न उसे छेड़ते हैं, न परेशान करते हैं और न ही कुछ काम करने को कहते हैं। हमारे झगड़े और छेड़खानी के संबंध पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ बयासी को खत्म हो गए थे। अपनी इस मानसिक दशा के बावजूद मैं दावे से कह सकता हूं कि पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ बयासी के बाद हमने उसे न कभी छेड़ा, न परेशान किया।

पंद्रह अगस्त को जब वह देर रात तक घर नहीं लौटी तो हमने सोचा कि सहेली की बर्थ डे पार्टी में ज्यादा रात हो जाने के कारण वहीं रुक गई होगी, हालांकि मां देर रात या शायद सारी रात जागती रहीं, क्योंकि जरा-सा खटका या किसी गाड़ी की आवाज उनकी चारपाई हिलाकर चली जाती थी। दूसरे दिन बारह बजे तक भी जब वह नहीं लौटी तो मां ने राकेश को उसकी सहेली के घर करोल बाग भेज दिया। राकेश ने लौटकर बताया कि दीदी तो रात को ही वहां से निकल गई थीं। सहेली और उसके मम्मी-पापा सभी यह सुनकर परेशान हो गए थे कि यदि वह कल रात घर नहीं पहुंची तो कहां गई? मां की चारपाई सिसकियों के साथ लयबद्ध तरीके से हिलने लगी थी। राकेश और मैं, दोनों की समझ में नहीं आ रहा था, लेकिन मुझे कुछ-कुछ अंदाज हो चला था। मैंने राकेश को आंखों-ही-आंखों में समझाया कि 'वही हुआ है'। लेकिन शाम को उसी समय जब वही लड़का, उसी अंदाज से घर की ओर देखता हुआ निकला तो मुझे लगा कि शायद अंजू का चक्कर कहीं और चल रहा हो। उस दिन साढ़े छः बजे दरवाजा खटका। पिताजी थे। मां के रोने और बोलने में बहुत कम फासला था। हम दोनों चुप बैठे थे। टी० वी० ऑन करने की भी हिम्मत नहीं हुई। पूरा माहौल दमघोंटू होता जा रहा था।

सोलह अगस्त, उन्नीस सौ बयासी की रात तकरीबन आठ बजे दरवाजा खटका, बाहर अंजू थी और पुलिस। गांव की तरह ही कॉलोनी के मकान भी इतनी रात सो जाते हैं लेकिन उस रात जगे हुए थे या जग गए थे। यह तो हम भी जान गए थे कि कुछ गड़बड़ है, लेकिन क्या? या तो अंजू ने कुछ किया या···इसके आगे हम सोचकर भी सोचना नहीं चाहते थे।

पुलिस वाले तेज फटी-सी आवाज में कुछ पूछते हुए लिख रहे थे। बाऊजी की आवाज अजीब-सी हो गई थी। उन्हें हम हिटलर कहते थे। हमारे लिए दुनिया का सबसे गुस्सैल-रौबीला व्यक्ति हमारे बाऊजी ही थे। किसी गुस्सैल आदमी की डरी आवाज मैंने पहली बार सुनी थी। मां ने

अंजू को छुआ ही था कि वह ऐसे चिपट गई कि उसका शरीर मां के शरीर से अलग नहीं लगा। अंजू और मां के रोने की आवाज जरा ऊंची हुई तो पिताजी ने गुस्से से फुसफुसाते हुए कुछ कहा था। और तब मुझे महसूस हुआ कि किसी तानाशाह के डरे-सहमे आदेश कैसे होते हैं। राकेश की आंखें बहुत बड़ी लग रही थीं। यकीनन उसे भी मेरी तरह यही लग रहा होगा कि वह अपने घर में नहीं, किसी और नक्षत्र में है, जहां सारी चीजें अनजानी हैं।

हालांकि बाऊजी के दफ्तर में काम ज्यादा था, फिर भी उन्हें छुट्टी मिल गई थी। मैं और राकेश कॉलेज नहीं गए थे, अंजू का तो फिर सवाल ही नहीं उठता। मां बार-बार अपने करमों को कोसते हुए दीवार से सिर टकराती थी। अंजू की स्थिति से मां के करमों का कोई रिश्ता मुझे समझ में नहीं आया। हालांकि पूरी कॉलोनी दस्तक दे रही थी, फिर भी किसी ने घर का दरवाजा नहीं खोला। मां ने अवश्य बताया कि पड़ोस वाले शर्मा अंकल कुछ सूंघने की कोशिश में घर के कई चक्कर लगा चुके थे, जबकि इन दिनों घर में खाना नहीं बना था। बाऊजी ने शर्मा अंकल से सब्जी और मौसम पर बातें की थीं।

पुलिस की जीप जरूर बेरोक घर में कई बार घुस आई थी। कभी फोटो लेकर तो कभी कुछ और काम से। हमसे भी उन्होंने मिलने-जुलने वालों, कॉलेज, लड़कों, दोस्तों, दुश्मनी-रंजिश; पता नहीं क्या-क्या पूछा था। मुझे पता चल गया था कि पुलिस की जीप आते ही कॉलोनी की सारी आंखें और कान हमारे घर की दीवारों से चिपक जाते हैं। मुझे लगा यदि मैं किसी भी दीवार पर कील ठोक दूं तो कोई-न-कोई अंधा या बहरा जरूर हो जाएगा।

"अब तक तो सबको पता चल गया होगा।" राकेश फुसफुसाया।

"दिल्ली में कोई अखबार नहीं पढ़ता है।" मैंने कहा।

"पर ये बाजार भाव नहीं, बलात्कार की खबर है।"

मैं कुछ नहीं कह सका। बस छत देखता रहा।

घर में हमने एक खेल खेलना शुरू कर दिया था। अंजू की मनपसंद चीजें बनाकर मां उसे खिलाने की कोशिश करती थीं। मैं उसे दीदी कहने लगा था। जिस चादर और तकिये के लिए हम दोनों में ठनती थी उसे राकेश खुद अंजू के बिस्तर पर बिछाने लगा। बाऊजी उसे दफ्तर की मजेदार घटनाएं और चुटकुले सुनाते। अंजू को हंसाने की कोशिश करते बाऊजी मुझे बहुत दयनीय लगते। मुझे ऐसा लगता जैसे हिटलर हिंदी फिल्मों में हास्य अभिनेता हो गया है।

वह पच्चीस अगस्त ही थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि पंद्रह अगस्त, उन्नीस सौ बयासी के ठीक दस दिन बाद पहली बार अंजू घर से बाहर निकली थी। बाहर पूरी कॉलोनी की आंखें हमारे कपड़ों पर चिपकी हुई थीं। मैंने अपनी कमीज की सलवटें ठीक नहीं कीं। मुझे डर था कि यदि मैंने कमीज़ की सलवटें ठीक कीं तो किसी-न-किसी की आंख नीचे गिरकर फूट जाएगी।

टैक्सी से हम लोग लक्ष्मीनारायण मंदिर गए। मैं सोच रहा था कि भगवान के सामने घुटनों बैठी अंजू क्या मांग रही होगी? हिम्मत या मौत? या शायद कुछ नहीं। अपने हिस्से का खेल मैं लगातार खेल रहा था। उस दिन मैंने मोगरे के फूलों की वेणी खरीदी। वेणी लगाना उसे बहुत पसंद था। जिस दिन वह सहेली के घर गई थी उस दिन भी वेणी लगाई हुई थी। पर जब वापस आई तब वेणी थी या नहीं, मुझे याद नहीं। मैं उससे कहता था कि बालों में वेणी लगाकर तू एकदम महाराष्ट्रियन दिखती है। वह हंसकर धौल जमाती थी। उस दिन मैंने कुछ नहीं कहा। न वह हंसी न मेरी पीठ पर उसका धौल पड़ा। अच्छे, मगर सस्ते से।

होटल में खाना खाकर हम लोग वापस आ गए थे।

अंजू की रोने की आवाज सुनकर मैं चौंक गया। सोलह अगस्त के बाद मुझे पहली बार उसका रोना सुनाई पड़ा था, जबकि मां के अनुसार वह पच्चीस अगस्त को भी हाथ में वेणी लिए रोती रही थी। लेकिन जिस दिन मैंने उसका रोना सुना वह कौन-सी तारीख थी, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं। वह मां से कह रही थी कि कोई उसे कुछ करने क्यों नहीं देता या कुछ कहता क्यों नहीं! बात बहुत मामूली थी, हुआ यह था कि राकेश अपने और बाऊजी के कपड़े धो रहा था। अंजू ने उसे हट जाने को कहा कि मैं धो देती हूं तो वह बोला कि जब मैं खुद कर सकता हूं तो किसी से क्यूं कहूं। बस, अंजू रो दी। मुझे अंजू के रोने में कोई तुक नहीं लगा। न ही इस घटना का बलात्कार से कोई संबंध दिखा जो वह रोये। मैं उसे चाय बनाने को न कहूं, उसे दीदी बोला करूं। राकेश अपना काम खुद करे, कॉलेज जाते वक्त मां उसे बाऊजी का लंच बॉक्स बनाने को न कहे, ऐन टाईम पर बाऊजी अपने कपड़े प्रेस न करवाएं कोई उसे परेशान न करे···पंद्रह अगस्त, उन्नीस सौ बयासी के पहले वह यही सब तो चाहती थी। फिर? अब क्या परेशानी है? मुझे समझ नहीं आया!

अंजू के लिए बाऊजी कई पत्र-पत्रिकाएं लाने लगे थे। लेकिन मुझे पता था कि अंजू पढ़ती नहीं है। बस पन्ने पलटती रहती है, चित्र देखती है या उसमें चित्र बनाती रहती है। काफी पहले मैंने घर पर ही किसी मैग्जीन में बलात्कार पर किसी मनोचिकित्सक का एक लेख पढ़ा था, उसमें लिखा था कि जब आपको पता लग जाए कि अब बलात्कारी से बचना नामुमकिन है तो विरोध करने के बजाय अपने शरीर को ढीला छोड़ दें। बलात्कार के समय मस्तिष्क और शरीर के अंग शिथिल करने की कोशिश करें। तनाव न होने दें···अंजू ने वह पत्रिका जरूर पढ़ी होगी। घर पर ही तो थी पत्रिका। क्या उसने इन सलाहों पर अमल किया होगा?

मेरे दोस्त को बैठे आधा घंटा हो गया था। पहले वह हर दूसरे-तीसरे दिन आता था। इस बार पूरे डेढ़-दो महीने बाद आया। इतनी देर बैठे रहने पर भी उसने कुछ नहीं पूछा। पिछली होली के दिन हम दोनों ने आई० टी० ओ० पुल के पास एक एक्सीडेंट देखा था। खाकी कपड़े पहने आदमी का भेजा बस के टायर पर चिपका हुआ था। ऐसा लगता था जैसे बिना सिर का कोई शख्स टायर के पास लेटा हुआ है। साईकिल की हालत आदमी से बेहतर नहीं थी। कागज की पुड़िया में बंद रंग-गुलाल चारों तरफ बिखर गया था। दोने के बिखरे फूल लाल थे या खून से लाल हो गए या फूल ही थे या मांस के लोथड़े, हमें समझ नहीं आया था। दोस्त ने कहा था—'बढ़िया प्लॉट मिला यार, मैं इस पर कहानी लिखूंगा। होली का

त्यौहार एक गरीब आदमी, साईकिल की बस से टक्कर, भयानक मौत, महानगर की उदासीनता, रोते हुए गरीब घरवाले, बिलखते बच्चे, उधर हो-हल्ला, रंग-गुलाल, त्यौहार की उमंग, हंसी-खुशी, नाच-गान, इधर फटे-हाल भूख से बिलखते बच्चे, पुलिस की कार्यवाही, रोटी-भूख की चिंता, बदहाली। उसकी घरवाली को मैं 'धंधा' कराने भेज दूंगा या बाहर लाश है और उसके क्रिया-कर्म के पैसे के लिए उसकी घरवाली किसी बड़े आदमी के साथ अपनी इज्जत का सौदा कर रही है या बिखरी-फटी आंखों से मुट्ठी में बंद मुड़े-तुड़े नोट देख रही है। इस मोड़ पर कहानी खत्म हो जाएगी।' लेकिन इस आधे घंटे के बीच उसने एक बार भी अंजू के बारे में नहीं पूछा, न ही यह कहा कि बढ़िया प्लॉट है, कहानी लिखूंगा। क्यों ? मुझे पता करना पड़ेगा कि ये कहानी लिखता भी है या यूं ही हांकता है।

आराधना जब भी मिलती थी तो घरवालों की बातें करते हुए घूम-घुमाकर अंजू और अंजू की शादी पर बात ले आती थी। अंजू की शादी के बाद ही मेरा नंबर आता था। उसे लेकर हम दोनों कई बार झगड़े, लंबी बहसें कीं, पर उसकी बातें फिर वहीं पर आ जाती थीं, लेकिन उस दिन जब उसने 'कैसे हो' के आलावा कुछ नहीं कहा तो मुझे लगा कि शायद ये अखबार भी पढ़ती है। उसने घरवालों, अंजू, अंजू की शादी के बारे में भी जब कुछ नहीं पूछा तो मुझे विश्वास हो गया कि ये अखबार पढ़ती है। उस दिन त्रिवेणी के बदले हमने मद्रास होटल में कॉफी पी। इतने लंबे अर्से में भी जब वह कुछ नहीं बोली तो मुझे पहली बार पता चला कि दिल्ली में कई लोग अखबार पढ़ते हैं। उस दिन के बाद वह नहीं मिली। 'अच्छा बाय', यह उसके आखिरी शब्द थे। हमेशा वह 'सी यू' कहती थी या 'फिर कब ?'

मुझे उसका मिलना बहुत जरूरी लग रहा था। मैं उसे कई बातें बताना चाहता था। मैं उसको बताना चाहता था कि अंजू को तितलियां बेहद पसंद हैं या थीं। छुटपन में वह मुझे अपने संग खींचकर पास वाले बगीचे और झाड़ियों में भटकती रहती थी। सफेद और पीली तितलियों को वह नहीं पकड़ती थीं। कहती थी कि अरे ये बेचारी बड़ी गरीब तितलियां हैं, आसानी से पकड़ में आ जाती हैं। असली मजा तो रंग-बिरंगी तितलियां पकड़ने में है जो बहुत छकाती हैं। एक खास चितकबरे रंग वाली तितली उसे बहुत पसंद थी। एक बार दिखी कि अंजू उसके पीछे हाथ धोकर पड़ जाती। मैंने उस तितली का नाम भी याद किया था। और हर बार हम शरीर में झाड़ियों-कांटों की खरोंचें लिए लौटते, मां शिकायत करतीं कि मैं अपने संग लड़की को भी बिगाड़ रहा हूं, बाऊजी मुझे ही पीटते थे, जबकि सारी करतूत अंजू की ही होती थी। उसके तितलियों वाले गीत का मैं तो बस कोरस था। मैं अराधना से पूछना चाहता था कि क्या उन्होंने बलात्कार करते समय अंजू से पूछा होगा कि तुम्हें कौन-सी तितलियां पसंद हैं ?

पंद्रह अगस्त, उन्नीस सौ बयासी और पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ पचासी के बीच सिर्फ सन् ही नहीं, बल्कि हम भी बदल गए थे। मां बाऊजी की उम्र बढ़ी थी पर वे और छोटे हो गए थे। मैं नौकरी-सा कुछ करने लगा था और राकेश की उम्र यकायक छः साल बढ़ गई थी, जबकि गुजरे तीन ही वर्ष थे, लेकिन सबसे ज्यादा बदली थी अंजू। इस बीच एक दिन वह कॉलोनी के बीच खड़ी हो गई और अपनी सलवार-कमीज उतारकर झटकने लगी। यह काम वह तब तक करती रही जब तक सलवार-कमीज से चिपकी कॉलोनी की सारी आंखें गिर-गिरकर फूट नहीं गईं। यह काम मैं नहीं कर पाया था।

कोई महिला संस्था वाले लगातार उसके पास आने लगे थे और फिर वह उनके साथ जुड़ गई और सोशल वर्क-सा कुछ करने लगी। संस्था की पत्रिका के अलावा देश के कई अखबार-पत्र-पत्रिकाओं में उसने नारी-बलात्कार और अपने बलात्कार पर लेख वगैरह भी लिखने शुरू कर दिए। उनमें से किसी एक लेख का छोटा-सा हिस्सा शायद 'इकॉनॉमिस्ट' या 'टाईम' में भी छपा था। बहुत कम समय में ही संस्था में उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। हर दूसरे दिन उसे कहीं-न-कहीं भाषण देने जाना पड़ता था। कभी दिल्ली में तो कभी दिल्ली से बाहर। उसके लेख-भाषण सबमें हम लोग थे। कुछ ज्यादा ही बढ़-चढ़कर। यहां तक कि पंद्रह अगस्त, उन्नीस सौ चौरासी को जब टी० वी० पर उसने नारी समस्या, बलात्कार और अपने बलात्कार पर इंटरव्यू दिया तो उसमें भी हम लोग थे। जबकि हमारे खेल को वह छुपा गई थी, उसके लेख और इंटरव्यू से ही मुझे पता चला कि अंजू ने उस मनोचिकित्सक की किसी सलाह पर अमल नहीं किया था और उन दोनों ने बलात्कार के वक्त अंजू से तितलियों के बारे में कुछ नहीं पूछा था।

इस सबके बावजूद पता नहीं क्यों मुझे यह भ्रम होने लगा था कि यह अंजू वह अंजू नहीं है, जिसे मैं 'अंजू की बच्ची' या 'गंजू' कहता था। रात को जब वह सोती थी तो उसका चेहरा परेशान-सा लगता था। जब वह भाषण देकर आती थी तो उसके चेहरे पर मुझे लगातार बढ़ती झुरियां दिखाई देती थीं, जब संस्था वालों ने उसे महासचिव बना दिया तब भी मुझे उसकी आंखों के चारों ओर गहरा कालापन दिखाई पड़ा, जैसे लंबी बीमारी के बाद होता है। उस टी० वी० वाली लड़की ने भी यही कहा था कि आपकी बातचीत से प्रोग्राम में जान आ जाएगी, सेंसेशनल प्रोग्राम होगा, पब्लिक रिस्पांस अच्छा आएगा और परिचय देते वक्त बोली भी कि हमारी बाईं ओर बैठी फलां संस्था की महासचिव, बलात्कार पर कई लेख लिखने वाली और स्वयं भी बलात्कार का शिकार हुई सुश्री अंजू है। इसने सिर्फ अंजू क्यों नहीं कहा ? घर वालों, पास-पड़ोस वालों, कॉलोनी वालों की तरह चाहे आप भी यह मानें कि मैं पगला गया हूं या दिमागी संतुलन खो बैठा हूं, लेकिन मुझे इस बात का यकीन होता जा रहा है कि यह अंजू नहीं है। जब उसकी संस्था वाले, पत्र-पत्रिका वाले, टी० वी० वाले उसे कुछ और कहते हैं, सिर्फ अंजू नहीं, तो यह अंजू कैसे हो सकती है ! जैसे मैं उसे दीदी कहता हूं जो कि वह नहीं है।

पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ पचासी को अंजू की शादी हुई। लड़का कोई सोशल वर्कर था और दोनों एक-दूसरे को जानते थे। सारी बातें उसे पता थीं। मां-बाऊजी को वह खुले दिल का भला-सा लड़का लगा, जबकि मुझे महसूस हुआ कि राकेश को उसकी हेअर स्टाईल पसंद नहीं आई है। उसने एक सभा में ही इस विवाह की घोषणा की थी कि अंधे समाज की आंखें

खोलने के लिए मैं यह कर रहा हूं। इसीलिए ताकि एक मिसाल कायम हो। दोनों के इंटरव्यू भी इधर-उधर कई जगह छपे थे। कहते हैं कि विवाह समारोह एक बड़े हॉल में बहुत सादगी से मनाया गया था। न जाने कितने बड़े-बड़े लोग आए थे।

अंजू की शादी के समय मुझे एक कमरे में बंद कर रखा था, ताकि मैं कुछ अंट-संट न कर बैठूं। घर वालों के साथ बाकी लोगों को भी यकीन हो गया था कि मैं अपना मानसिक संतुलन खो बैठा हूं, पगला गया हूं। हम अंजू को क्यों नहीं छोड़ सकते, काम के लिए क्यों नहीं कह सकते, यह वही अंजू है या कोई और··· मेरे इन प्रश्नों को प्रमाण के रूप में बताया गया और सबसे बड़ा प्रमाण यह दिया गया कि उस लड़के को देखते ही मैं उस पर चिल्लाते हुए मारने को झपट पड़ा था कि इसने अंजू के साथ बलात्कार किया है, यही उन दोनों में से एक है जिसने पंद्रह अगस्त उन्नीस सौ बयासी को अंजू के साथ बलात्कार किया था, तभी यह शादी के लिए राजी हुआ और इसीलिए इसने शादी के लिए पंद्रह अगस्त की तारीख तय की।

घरवालों की तरह आपको भी शायद यही लगे कि जिस शख्श की बातों का न सिर है, न पैर वह भला पागल नहीं है तो और क्या है। लेकिन जितने यकीन से मैं ये बातें कह सकता हूं कि मेरा दोस्त कहानीकार नहीं है, वरना क्या अंजू का बलात्कारक हानी का बढ़िया प्लॉट नहीं था, कि मेरी प्रेमिका मेरे मकान से शादी करना चाहती थी और अखबार पढ़ती थी, कि दिल्ली में बहुत से लोग अखबार पढ़ते हैं, कि अंजू ने मनोचिकित्सक की एक भी सलाह पर अमल नहीं किया था, कि दोनों ने बलात्कार के वक्त अंजू से तितलियों के बारे में कुछ भी नहीं पूछा था। उतने ही यकीन से मैं कह रहा हूं कि यह लड़का उन दोनों में से एक है जिन्होंने बलात्कार किया था।

मैं जानता हूं कि आप सुबूत मांगेंगे और अंजू मेरे पक्ष में गवाही नहीं देगी, क्योंकि वह खुद उस लड़के से शादी कर रही है और दूसरा अभी तक पकड़ा नही गया है।

(पृष्ठ ६० का शेषांश)

कहूं कि महाराज मातृ-ऋण, पितृ-ऋण और आचार्य-ऋण बना तो दिया, पर मातृ-ऋण चुकाता कौन है?

हम बेटियां मांओं को अपने भीतर पाती हैं। हम उन्हें जिंदा देखना चाहती हैं। हम चाहती हैं कि वे कभी न मरें। उनका कभी अपमान न हो। उनके पुत्र उन्हें क्यों नहीं चाहते। हमें मातृ-ऋण चुकाने का अधिकार तो दिया होता!

मेरी मां यह ऋण नहीं कबूलती। बेटी के घर रहना पाप है न, वह हमारे यहां पानी भी नहीं पीती! वह अब भी मनुस्मृति से नहीं बच सकी हैं। बचपन में पिता, जवानी में पति और बुढ़ापे में लड़कों के घर के अलावा उसे कुछ नहीं दीखता।

लैपाक्लै बुआ

□ नोङ्थोंबम कुंजमोहन सिंह

वार्ड में घुसते ही घबराई नर्स ने बेचैनी से कहा, "गुड मॉनिंग डॉक्टर, एक बहुत सीरियस केस···।"

नर्स ने अपनी बात सचमुच सीरियस होकर कही थी, फिर भी मैंने ज्यादा परवाह नहीं की, मजाक में कहा, "रोज तुम्हारा कोई-न-कोई सीरियस केस···।"

"डॉक्टर, सचमुच सीरियस है। कल से कोमा में थी।" मैं समझ गया कि नर्स सचमुच घबरा रही है।

लेकिन असंख्य रोगियों और मृतकों से सदा संपर्क रखने वाले डॉक्टर को कभी घबराहट नहीं होती, पहले की भांति मजाक करते हुए आगे कहा, "कोमा में है तो अपने-आप फुलस्टॉप पर···।"

समझ में नहीं आता कि ऐसा क्यों हुआ ? मजाक में कही गई बात पूरी तरह नहीं कह पाई। डॉक्टर होते हुए भी मैं भी मनुष्य हूं, मनुष्य के हृदय का वह नाजुक अंश शायद मुझमें भी हो। क्षण-भर में स्थिति बदलते हुए पूछा, "कहां है, कौन है ?"

"बेड नंबर बारह। शायद परसों वाली घटना में चोट लग गई है।"

"परसों वाली कौन-सी घटना ? मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा। घटनाएं तो रोज घटती रहती थीं। परसों भी कई घटनाएं घटित हुई होंगी। कौन-सी घटना की बात होगी जो वह कह रही थी ?

एसेंबली रोड पर घटित घटना ! हां, एक बड़ी घटना घटी थी, लोगों के बीच गर्मागर्मी से चर्चा हो रही है। सही-गलत का वाद-विवाद हो रहा है। परसों रात आकाशवाणी इंफाल से प्रसारित समाचार में यह समाचार भी था—आज शाम जुलूस में शामिल कुछ लोगों द्वारा एसेंबली रोड पर हिंसक कार्रवाई किए जाने पर पुलिस ने लाठी-चार्ज किया और आंसू-गैस छोड़ी। उस घटना में पुलिस वालों सहित कुछ लोगों को चोटें आयीं।

वामपंथी दल के मुखपत्र 'अनौबा मङाल्' में कल सुबह बड़े अक्षरों में हेड लाइन में यह समाचार छपा था—"शांतिपूर्ण जुलूस पर पुलिस द्वारा लाठी-चार्ज, आंसू-गैस और गोली-बारूद—फासिस्ट सरकार का खौफनाक चेहरा।"

शासक दल के समाचार-पत्र 'अचुंबा पाओदम्' में उस घटना के बारे में कोई समाचार नहीं छपा था।

लेकिन वह इस राज्य की एक बड़ी घटना थी। 'अनौबा मङाल्' में छपे समाचार के अनुसार, अस्पताल में इलाज करा रहे गंभीर रूप से घायल तेरह लोगों में से तीन की हालत चिंताजनक है।

परसों वामपंथी दल की ओर से महंगाई, बेरोजगारी, रिश्वतखोरी और इंफाल शहर के बीचोबीच कुछ प्राइवेट लोगों को जमीन दिए जाने के खिलाफ नारे लगाते हुए प्ले-कार्ड के साथ एक बड़ा जुलूस निकाला गया था। लोगों के कहने के अनुसार जुलूस शहर के प्रमुख मार्गों पर शांतिपूर्ण ढंग से निकाला गया और अंत में लोग एसेंबली हॉल के सामने बहुत देर तक खड़े होकर नारे लगाते रहे थे। एसेंबली की बैठक में भाग लेने वाले वामपंथी दल के सदस्य बाहर निकलकर जुलूस में भाग लेने वालों से मिले थे और बढ़िया भाषण भी दिए थे। अंत में लोगों ने मुख्यमंत्री से मिलने के लिए उनके पास समाचार पहुंचाया, किंतु मुख्यमंत्री ने कहा कि वह लोगों से नहीं मिल सकेंगे। लगभग साढ़े चार बजे अत्यधिक क्रोधित कुछ युवक एसेंबली के कंपाउंड के चारों ओर खड़ी की गई ईंट की दीवार को

लांघकर अंदर कूद गए। पुलिस ने उन्हें हटाने के लिए लाठी चार्ज किया। लेकिन सूखे भूसे में भड़कने वाली आग नहीं बुझाई जा सकी, क्षण-भर में तेजी से फैलने लगी। किसी के कुछ कहे बिना भीड एसेंबली का गेट तोड़कर अंदर घुसने लगी। भीड़ को खदेड़ने के लिए पुलिस को भी हथियार उठाने पड़े, कई बार आंसू-गैस छोड़ी गई—किसी का कहना था कि बारूद भी था। इस बार भीड़ शोरगुल मचाते हुए बाहर की तरफ भागने लगी। भागते समय आग बबूला हुए युवकों को सामने अस्पताल के पीछे वाली वही बड़ी जमीन दिखाई पड़ी, जो सरकार ने तेरीमल-मेरीमल को दी थी। विदेशी शराब बनाने का कारखाना स्थापित करने के लिए बनी हुई तेरीमल-मेरीमल की इमारत को देखते ही युवकों में जीने-मरने का ख्याल नहीं रह गया, उस तरफ दौड़ते हुए पास ही पड़े पत्थर, लोहे की छड़ें उठाकर उस इमारत को तोड़ना शुरू कर दिया। भीड़ को भगाने में शामिल कुछ पुलिस वाले भी, पता नहीं, उन्हें क्या पागलपन सवार हुआ, भीड़ को भगाना छोड़कर इमारत तोड़ने में सहयोग देने लगे। कुछ देर के लिए वह जगह रण-क्षेत्र जैसी बन गई।

मेरा असिस्टेंट, डॉक्टर विनोद अंदर आया, "गुड मॉनिंग भाई साहब।" उसने भी आते ही कहा, "बिस्तर नंबर बारह वाली काफी सीरियस हो गई है। आपने उसे देखा भाई साहब?"

"नहीं देखा, मैं भी अभी थोड़ी देर पहले ही आया हूं। चलो, देखें।" हम दोनों उठे। नर्स भी केस-डायरी उठाकर हमारे पीछे जल्दी-जल्दी आ गई।

सिर को बैंडेज से लपेटे हुए वह औरत काफी वृद्धा दिखाई पड़ी। आंखें बंद थीं सोने जैसी, चेहरा जरा फूला-सा दिखाई देता था। सिर के पीछे वाले हिस्से का बैंडेज अब भी खून से भीग रहा था, इससे पता चला कि जखम से अभी तक खून का निकलना रुका नहीं है।

"सुबह मैं यहां पहुंची, तब बहुत तड़प रही थी। कहते हैं कि कल रात-भर बहुत तड़पती रही। जब कुछ भी समझ में नहीं आया कि क्या किया जाए, तब कैजुएल्टी वाले डॉक्टर से पूछकर मॉर्फिन का इंजेक्शन लगाकर रखा है।" नर्स ने बताया।

"सुबह जल्दी मुझे फोन से क्यों नहीं बताया? मैंने अपनी हमदर्दी जताते हुए कहा।"

"कल से आपका फोन आउट ऑफ आर्डर था, इसलिए आज भी···।" नर्स ने उत्तर दिया।

"हां भाई साहब," मेरे असिस्टेंट डॉक्टर विनोद ने भी समर्थन किया, "कल दिन-भर फोन से आपसे संपर्क करने की कोशिश करता रहा। किंतु नहीं कर पाया, हर बार फोन उठाते समय एक्सचेंज से उत्तर मिला कि लाइन खराब है।"

हां, कल दिन-भर मैं घर से बाहर न निकलूं, इसके लिए मेरी मां और मुन्ने की मां की साजिश थी। मुन्ने के बुरे ग्रह दूर करने के लिए सुबह से शाम तक हवन हुआ। पता नहीं, किस ज्योतिषी ने बताया होगा, हवन के समय परिवार का कोई भी सदस्य घर से बाहर नहीं जा सकता। इसी कारण मैं कितने कष्ट में था। मैं इस प्रकार के अंधविश्वास पर विश्वास करने वाला नहीं हूं, फिर भी मुन्ने की मां और दादी के दबाव में मैं कुछ नहीं कर सका।

शायद, शरीर के दूसरे अंगों पर कोई चोट नहीं है, कहीं दाग-बाग दिखाई नहीं देता। मैं समझ गया कि सिर में तो गंभीर रूप से चोट लगी थी। शरीर का तापमान भी काफी ऊंचा था।

नर्स के हाथ से केस-डायरी लेकर देखा कि कैजुएल्टी से क्या-क्या करके भेजा है। ए-टी-एस का इंजेक्शन हो गया था, स्टीच भी कर दिया गया, डायेक्राइस्टिन का इंजेक्शन भी हो गया था।

दूसरी दवा-दारू शुरू करने से पहले जखम को अच्छी तरह जान लेना सही तरीका था। इसलिए मैंने अपने असिस्टेंट और नर्स से कहा—"जल्दी सिर का एक्स-रे ले लेना चाहिए।"

उन दोनों ने भी मेरी बातों पर सहमति प्रकट करते हुए अपने सिर हिलाए।

पैंताने के पास खड़ी युवती पर पहले नजर नहीं पड़ी थी। कपड़े साधारण थे, दिल बहुत दुखी, चेहरा बुझा हुआ, चुपचाप खड़ी थी। उसके चेहरे को देखते ही मेरा मन-भर आया, उसे कहीं शायद देखा हो।

"भाई साहब, मेरी मां को···:" शायद लोगों से बात करना न आता हो, इन दो शब्दों के बाद कुछ नहीं बोली। किंतु मैं समझ गया कि वह क्या कहना चाहती थी।

"हां, देख रहा हूं, हम लोग इसे चंगा करने की कोशिश कर रहे हैं।" आदतन हमारा उत्तर मुंह से निकल आया।

कमरे में आकर बैठते ही मैंने एक्स-रे विभाग को संबंधित कागजात भेजने के लिए केस-डायरी को पलटकर देखा। पहले से तो नहीं देखा था, उसका नाम पढ़ते ही रोमांचित हो गया। नाम—लैपाक्लै देवी; पता—थाङ् मैबंद; आयु—५५। यादों के नीले आकाश में एक तारा स्पष्ट टिमटिमाने लगा। शायद वही उस जमाने की···!

"नर्स, उस युवती को बुलाओ।" समझ नहीं सका कि लिखने के लिए उठाई हुई कलम कब मैंने टेबल पर वापस रख दी थी।

नर्स मेरे तौर-तरीके को देखकर थोड़ी देर तक अचंभित रही, फिर बिना कुछ पूछे बाहर चली गई। वह तुरंत उस युवती को बुला लाई। वह युवती बहुत शर्मिंदगी के साथ सिकुड़ कर मेरे सामने आकर खड़ी हो गई, वह ऐसे खड़ी थी कि जैसे अति व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही हो कि मैं कोई गंभीर बात बताने वाला हूं।

सच, उसके चेहरे पर वही छाया थी।

"बहन जी," मैंने पूछा, "तुम्हारे कितने भाई-बहिन हैं?"

"सिर्फ हम दो, मैं और एक छोटा भाई।" चेहरा नीचा करके युवती ने उत्तर दिया।

"तुम्हारे छोटे भाई का क्या नाम है?"

"मङ्लेम्; जीवन भी कहते हैं।"

सच है, वही लड़का, जीवन, वही···।

शायद मैं थोड़ी देर तक अवचेतन अवस्था में था, जब चेतनावस्था में लौटा तो पाया कि मेरे सामने वह युवती आश्चर्य के साथ खड़ी थी।

"ठीक है, तुम जा सकती हो।"

आगे कुछ भी पूछे बिना उस युवती को जाने दिया।

उसके जाते ही मैंने कागज निकालकर वही लिखा जो लिखा जाना था और नर्स को सौंप दिया, "लो, अभी एक्स-रे के लिए भेज दो, तुरंत।"

"लेकिन डॉक्टर···।" नर्स ने जाने में अनिच्छा प्रकट की।

"क्या हुआ?"

"कल से ही बताया जा रहा था कि एक्स-रे फिल्म नहीं है। मैं आपको बताना भूल गई थी।"

मुझे गुस्सा आ गया। कैसी व्यवस्था है इस अस्पताल की! आज फिल्म नहीं है, कल बिजली नहीं आएगी, परसों मशीन खराब हो जाएगी और नरसों···।

"कह दो, फिल्म होनी चाहिए और यह काम होना चाहिए।" मेरा गुस्सा अचानक बाहर फूट पड़ा।

क्षण-भर में मेरी चेतना लौटी। इस अस्पताल की अव्यवस्था और इन सारी कमियों के लिए मैंने इस बेकसूर नर्स पर अपना गुस्सा क्यों उतारा था? बेकसूर नर्स आश्चर्यपूर्वक ऐसे खड़ी रही मानो उसने मुझसे वह सब क्यों कह दिया था। मुझे भी बिना वजह के गुस्सा करने के कारण शर्मिंदगी महसूस हुई।

अपनी शर्मिंदगी कुछ कम करने के लिए अपने चेहरे का हाव-भाव बदलते हुए कहा, "जाओ, है कि नहीं जरा देखकर जाओ। मेरा गुस्सा तुम पर नहीं है। अस्पताल के उन कर्त्ता-धर्ताओं पर है जो व्यवस्था करने में बहुत कुशल होते हैं।"

मेरी रुचि को देखकर शायद डॉक्टर विनोद ने मन में कुछ सोचा हो, उसने पूछा, "भाई साहब, उस वृद्धा को जानते हैं?"

जब मैं उत्तर देने को हुआ, तभी नर्स ने भी पूछा, "कोई रिश्ते-नाते की लगती है?"

"हां···रिश्तेदार, हां···।"

बात उस जमाने की है, जब हम विद्यार्थी थे।

हमारे स्कूल के पास सड़क के किनारे सरपत की छत वाली एक झोंपड़ी में चाय की एक छोटी-सी दुकान थी। पास-पड़ोस में दूसरी दुकान नहीं थी, इसलिए हम सभी विद्यार्थियों का वहां जमाव होता था, अध्यापक भी कभी-कभी वहां जाते थे। इस दुकान की मालकिन थी। लैंपाक्लै बुआ वह हम सभी विद्यार्थियों की लैंपाक्लै बुआ थी, अध्यापक भी उसे इसी नाम से बुलाते थे।

लैंपाक्लै बुआ को कभी गुस्सा नहीं आता था, यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। हम सभी विद्यार्थियों ने उसके इस गुण का फायदा उठाया, उसकी दुकान हमारी मनपसंद जगह बन गई। चाय, पकौड़े आदि खा-पी लेने के बाद 'किसी और दिन देंगे, आज तो नहीं है' कहकर चले जाने पर लैंपाक्लै बुआ किसी से कुछ नहीं कहती थी।

"हां-हां भूल मत जाना।" इससे ज्यादा कुछ नहीं कहती थी। किसने-कितने का उधार लिया, किस पर कितना उधार है, कभी कागज के किसी टुकड़े पर भी लिखकर नहीं रखा, सब अपने दिमाग में रखा। उसके ऐसे अच्छे स्वभाव को देखकर अधिकांश विद्यार्थियों ने उसके पैसों को कभी नहीं मारा।

लैंपाक्लै बुआ में एक और गुण था कि वह विद्यार्थियों को अपने सगे बेटों की भांति मधुर शब्दों में समझाती-बुझाती रहती थी। "अरे, शरारत मत करो, अभी शरारत करने का समय नहीं है, ध्यान से पढ़ो, आदमी बनो, बुरी संगति में मत पड़ो···।" काफी बदमाश विद्यार्थी भी उसके पास पहुंचते ही सीधे हो जाते थे।

मणिपुर को पूर्ण राज्य का दर्जा दिलाने के आंदोलन में भाग लेने के कारण हम कुछ नकली छात्र-नेता भी जेल में थे।

जब हम जेल से छूटकर आए तो एक दिन लैंपाक्लै बुआ ने कहा, "बेटे, राजनीति में भाग लेते हुए भी पढ़ाई मत छोड़ो। शिक्षा के बिना राजनीति करने से कल कोई भी तुम्हारी इज्जत नहीं करेगा।"

उसका छोटा बेटा, जीवन कभी-कभी मां के पास होटल में आया करता था। बुआ हमसे कहा करती थी, "मेरा बेटा पढ़ पाएगा क्या? सोचती हूं कि मैं भूखी रहते हुए भी अपने इस बेटे को उच्च स्तर तक पढ़ाऊं।"

उसका बेटा, छोटा बच्चा होते हुए भी काफी होशियार मालूम होता था। वह स्कूली किताबों में संकलित कई कविताएं कंठस्थ कर लेता था और उन्हें अच्छी तरह सुना सकता था। अधिकांश विद्यार्थी उसे जानते थे, वह सबसे खुला था, लैंपाक्लै बुआ कहती थी कि उसकी एक बेटी भी है और वह भी पढ़ती है लेकिन वह कभी दुकान पर दिखाई नहीं देती थी।

मैट्रिक पास करके स्कूल छोड़ने के बाद भी हम कुछ लोग लैंपाक्लै बुआ की दुकान नहीं छोड़ सके, उनसे अपना संबंध नहीं तोड़ सके। बार-बार हम इकट्ठे होकर लैंपाक्लै बुआ की दुकान पर पहुंचते, चाय और एक प्लेट पकौड़ी के बहाने एक-दो घंटे वहां बैठे रहते।

प्रि-युनिवर्सिटी की परीक्षा का परिणाम आने के साथ-साथ मेरे सामने एक दुविधा भी आ खड़ी हुई। मेरा परीक्षा-परिणाम इतना अच्छा था कि मैं विश्वास ही नहीं कर सका। इन्जीनियरिंग और मैडिकल, दोनों में मुझे चांस मिला। मेरे मां-बाप इन्जीनियरिंग चाहते थे, ताकि इन्जीनियर बनते ही मैं कार खरीद सकूं, घर बनवा सकूं। मैं दोनों में से किसी को भी नहीं चाहता था। मेरा एकमात्र विचार था कि मैं राजनीति में जाऊं। इसलिए वकील या कॉलेज का अध्यापक बनने के लिए जनरल लाइन पकड़ना चाहता था। वकील या कॉलेज का अध्यापक बनकर राजनीति करने में कोई नुकसान नहीं होता।

मैंने चाय पीते-पीते लैंपाक्लै बुआ को यह बात बताई। उन्होंने मजाक के रूप में मेरी दुविधा को दूर करने का एक उपाय बहुत आसानी से निकाला, "अभी मैं लॉटरी निकालती हूं, जो खुलेगा, वही मानोगे?"

बस, उसके बाद लॉटरी। उस लॉटरी में मेरी अनचाही दोनों लाइनों में से एक खुल गई, डॉक्टरी पढ़ना। डॉक्टरी पढ़ने के निर्णय पर सफलता पाने पर लैंपाक्लै बुआ सचमुच इतनी खुश थीं कि जैसे उसकी अपनी ही

लॉटरी खुल गई हो, कहने लगी—"मेरी मनपसंद ही निकली। डॉक्टरी सबसे अच्छा धंधा है, पीड़ितों की सेवा करना है।"

मुझे थोड़ा निराश होते देखकर वह आगे बोली, "अरे पगले, राजनीति तो अमीरों और बहुत पैसे वालों को करनी चाहिए। तुम गरीब घर के लड़के राजनीति करके भूखे मरोगे क्या?" थोड़ी देर तक मुझे गौर से देखने के बाद वह फिर बोली, "अगर तुम सचमुच राजनीति में जाना चाहो तो भी डॉक्टरी पढ़ने से उसमें बाधा नहीं होगी, सरकारी नौकरी न करके घर बैठकर इलाज करने से भूखे तो नहीं मरोगे।"

यह मेरी डॉक्टरी पढ़ने की कथा थी, लैंपाक्लै बुआ द्वारा मुझे डॉक्टरी पढ़ने की प्रेरणा देने की कथा।

मैडिकल कॉलेज का तीसरा वर्ष था। गर्मी की छुट्टी पर घर आते ही लैंपाक्लै बुआ की दुकान पर गया। उस क्षेत्र में सुंदर और नई-नई बहुत सारी इमारतें बन गई थीं, रूप ही काफी बदल गया था। लैंपाक्लै बुआ की दुकान में भी काफी बदलाव आ गया था। दूसरे लोगों के लिए उन्नति और उसके लिए अवनति। देखते ही मेरा मन भर आया। सारी डेस्क-बैंच मैली हो गई, धूल-धूसरित शक्ल यह बता रही थी कि लोगों का आना-जाना कम हो गया है। कोने-कोने में मकड़ा के जाले ही जाले। शायद लैंपाक्लै बुआ ने भी परवाह नहीं की हो, झाड़ू-सफाई नहीं की हो।

"बुआ, यह सब क्या हुआ?" मैंने होटल में घुसते ही पूछा।

"क्या किया जाए? समय का फेर है। वक्त के बदलाव को कौन रोक सकता है?" लैंपाक्लै बुआ ने उत्तर दिया, उसके बाद उंगुली से इशारा करते हुए कहा, "देख रहे हो न, सामने की बड़ी-सी इमारत! समय का फेर है।"

"मैंने देखा, सामने ईंट की एक बड़ी-सी इमारत, उसके सामने एक बड़ा साइनबोर्ड—मॉडर्न होटल एंड रेस्तरां। लैंपाक्लै बुआ की दुकान की अवनति का कारण पल भर में मेरी समझ में आ गया।

अगली बार की गर्मी की छुट्टी में भी मैं घर आते ही लैंपाक्लै बुआ की दुकान पर गया। लैंपाक्लै बुआ अपने लड़के के साथ दुकान की झोंपड़ी तोड़ रही थी। उसका बेटा, जीवन युवा हो गया था।

मुझे देखते ही वह काम छोड़कर निकल आई और पूछने लगीं, "कब आए हो बेटे?"

उसके चेहरे पर अचानक बुढ़ापा छा गया, पहले की मुस्कान की झलक उसके चेहरे पर दिखाई नहीं दी। ग्रीष्मकालीन चढ़ती धूप में दोनों मां-बेटे पसीने से भीगे हुए झोंपड़ी को तोड़ रहे थे।

"बुआ, फिर नया बनवाना है? इस बार तो थोड़ा अच्छी तरह बनवाना।" बुआ की बढ़ोत्तरी चाहने के कारण मैंने ऐसा कहा, जैसे उपदेश दे रहा होऊं।

"कैसे बनवाऊंगी बेटे!" बुआ ने जवाब दिया, "सुना नहीं, यहां दुकान चलाना मना है, इसलिए हमको हटाया जा रहा है। तभी तो यह झोंपड़ी तोड़ रही हूं।"

"होटल चलाना क्यों मना है?"

"कुछ सुना नहीं बेटा? यह सरकार शहर को और खूबसूरत बना रही है, इसके लिए सड़क की किनारे वाली सारी जगह दुकान-प्लॉट के रूप में दे दी गई हैं। और हमको हटाया जा रहा है।"

"बुआ, आप एक प्लॉट क्यों नहीं ले लेतीं? पिछले चौदह-पंद्रह वर्षों से भी अधिक समय से यह जगह आपके दखल में है। आपका दावा सबसे अधिक मजबूत होगा।"

"यह कैसे संभव हो सकता है बेटा? चौदह-पंद्रह वर्षों की बात तो छोड़ो। चौबीस-पच्चीस वर्षों से पीपल के पेड़ के नीचे फड़वाली दुकान करने वाली इबेचा भाभी को तुम जानते हो न? उसको भी हटा दिया गया है।" थोड़ी देर रुकने के बाद फिर आगे कहा, "कहते हैं, दस हजार रुपए दो, जानते हो न, दस हजार रुपए…!" लैंपाक्लै बुआ ने एक लंबी सांस छोड़ी।

मैं एक लंबी सांस लेकर लैंपाक्लै बुआ के दुख का भागीदार बनने के सिवा उसको कोई सहयोग नहीं दे सका—हाय, यह है सरकार की, देश की विकास-योजना, यह है गरीबी दूर करने का कार्यक्रम…।

करीब एक सप्ताह बाद एक दिन मैंने पाओना बाजार के होलसेल को-ओपरेटिव स्टोर के सामने पंक्ति में खड़े बच्चों और महिलाओं के बीच लैंपाक्लै बुआ को देखा। बूंदा-बांदी थी, फिर भी किसी ने परवाह नहीं की। उस बूंदा-बांदी में लोगों की वह भीड़ सरकार द्वारा नियंत्रित कीमत पर दो-तीन किलो चीनी पाने की घोर लड़ाई लड़ रही थी, बारिश उनकी पंक्ति को नहीं तोड़ सकती, वैसे ही धूप भी कुछ नहीं कर सकती। शाम को करीब चार-पांच बजे कुछ किलो चीनी मिल सकती है, उसे बड़ी दुकानों में जाकर थोड़ी-सी बड़ी कीमत पर बेच देंगे। मुनाफे के रूप में प्राप्त दो-तीन रुपये से चावल खरीद कर रात को घर वापस जाएंगे।

छुट्टी का समय पूरा होने के कारण वापस जाने वाला था कि एक दिन रास्ते में लैंपाक्लै बुआ से मुलाकात हुई। सिर पर एक टोकरी में कुछ ले जा रही थी। साइकिल से उतर मैंने पुकारा, "बुआ, क्या ले जा रही है?"

बुआ रुकी, "अरे, बेटा तुम हो! छोटे-छोटे शीशे इकट्ठा करने गई थी। तुम कहां जा रहे हो?"

उसके प्रश्न का उत्तर दिए बिना उसके बारे में जानने की ज्यादा उत्सुकता से मैंने पूछा, "होलसेल से चीनी लेने नहीं गई?"

"कैसे जाऊं बेटा! वहां मुझ बुढ़िया का क्या काम, उसका तो युवतियों ने ठेका ले रखा है।"

थोड़े से शब्दों से मैं सब समझ गया। चीनी लेने के बारे में गुप्त और खुले रूप में चल रहे अवैध काले-कारनामों की चर्चा सभी लोग करते थे, साथ ही अखबारों में भी कई बार लिखा जा चुका था। दुख तो यह है कि सुनने वाली सरकार कभी नहीं सुनती।

सड़क के किनारे हम दोनों बात कर रहे थे, तभी एक मोटरसाइकिल ने कहीं से भागते हुए आकर लैंपाक्लै बुआ को थोड़ी-सी टक्कर मार दी। संभल न पाने के कारण लैंपाक्लै बुआ गिरने लगी, संयोगवश मेरे पकड़ लेने से उसे कुछ नहीं हुआ। लेकिन उसके सिर रखे सारे शीशे पक्की सड़क पर गिरने के कारण चकनाचूर हो गए। मोटर-साइकिल पर बैठने वाले

तीनों युवक एक बार भी पीछे देखे बिना मोटर को वायु के वेग से चलाकर चले गए। क्रोध और दुःख से मैं आग बबूला हो गया, किंतु कुछ नहीं कर सका। बस, मैंने इतना किया कि उन तीनों अपरिचित युवकों को उनके अपरिचित पूर्वजों तक की गाली दे डाली। बुआ की उस दिन की पूंजी और नफा दोनों साथ-साथ चले गए।

उस घटना के बाद बहुत लंबे अरसे तक लैंपाक्लै बुआ से मुलाकात नहीं हुई।

चार साल पहले जब मैं एम० एस० पढ़ने जाने वाला था, तब वहां उससे अचानक मुलाकात हुई, जहां मैडिकल कॉलेज की इमारत बन रही थी। इधर-उधर पत्थर ढोने वाली महिलाओं के बीच वह भी थी। उसका चेहरा देखने पर भी उसे नहीं पहचान पाया, काफी बदल गई थी—रंग काफी काला, चेहरा बहुत चपटा, झुर्रियां भी।

"बुआ हो न ?" मैंने पूछा।

उसे ऐसा लगा कि जैसे एक सूट-टाई धारी पुरुष के अचानक बुलाने से वह चौंक गई हो। पहचानते ही मुस्कराकर उत्तर दिया, "हां, मैं हूं, और तुम वही हो ? यहीं काम करते हो ?"

"हां, मैं यहीं नौकरी करता हूं।"

"कितनी खुशी की बात है ! कभी बीमार-सिमार पड़ी तो तुम यहीं हो, इसलिए मुझे कोई कष्ट नहीं होगा। सच, बहुत खुश हूं !" ऐसा लगा कि वर्षों से खुशी की झलक न पाने वाला उसका चेहरा पल भर के लिए प्रफुल्लित हो गया हो।

एक्स-रे का रिजल्ट देखने से मेरा शक सही निकला। लापरवाही से कंकड़, शीशा आदि के टुकड़े सहित टांके भरने की घटनाएं कई बार घट चुकी थीं। हम डॉक्टर भी अजीब जीव हैं, उतनी सावधानी नहीं बरतते, शायद घायल और बीमार लोगों को कोई निष्प्राण वस्तु समझते हों !

देर किए बगैर लैंपाक्लै बुआ को ऑपरेशन कक्ष में लाया गया। पहले से टांके गए धागे को काटकर उस अंश को फिर चीरा गया।

लैंपाक्लै बुआ के लिए मैं बहुत दुखी था। आंदोलनकारी और पुलिस की मुठभेड़ में एक बेकसूर औरत घायल हो गई ! शायद वह तेरीमल-मेरीमल की नई बनी हुई इमारत में काम करती होगी। अगर वह यह जानती थी कि कोई घटना घटने वाली है तो बाहर क्यों नहीं भागी ! शायद भागने का मौका ही न मिला हो।

बुआ की प्रति मेरी रुचि और दौड़-धूप को देखकर अन्य डॉक्टर और नर्सों ने भी काफी सावधानी बरती। अस्पताल में नहीं है, ऐसा कहकर दूसरे रोगियों को न दी जाने वाली कुछ दवाएं भी ढूंढ़-ढांढ़कर दे दीं। ऐसे ही सबके द्वारा सावधानी से इलाज करने के कारण लैंपाक्लै बुआ बहुत जल्दी अच्छी होने लगी।

जब वह बात कर सकने लगी तो एक दिन मैंने अकेले लैंपाक्लै बुआ के पास जाकर कहा, "भविष्य में कहीं आंदोलन होने का समाचार सुनो तो दूर हटकर रहना।"

"क्यों ?" उसने बड़े आश्चर्य से पूछा।

"उनके आंदोलन के कारण आप जैसी सीधी-सादी और उसमें भाग न लेने वाली औरतें घायल होती हैं।"

"बेटे, तुम जैसे लोग दूर हटकर रह सकते हो। हम नहीं रह सकतीं, दूर हटकर रहने की बात तो छोड़ो, आगे जाकर भाग लेना पड़ता है। दिन-प्रतिदिन इस देश की जो स्थिति होती जा रही है, उसके कारण हम गरीब लोगों का जीना मुश्किल पड़ गया है। चीजों की बढ़ती महंगाई, रोजगार का अभाव, किसी एक काम की तलाश में दूसरों के पैर पकड़ना, जब तक पांच-दस हजार नहीं दिए जाएंगे, तब तक नहीं मानना—ऐसे देश में हम जैसे गरीब लोग कैसे जीवित रह सकेंगे ? भूखा मरना भी मरना, आंदोलन में भाग लेकर मरना भी मरना। बुआ की यह बात दिल कचोटने वाली थी, लगता था कि बीच-बीच में उसकी आवाज अचानक ऊंची हो जाती थी। सीधे-सादे शब्दों में इतनी गंभीर बात कहने वाली बुआ को देखकर मैं आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सका—कितना बड़ा बदलाव, कैसे इतना बदलाव !

बात बदलने के उद्देश्य से मैंने पूछा, "जीवन एक दिन भी यहां आते हुए दिखाई नहीं देता, उसे क्या हुआ ?"

"वह जल में है। उस दिन की घटना मे पकड़े गए लोगों में वह भी है।" उसके मन में कोई दुख नहीं था, दुख की बात तो अलग, उसने गर्वित होकर उत्तर दिया।

"उसने पढ़ाई छोड़ दी ?"

"हां, छोड़ दी। पढ़ने से क्या फायदा ? खाने-पीने तक का ध्यान छोड़कर मुश्किल से बी० ए० तो पास कर लिया, एक छोटी-सी नौकरी के लिए तीन-चार साल तक भाग-दौड़ करके, बहुत प्रयास किया। किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। मंत्री को कुछ चढ़ाए बिना कोई काम नहीं होता। हुं···पांच-छः हजार रुपये, मैं कहां से लाऊंगी, बोलो, कहां से लाऊं ? सिर हिलाकर आंखें और हाथ नचाकर वह ऐसे बोलने लगी कि जैसे सीधे-सीधे मुझसे पूछ रही हो, "समझ गए हो न, यह सरकार अमीरों के लिए है—अमीरों की संपत्ति की रक्षा करने के लिए, अमीरों का मुनाफा बढ़ाने के लिए···। किंतु अब ज्यादा देर नहीं होगी, अमीरों की इस सरकार के खिलाफ, एक दिन जरूर, बर्दाश्त न कर सकने वाले सारे गरीब एक होकर उठ खड़े होंगे, वह दिन दूर नहीं···।"

मैं अपनी आंखों में प्रत्यक्ष देखने लगा—अपने आंगन के सामने वाले किनारे पर ग्रीष्म की कड़ी धूप में कठोर धरती को तोड़कर उगने वाले लैंपाक्लै पुष्प को। कोई भी उसे पैर से दबाकर नहीं रख सकेगा, कल या परसों आंगन में अनेकों लैंपाक्लै पुष्प खिलखिला उठेंगे।

"डॉक्टर, आपका फोन।" नर्स के बुलाने पर मैं प्रकृतिस्थ हुआ।

स्वप्न-से जागकर फोन उठाया।

सुपरिटेंडेंट था। मुझे अपने पास बुला रहा था।

मैं सुपरिटेंडेंट के कमरे में जल्दी से चला गया। उसके कमरे में एक ऑफिसर भी बैठा हुआ था। मेरे बैठते ही सुपरिटेंडेंट कहने लगा, "आपके वार्ड में लैंपाक्लै नाम की जो पैशेंट है, अब उसका रिलीज संभव हो

जाएगा न ?"

"रिलीज तो किया जा सकता है, लेकिन उसकी तबीयत कुछ और ज्यादा सुधर जाए, इसलिए एक-दो दिन और रखा जाए तो अच्छा होगा, मैं ऐसा मानता हूं।" मेरा सीधा-सादा उत्तर था।

"उसे रिलीज किया जाए। उस पर वारंट भी है। थाने से आप भी आए हुए हैं।" सुपरिंटेंडेंट, पुलिस ऑफिसर की तरफ मुड़ा। पुलिस ऑफिसर अपना सिर हिलाकर मेरी तरफ मुड़ा।

"सोचता हूं कि संभव हो तो एक-दो दिन और यहां रखा जाए तो अच्छा होगा।" मैंने अपनी असहमति धीरे से प्रकट की।

"उस पर कई इलजाम हैं—क्रिमिनल ट्रेशपास, लूट, आर्सन, कॉन्स-पिरेसी···।" पुलिस ऑफिसर सारे इलजामों को ऐसे गिनाने लगा, जैसे वह किसी को कविता सुना रहा हो।

मुझे हंसी आ गई। लैंपाक्लै बुआ के ऊपर इतने सारे इलजाम—दूसरे के घर जबरदस्ती घुसना, लूट, आग लगाना, सरकार के खिलाफ विद्रोह···। कितने हंसी भरे और गंभीर मजाकिया !

"राज्य के लॉ एंड ऑर्डर से जुड़ी हुई बात है," सुपरिंटेंडेंट ऐसे बोलने लगा कि राज्य का शासन उसी के हाथ में हो। "उस घटना में घायल, दूसरे वार्ड के दो और पेशेंट भी आज, मेरा मतलब अभी ले जा रहे हैं।"

समझ गया, पहले ही निर्णय हो चुका था, अब मैं कुछ भी नहीं कर सकूंगा। मैं जान गया कि रिलीज करने से, मेरे लाख मना करने पर भी अपनी पदोन्नति के लिए सदा मंत्री के पैर पकड़कर चमचागिरी करने वाला सुपरिंटेंडेंट अपनी शक्ति का प्रयोग जरूर करेगा।

अच्छे-बुरे सोचने वाले अपने विचारों के विरुद्ध मैंने रिलीज के कागज पर अपने हस्ताक्षर कर दिए।

बुआ के पास जाकर बिना किसी भूमिका के मैंने कहा, "बुआ, अभी आप जा रही हैं।"

सारी बात उसे बता दी जाए, मैं ऐसा सोच ही रहा था, तभी वह कहने लगी, "बहुत जल्दी।" मुस्कराते हुए फिर आगे बोली, "ठीक है, आज से जेल में आराम करूंगी।"

मैं आश्चर्यचकित हो गया, पूछा, "बुआ, कैसे सुना ?"

"कल ही सुन चुकी हूं।" उसके चेहरे पर दुःख की कोई छाया नहीं पड़ी। उसके मुस्कराहट भरे चेहरे पर अत्यधिक चमक छा गई।

अस्पताल की आवश्यक औपचारिकता पूरी होने के बाद तुरंत लैंपाक्लै बुआ वार्ड के अन्य रोगियों से विदा लेकर अपनी बेटी के सहारे धीरे-धीरे निकलने लगी। मेरी तरफ गौर से देखने लगी, फिर मुस्कराते हुए बोली, "जा रही हूं बेटा !"

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु पता नहीं किस ख्याल से, थोड़ी देर बाद अचानक उठकर मैं थोड़ी दूरी पर लैंपाक्लै बुआ के पीछे-पीछे जाने लगा।

अस्पताल के सामने पुलिस की गाड़ी उसके इंतजार में खड़ी थी। अन्य दो, गेट के पास पहुंच चुके थे। बुआ को निकलते देखकर वे दोनों थोड़ी देर रुककर उसका इंतजार करने लगे। बुआ के उनके पास पहुंचते ही—किधर से घुसे थे, पता ही नहीं—दो लड़कों और एक लड़की ने उन तीनों को फूल मालाएं पहना दीं। और यह भी मालूम नहीं कि किसने नारा लगाया, चारों ओर गूंजने लगा, इनक्लाब जिंदाबाद···इनक्लाब··· जिंदाबाद···।

नारा सुनते ही अचानक मेरे सारे शरीर के रोम खड़े होने लगे। वर्षों से सोई हुई मेरी भावना जागने लगी—यह नारा है, जब मैं छात्र था, तब बहुत उत्साह के साथ यही नारा लगता था।

अनुवाद : **इबोहलसिंह काङ्जम**

कोई है जरूर

□ इसाक बासेविश सिंगर

यूं, बेशेव के रब्बी निशेमिया शैतान की हरकतों को भांपना और उसे दबाना जानते लेकिन पिछले कुछ महीनों किसी नयी और भयानक आफत के चक्कर में जा फंसे : सृष्टा के विरुद्ध कोप। रब्बी का आधा दिमाग ब्रह्मांड के सृष्टा से लड़ पड़ा, कुपित हो चिल्ला पड़े : ठीक है, महान हो, शाश्वत, सर्वशक्तिमान, बुद्धिमान, दयावान भी। पर किसके साथ आंख-मिचौली खेलते हो—मक्खियों के साथ ? मक्खी के लिए तुम्हारी महानता किस काम की। जाल में गिरी और मकड़ी ने सारा खून चूस लिया ? बिल्ली के पंजों में फंसे चूहे को तुम्हारे सारे गुणों से क्या फायदा ? स्वर्ग में आसन ? पशुओं के लिए बेकार। हे, स्वर्ग के स्वामी, तुम्हारे पास दिन आने तक प्रतीक्षा करने का वक्त है, लेकिन वे इंतजार नहीं कर सकते। तुम पनहारे फैतल की झोंपड़ी में आग लगाओ और उसे सर्दी की ठंडी रात परिवार समेत अनाथालय में सोना पड़े, यह सरासर अन्याय है। अंधेरा-उजाला, महाशून्य, मोक्ष भले ही तुम्हारी व्याख्या कर दें, लेकिन पनहारे फैतल को दिन-भर की मेहनत के बाद चैन की नींद के बदले क्यों सड़ी घास पर करवट बदलना पड़े ?

रब्बी जान गये शैतान सिर सवार है। इस तरह थामना चाहा। बर्फीले पानी में नंगे पैर खड़े रहे, उपवास रखा, आंखें फाड़ सुबह से शाम तोराह बांचते रहे। लेकिन शैतान ने उतरने का नाम नहीं लिया। उनकी गुस्ताखी बढ़ती गयी। रात-दिन चीखते रहे। हाल, संत के सुहावने स्वप्नों को कलुपित करने लगे। रब्बी सपना देखते यहूदी जिंदा जलाये जा रहे हैं, बेशिवा-छात्र फांसी चढ़ाये जा रहे हैं, कुमारियों का शीलभंग और शिशुओं पर जुल्म हो रहे हैं। उन्हें श्मिएलनित्ज़की और गोंटा के सैनिकों का अत्याचार दिखाई पड़ा, जिंदा जानवरों की बोटियां खींच-खींच खाते, बर्बर भी और भालों से भेद जख्मी किये बच्चों को जिंदा दफनाते कोजाक। लंबी मूछें और खूनी आंखों वाले किसी राक्षस ने एक स्त्री का पेट फाड़ उसमें बिल्ली को सी दिया। स्वप्न में रब्बी आकाश की ओर मुट्ठी तान चीखे, "ये कैसी महिमा तेरी, पवित्र हत्यारे ?"

बेशेव का सारा दरबार बिखर गया था। रब्बी निशेमिया के वृद्ध पिता रब्बी रेब एलिएजरत्ज्वी तीन साल पहले मर गए थे। पेट का कैंसर था। मां को वही बीमारी छाती में हुई। निशेमिया के अतिरिक्त, एक लड़का था और एक लड़की। छोटा भाई सिमशा डेविड पिता के रहते 'एनलाइटन' हो दरबार को और पत्नी (रब्बी जिलकोव्का की पुत्री) को त्याग चित्रकारी सीखने वारसा चला गया। रब्बी की बहिन, हिंडे शेवास ने न्युस्टेट के रब्बी के लड़के से विवाह किया जो एकाएक मेलेन्कोलिया से ग्रस्त हो मां-बाप के घर लौट गया। हिंडे शेवास परित्यक्त जीवन बिताने लगी क्योंकि पति चैम मात्तो को पागल मान तलाक की पेशी पर जाने की अनुमति नहीं दी गयी। रब्बी निशेमिया की ही पत्नी, कोत्ज्क के रब्बी की वंशज, प्रसव के वक्त शिशु के साथ मर गयी। सलाहकारों ने फिर से जोड़ी बिठाने के कई सुझाव रखे पर सभी को बोला, "सोच कर बताऊंगा ?"

दरअसल, किसी भी उपयुक्त स्त्री का सुझाव नहीं आया। बेशेव के अधिकांश हासिदों ने रेब निशेमिया का साथ छोड़ दिया। रब्बी-दरबारों में समुंदर की मछलियों का कानून चलता : बड़ी छोटी को निगल जातीं। धनी सबसे पहले भाग गए। बेशेव में क्या बचा था उनके लिए ? उपासना-घर खंडित पड़ा था। पवित्र स्नानागार की छत टूट गयी थी। हर कहीं जंगली

घास उग आयी थी। रेब निशेमिया के पास केवल एक कर्मचारी बचा था—रेव सेंडर। रब्बी के मकान में कई कमरे थे, सफाई नहीं हो पाती, हर जगह धूल की परत जम गयी। दीवारों का रंग उखड़ गया। खिड़कियों के पल्ले टूटे तो टूटे ही पड़े रहे, बदले नहीं गए। सारी इमारत धंसने-सी लगी थी, फर्श जगह-जगह ऊबड़-खाबड़ हो गया। घर की नौकरानी बेला एल्के, गठिया से पीड़ित थी, उसके सारे जोड़ दुखते। रेब निशेमिया की बहिन हिंडे शेवास का चूल्हे-चौके में मन नहीं लगता। सारा दिन सोफे पर लेटी किताबें पढ़ती रहती। रब्बी के कोट का बटन टूटता, उसे टांगने वाला कोई नहीं।

रब्बी केवल सत्ताइस साल के थे, लेकिन ज्यादा के लगते। लंबी काया की पीठ झुक गयी। दाढ़ी पीली, भौंहें पीली, चुटैयां पीली। प्रायः गंजे। चौड़ा मस्तक, नीली आंखें, तीखी नाक, लंबी गर्दन, टेंटुआ उभरा हुआ। उनका पीलापन क्षयग्रस्त होना बताता। अपने उपासना-घर में धूसर हाऊस-कोट, सल-पड़ी टोपी और घिसी-पिटी चप्पलें पहने रेब निशेमिया चक्कर काटते रहते। मेज पर लंबा पाइप और तंबाकू भरा पूड़ा पड़ा होता। जलाते, कश खींचते, फिर रख देते। कोई पुस्तक उठाते, खोलते, बंद करते और बिन पढ़े रख देते। खाना ही इत्मीनान से नहीं खाते। ब्रेड का एकाध टुकड़ा मुंह में डाल चक्कर काटते चबाते जाते। कॉफी की एक चुस्की लेते, फिर चलने लगते। गर्मी के दिन थे, फसल के यहूदी उत्सव पेंटेकास्ट और डेज ऑफ ऑं के बीच के दिन, कि जब कोई हासिद तीर्थयात्रा पर नहीं जाता, गर्मी के इन्हीं लंबे दिनों रब्बी को मन-ही-मन सोचते रहने का खूब समय मिलता। सारी समस्याएं एक सवाल में सिमट गयीं—दुःख क्यों? सवाल का कहीं कोई उत्तर नहीं, ओल्ड टेस्टामेंट की पहली पांच पुस्तक पेंटाट्यूख में न पैगंबरों की पुस्तकों में, 'तालमुद' में न 'जोहार' में 'ट्री ऑफ लाइफ' में भी नहीं। यदि 'मालिक' सर्वशक्तिमान हो, प्रगट होना चाहे स्वयं हो सकता है, दुरात्मा को आगे क्यों भेजेगा। यदि 'वह' सर्वशक्तिमान नहीं है, तो फिर वह ईश्वर ही नहीं। पहेली का हल सिर्फ 'हेरेटिक्स' के स्वच्छंद खयालातों में है—मुंसिब न फैसला। सारी सृष्टि अज्ञात दुर्घटना है—कागज पर दवात ढुल गयी, स्याही ने खुद-ब-खुद कोई लफ्ज लिख दिया, हर शब्द झूठा, वाक्य अस्त-व्यस्त। ऐसा हो तो वे, रब्बी निशेमिया, खुद ही क्यों बेवकूफ बन रहे हैं? कैसे रब्बी हैं वे? किसकी प्रार्थना करते हैं? किसे शिकायत करते हैं? कैसे हो सकता है, दवात लुढ़क जाये और स्याही अपने-आप कोई पंक्ति लिख दे? और फिर कहां से आए स्याही और कागज? ईश्वर ही कहां से आया?

रब्बी निशेमिया खुली खिड़की के पास खड़े हुए। बाहर सुनहरे सूरज के आसपास हलका नीला आकाश था, छोटे-छोटे घुंघराले बादल फैले थे जैसे इथरॉग की सुरक्षा करते फ्लैक्स हों। सूखे पेड़ पर कोई पक्षी बैठा था। अबाबील? गौरैय्या? उसकी मां भी पक्षी ही थी, दादी-मां भी, परदादी भी···पीढ़ी-दर-पीढ़ी, हजारों-हजार साल से। अगर एरिस्टाटल सही है कि ब्रह्मांड हमेशा से है तब तो पीढ़ियों का कोई उद्गम नहीं। लेकिन ऐसा कैसे?

रब्बी का चेहरा दुख से खिच गया। मुट्ठी तानी, "अपना मुंह छिपा रहे हो?" ईश्वर से बोले, "ठीक, हम दोनों अपना मुंह छिपा लेते हैं। बहोत हो गया।" इतनी देर जो मनन किया, उसे एक्शन में बदलने का निर्णय लिया।

जुमे की उस रात रब्बी जरा-सा सोये। बीच में नींद खुलती रही। आंखे लगतीं कि दुःस्वप्न घेर लेते। बहता खून दिखता, नालियों में बिखरी लाशें, अधजले बालों और झुलसे स्तनों लिए लपटों के बीच दौड़ती स्त्रियां। घंटियां टनटनाती। पशुओं की भगदड़ के बीच भेढ़ के सींग, सुअरों की थूथ-नियां, चूहों की खाल, और बिल्लियों के थन जलते वन की लपटों में उभरते। धरती से भयानक चीख उठी—पुरुषों, स्त्रियों, सांपों, पिशाचों की कराह-सी। स्वप्न की गड्ड-मड्ड में रब्बी को लगा दोनों त्यौहार, सिम-शास तोराह भी, प्युरिम भी, एक-ही दिन?—केलेंडर बदल गया?—रब्बी चकराये या फिर शैतान की हुकूमत आ गयी? भोर होते फटे-पुराने वस्त्र पहने, आड़ी-टेढ़ी दाढ़ी उगाये किसी वृद्ध आदमी ने बड़बड़ाते हुए उनको झकझोरा। जात-बाहर करने के इरादे से रब्बी ने भेढ़ के सींग फूंक मार उड़ाना चाहा लेकिन फुफकार की बजाय सिसकार निकली, शायद दबे फेफड़ों से।

रब्बी थर्राये और उनका पलंग डगमगाया। तकिया ऐंठा हुआ जैसे बाल्टी से निकाल पानी सुखाने मरोड़ा हो। "घिनावना", रब्बी आधी चिप-चिपी आंखें खोल बड़बड़ाये। "मस्तिष्क की उफान का फेन।" जहां तक उन्हें याद, पहली बार ऐसा हुआ रब्बी ने स्नान-पूजा नहीं की। "शैतान की हरकत? देखें क्या करता है। पवित्रात्मा तो मौन ही रह सकती है।" खिड़की के पास गए। उगता सूरज बादलों के बीच दुखते सिर-सा डोल रहा था। आवारा बकरा कूड़े के ढेर पर, पिछले साल गिरे खजूर के पत्ते चबाने का यत्न कर रहा था। "तुम अभी जिंदा हो?" रब्बी बोले। ध्यान में वह भेढ़ा आया जिसके सींग झाड़ी में फंसे थे और अब्राहम् ने इसाक के बदले जिसे कुर्बान कर दिया था। रब्बी को आहुति का सदैव ख्याल रहता; उन्हें ईश्वर की याद आयी। अपने सृजित प्राणियों का खून उसे स्वादिष्ट लगता है।

"दूंगा, मैं आहुति दूंगा", रब्बी जोर से बोल पड़े।

बेशेव में प्रार्थना देर से होती। गर्मी के मौसम में, सैवाथ के दिनों, मुश्किल से, यहां तक कि दरबार से राहत पाते वृद्ध लोगों को मिलाकर भी, कोरम जैसे-तैसे पूरा हो पाता। पिछली रात रब्बी ने तय किया था झब्बे-दार वस्त्र नहीं पहनेंगे। लेकिन यूं ही आदतन पहन लिए। नंगे सिर जाना चाहा लेकिन अनमने टोपी पहन ली। एक पारी में एक ही पाप काफी, उन्होंने सोचा। कुर्सी पर बैठे सुस्ताये। पल भर बाद सधे और उठ गए। कल तक परमात्मा ने रब्बी को फटकारना चाहा था और जहन्नुम भेजने की नहीं तो देह को नीच योनि में बदल देने की धमकी दी थी। लेकिन अब होरेब पर्वत से आती आवाज दब गयी थी। सारा डर भाग गया। सिर्फ क्रोध बचा। "यदि उसे यहूदियों की जरूरत नहीं, तो फिर यहूदियों को उसकी जरूरत नहीं।" रब्बी सीधे सर्वशक्तिमान ईश्वर से नहीं, किसी दूसरे देव से बोल रहे थे जिसका उल्लेख बैयासिवें स्तोत्र में है: "ईश्वर

शक्तिमानों की सभा के बीच खड़ा है। वह देवों का देव है।" अब रब्बी हर किसी की अफवाहों में यकीन करने लगे—उनकी भी जो उसे समूचा नकारते और उनकी भी जो दो प्रभुसत्ताओं को मानते : मूर्तिपूजकों को भी जो सितारों और नक्षत्रों को पूजते और उन्हें भी जो त्रिमूर्ति में ही विश्वास रखते, कारोइतों को भी जिन्होंने तालमुद को त्याग दिया और समारियों को भी जिन्होंने गेरिजिम पर्वत के खातिर सिनाई पर्वत त्यागा। बिलकुल ठीक, मैंने मालिक को पहचान लिया, मैं उसका विरोध करता हूं, रब्बी बोले। कई संदेह एकाएक मिट गये : आद्य सर्प, आदम के ज्येष्ठ पुत्र कैन, ओल्ड टेस्टामेंट की पहली पुस्तक जिनेसिस में वर्णित सैलाब, सोडोमवासी, इश्माइल, एसाउ, कोराच और नेबात के पुत्र जेरोबोम सभी का रहस्य खुल गया। मौन अत्याचारी से कोई बात नहीं होती, और उत्पीड़क की पूजा नहीं होती।

रब्बी को उम्मीद हुई अंतिम क्षण कोई चमत्कार होगा—ईश्वर स्वयं को प्रकट करेगा या कोई शक्ति उसे रोक देगी। लेकिन कुछ नहीं हुआ। उन्होंने दराज खोल पाइप निकाला, सैबाथ के दिन जिसे छूना तक वर्जित है। तंबाखू भरा। दियासलाई जलाने के पहले जरा झिझके। खुद को फटकारा, "निशेमिया, एलिएजरत्ज्वी के बेटे, जरा सोच, सैबाथ के दिन वर्जित उन्चालीस बातों में यह भी एक है। इसके लिए पत्थर की मार खाने की सजा है।" इधर-उधर देखा। चिड़िया नहीं फटकी, कोई आवाज नहीं। दियासलाई से पाइप सुलगाया। खोपड़ी में दिमाग नारियल के भीतर घरघराते खोये की तरह झनझनाया। वे रसातल में गिर रहे थे।

यूं रब्बी तंबाखू स्वाद से पीते लेकिन अब धुआं कड़वा लग रहा था। गला खरखरा गया। कोई आ सकता है! पाइप में चंद बूंदें पानी डाल बुझा दिया—लेकिन यह तो पूजा का जल है—इससे आग बुझाना बिलकुल गलत बात, नियम का घोर उल्लंघन। इच्छा हुई कोई और नियम भंग करें, लेकिन कौन-सा? धार्मिक-पाठ अंकित-चर्मपट मेजुजाह पर थूकना चाहा पर ठिठक गए। क्षण-भर मन के भीतर घुमड़ती खलबली को सुनने लगे। फिर गलियारे से घूम हिंडे शेवास के कमरे तक पहुंचे। हैंडल दबा दरवाजा धकाया।

"कौन?" हिंडे शेवास की आवाज आयी।

"मैं।"

उसकी सरासराहट-बड़बड़ाहट रब्बी के कान में पड़ी। फिर उसने दरवाजा खोला। शायद अभी जागी। कशीदा किया हाऊसकोट पहने थी, पैरों में स्लिपर्स और मुंड़ाये सिर पर रेशमी रूमाल बंधा हुआ। निशेमिया लंबे, वे ठिंगनी थीं। थी सिर्फ पच्चीस की मगर उम्रयाफ्ता लगने लगी, आंखों तले काले साये और परित्यक्ता की विषाद भरी भाव-भंगिमा। रब्बी उसके कमरे शायद ही कभी आये, सुबह-सुबह या सैबाथ के दिन तो कभी नहीं।

पूछ उठी, "क्या हो गया?"

रब्बी की आंखों में हंसी भर गयी। "मसीहा आ गया। चांद टपक गया।"

"कैसी बातें कर रहे हो?"

"हिंडे शेवास, सब कुछ खत्म हो गया है," रब्बी बोले, अपने ही कहे पर विस्मित।

"क्या मतलब?"

"मैं अब रब्बी नहीं रहा। तुम चाहो पदभार ले लो और ल्युदमीर की द्वितीय वर्जिन बन जाओ नहीं तो समझो दरबार खत्म।"

हिंडे शेवास ने कुटिल दृष्टि से उन्हें नापा-तोला। "हो क्या गया?"

"मेरा काम पूरा हो गया।"

"दरबार का क्या होगा, मैं कहां जाऊंगी?"

"सब बेच दो, अपने दुर्भाग्य को तलाक दे दो, या अमरीका चली जाओ।"

हिंडे शेवास स्तब्ध खड़ी रही। "बैठो तो, मुझे डराओ नहीं।"

"इन झूठी बातों से तंग आ गया," रब्बी बोले, "सब बकवास। मैं रब्बी नहीं और कहीं कोई हासिद नहीं। मैं वारसा जा रहा हूं।"

"वारसा में क्या करोगे। सिमशा डेविड की राह चलोगे?"

"हां, उसी की राह।"

हिंडे शेवास के पीले होंठ कांप गए। कुर्सी पर पड़े कपड़ों में रूमाल ढूंढ़ने लगी। मुंह पर रखा। "मेरा क्या होगा?" उसने पूछा।

"जवान हो। लंगड़ी नहीं हो", रब्बी बोले, "अपने ही शब्दों से चकित। पूरी दुनिया तुम्हारे आगे खुली पड़ी है।"

"खुली? चैम मात्तो को तलाक की इजाजत कहां है?"

रब्बी ने चाहा कह दें, "बिना तलाक काम चला लो," लेकिन डर गए हिंडे शेवाह बेहोश न हो जाये। उनके हृदय में अवज्ञा और साहस की तरंग का और सारे बंधनों से मुक्त आदमी की राहत का एहसास हुआ। पहली बार लगा नास्तिक होने का अर्थ क्या है। बोले, "हासिदिक संस्था सरासर भिक्षावृत्ति है। किसी को हमारी जरूरत नहीं। सारा कारोबार फरेब और धोखेबाजी है।"

सब कुछ आसानी से हो गया। हिंडे शेवास ने खुद को कमरे में बंद कर लिया, और रोती रही। चौकीदार सेंडर सैबाथ की घोषणा-हवदालाह के बाद नशे में धुत हो सो गया। बूढ़ा आदमी उपासना-घर में चला गया। कोई अंतिम प्रार्थना सुना रहा था, दूसरा कोई बिगिनिंग ऑफ विजडम बांच रहा था। तीसरा तार के टुकड़े से पाइप साफ कर रहा था, चौथा किसी पवित्र ग्रंथ को पैबंद लगा जोड़ रहा था। कुछेक मोमबत्तियां फड़फड़ा रही थीं। रब्बी ने उपासना-घर की ओर आखिरी नजर उठायी। 'खंडहर', वे बड़बड़ाये। थैला स्वयं पैक किया। पत्नी के देहांत के बाद से नौकरानी अलमारी में कपड़े धो रख देती वे स्वयं निकालते। उन्होंने कई शर्ट, कुछ अंडरवीयर और लंबी सफेद जुर्राबें निकालीं। प्रार्थना के वक्त पहनने की शॉल और तावीज छोड़ दिए। क्यों?

रब्बी गुपचुप गांव से खिसक गए। चांद नहीं था, ज्यादा ही आसानी हो गयी। सीधा रास्ता छोड़ पगडंडियों पर चले जिनसे बचपन से वाकिफ थे। वेलवेट हैट नहीं पहना, कुंवारे थे तब की कैप और चोगा मिल गया।

दरअसल, रब्बी अब वही आदमी न रहे। लगा जैसे अपने ही ढंग से सोचते, बड़बड़ाते किसी दानव के वश में हों। अब वे खेतों और जंगल के बीच से गुजर रहे थे। हालांकि शनीचरी रात थी कि जब शैतान निरंकुश भटकते, लेकिन रब्बी साहसी और मजबूत लगे। कुत्तों और डाकुओं का जरा भय नहीं रहा। स्टेशन पहुंचे पता चला सुबह के पहले कोई ट्रेन नहीं है। बैंच पर बैठ गए जहां सोया किसान खर्राटे भर रहा था। उन्होंने संध्या-गीत गाया न शेमा। दाढ़ी भी मुड़ा लेंगे, तय किया। मालूम था पलायन छिपा नहीं रहेगा, हासिद समुदाय तलाश कर खोज निकालेगा। अंततः सोचा पोलेंड छोड़ देंगे।

नींद लग गयी, घंटी की आवाज से आंख खुली। ट्रेन आ गयी थी। शुरू ही में चौथे दर्जे का टिकट ले लिया था क्योंकि उन डिब्बों में रोशनी नहीं रहती, यात्री अंधेरे में नीचे बैठे या खड़े-खड़े ही यात्रा करते हैं। अंदेशा था बेशेववासी टकरा जायेंगे लेकिन कार गैर यहूदियों से भरी थी। किसी ने दियासलाई जलायी, चौकोनी हैट, भूरा अंगरखा, लीनन पैजामा पहने किसान दिखायी दिए, ज्यादातर नंगे-पैर या पांवों में चिथड़े-बांधे। कार में खिड़की नहीं थी सिर्फ एक गोल छेद था। जब सूरज ऊपर उठा, रद्दी तंबाखू पीते, चर्बी लगी बासी रोटी खाते, और गले को वोदका से गीला करते। मैले-कुचैले लोगों पर पीली रोशनी पड़ी। उनकी पत्नियां रस्सी बंधे सामानों पर सिर टिकाये ऊंघ रही थीं।

रब्बी ने रूस के सामूहिक हत्याकांडों के बारे में सुन रखा था। इन जैसे उजड्ड लोगों ने अनेक स्त्री-पुरुषों को लूटा-पीटा-मार डाला और बच्चों को सताया। रब्बी किनारे दुबक गए। बदबू से बचने के लिए नाक पर कपड़ा रखा, "हे भगवान, यही तुम्हारी दुनिया है?" उन्होंने पूछा, "क्या तुमने सीर पर्वत और परान पर्वत पर इन्हें तोराह की हिदायतें दीं? इन्हीं लोगों के बीच तुमने चुनिंदा प्रियजनों-योजन लोगों को तितर-बितर कर बिखेर दिया?" पटरियों पर पहिये घरघराये। इंजिन का धुआं गोल छेद से भीतर रिस आया। उसमें कोयले की, तेल की और किसी अज्ञात पदार्थ के जलने की दुर्गंध आयी।

"क्या मैं इन्हीं-सा हो सकता हूं?" रब्बी ने खुद से पूछा। "ईश्वर नहीं तो ईसा भी नहीं।"

रब्बी को बड़ी जोर से पेशाब लगी लेकिन वहां कोई सुविधा नहीं थी। लगा ये सवारियां पिस्सू और जूं-ग्रस्त हैं। शर्ट के नीचे खुजली चली। बेशेव त्यागने का अफसोस होने लगा। "नास्तिक की तरह जीने से वहां कौन रोक रहा था?" खुद से पूछा। "कम-से-कम मेरा अपना बिस्तर तो था। वारसा में क्या करूंगा? बड़ी उतावली कर गया। विधर्मी तक को खाना और सिरहाने तकिया चाहिए। जरा से रूबल कितने दिन चलेंगे?" किसी ने रब्बी को बताया सिमशा डेविड खुद ही दरिद्र और फटेहाल है, जिद्दी और अव्यावहारिक भी। "हुंह, कहीं कोई उम्मीद नहीं। वारसा में धूर्तों की भी कमी नहीं।"

रब्बी के पैर दुखने लगे, वे फर्श पर झुके। टोपी का सिरा माथे के आगे खिसका लिया। बीच के स्टेशनों पर यहूदी चढ़े, कोई पहचान सकता है? एकाएक परिचित शब्द सुनाई दिए "ओ ईश्वर, तूने मुझे जो आत्मा दी वह पवित्र है, तूने उसे रचा, रूप दिया, मुझमें भरा, तू ही उसे मुझमें सुरक्षित रखता है, तू ही उसे वापस लेगा लेकिन परलोक में मुझमें ही पुनर्स्थापित करेगा...।"..."एकदम झूठ, निर्लज्ज झूठ", उनके भीतर से चीत्कार उठी। "सबमें एक-सी आत्मा है—आदमी हो या जानवर। एक्लेसिआस्तेस ने खुद स्वीकार किया, इसीलिए संतों ने उस पर कड़ा नियंत्रण रखा। लेकिन आखिर आत्मा ही क्या है? किसने बनायी? सांसारिक पुस्तकें इस बाबत क्या कहती हैं?"

आंख लग गयी, स्वप्न में योम किप्पर दिखे। सायनागॉग के आंगन में श्वेत परिधान पहन प्रार्थना की शॉल ओढ़े यहूदियों के एक झुंड के मध्य खड़े हुए। सायनागॉग पर ताला पड़ा था, क्यों? रब्बी ने गर्दन उठा आकाश को निहारा और एक की बनिस्बत दो, तीन, पांच चांद दिखे। ये क्या है? चांद एक-दूसरे का पीछा करते दौड़ रहे थे। वे बड़े होते गए और चमकीले। बिजली चमकी, गर्जन हुई, और आकाश धधकती लपटों से चमक उठा। यहूदियों के मुंह से चीखता विलाप फूटा: "हाय! हाय! शैतान का राज आ गया!"

रब्बी कंपकंपाये, नींद खुल गयी। वारसा आ गया। वारसा वर्षों पूर्व एक ही बार आए थे जब देहावसान के कुछ महीने पहले पिता, ईश्वर इन्हें सदा सुखी रखे, बीमार पड़े और डॉ० फ्रेंकेल के पास जाना पड़ा। पिता-पुत्र ने स्पेशल डिब्बे में यात्रा की थी। उपासना-घर के अधिकारी और दरबार के सदस्य साथ आए थे। हासिद-समुदाय की एक खासी भीड़ स्टेशन तक छोड़ने आयी। स्वार्दा स्ट्रीट पर किसी धनाढ्य अनुयायी के घर पिता को ले जाया गया। बैठक में पिता ने 'तोराह' का पाठ किया था।...थैला उठा निशेमिया प्लेटफार्म पर चले। कुछ पैसेंजर दौड़े, कुछ ने उनका लॅगेज खींचा। कुली चिल्लाये। हथियारबंद सैनिक दिखा, कमर में तलवार बगल में रिवाल्वर, सीने पर अनेक तमगे; चौकोर, भरा हुआ लाल चेहरा। चर्बी भरी आंखों ने रब्बी को संशय, नफरत और कुछ ऐसी क्रूरता से टटोला उन्हें नरभक्षी जानवर का ख्याल आया।

रब्बी नगर में दाखिल हुए। ठेलागाड़ियों की झनझनाती घंटियां बज रही थीं, ड्रॉस्कियां दौड़ती चली आ रही थीं, कोचमेन चाबुक फटकारते, घोड़े पथरीले रास्ते पर सरपट दौड़ते। डामर, गोबर और धुएं की गंदी गंध उड़ रही थी। "ये वो संसार है?" रब्बी ने खुद से पूछा, "जहां मसीहा आएगा।" जेब से सिमशा डेविड का पता लिखा कागज निकालना चाहा, लगा खो गया। "शैतान ने खेल शुरू कर दिया?" फिर से टटोला, कागज हाथ आ गया। अच्छा, तो शैतान उनकी मखौल उड़ा रहा था। मगर ईश्वर नहीं, तो शैतान कैसे हो सकता है? राहगीर से सिमशा डेविड के घर का रास्ता पूछा।

बताते बोला, "इतना दूर!"

जब-जब रब्बी ने सिमशा डेविड के घर की स्मोत्चा स्ट्रीट का पता पूछा, उन्हें ठेलागाड़ी या ड्रॉस्की किराये पर लेने की सलाह मिली लेकिन ट्राली विकट लगी और ड्रॉस्की महंगी। और फिर, ड्राइवर भी गैर-यहूदी हो सकता है। रब्बी को पोलिश नहीं आती। हर पांच मिनट बाद सुस्ताते। नाश्ता तक नहीं किया था, फिर भी भूख लगी न लगी बराबर मुंह में पानी

आया, गला सूखा। पिछवाड़ों से ताजे बनते क्रीमरोल, ब्रेडरोल, उबले दूध और तली-मछलियों की महक आयी। चमड़ा, हार्डवेयर, सूखा-सामान और रेडीमेड कपड़ों की दुकानों के बीच से गुजरे। दुकानदार ग्राहकों के लिए होड़ करते, कंधे पकड़ खींचते, आंखें मटकाते और अपनी यिद्दिश में पोलिश शब्दों का रोब भरते। सेल्सवुमन गगाती चिल्लाती, "सेब, नाशपाती, आलूबुखारा, आलू चिप्स, उबले मटर और सेम।" जलाऊ लकड़ी से भरी वैगन सकरे दरवाजे के बीच से गुजरने की कोशिश कर रही थी। आटा-भरे थैलों से लदी एक गाड़ी दूसरे दरवाजे से फंस-फंसाकर निकल गयी। कोई पगला नंगे-पैर, बांह-कटा अंगरखा और फटी-टोपी पहने दौड़ रहा था—पीछे-पीछे ताने कसते पत्थर फेंकते छोकरे दौड़ रहे थे।

"मां ने पकाया बिलौटा," एक छोकरा ऊंची आवाज में गा रहा था, उसकी भूरी चोटियां चौखटी-टोपी के दोनों ओर लटकी हुई थीं।

रब्बी जैसे ही सड़क पार करने लगे बेल्जियम घोड़ों से कसी तेज दौड़ती वैगन के नीचे आते-आते बचे। औरतों ने हाथ मले और धमकाया। कंधे पर भारी थैला उठाए गंदी-सी भूरी दाढ़ी वाले मजदूर ने कहा, "अगले शनिवार भगवान की कृपा मान आरती उतारना पंडित।"

"लो, ये मुझे आरती उतारना सिखाएगा।" रब्बी ने खुद से कहा, "थैले में क्या ले जा रहा है—मन्नत का चढ़ावा?"

अंततः स्मोत्चा स्ट्रीट पहुंचे। किसी ने गेट नंबर बताया। दरवाजे पर कोई लड़की प्याज के पराठे बेच रही थी। आंगन में दाखिल हुए जहां बच्चे हाल ही डामर पुते विशाल कूड़ादान को लुढ़का-लुढ़का खेल रहे थे। एक ओर रंगरेज लाल स्कर्ट को काले रंग के घोल की देगची में डुबा रहा था। एक खुली खिड़की में कोई लड़की बेंत से मार-मार फर फरी गादी सुखा रही थी। जिनसे पूछा उन्हें सिमशा डेविड की कोई जानकारी नहीं थी। आखिर एक स्त्री बोली, "अटारी पर देख लो।"

रब्बी को इतनी सारी सीढ़ियां चढ़ने का अभ्यास नहीं था। बार-बार सांस लेने रुके। सीढ़ियों पर टट्टी-गोबर पड़ा था। अपार्टमेंटों के दरवाजे अधखुले थे। मशीन पर कोई दर्जी कपड़े सी रहा था। एक प्लेट में लाइन से करघों पर बुनाई चल रही थी जहां कपास के तिनके-फंसे बालों वाली लड़कियां धागों में गाठें बांध रही थीं। ऊपर की मंजिलों की दीवालों का प्लास्टर उखड़ गया था, गड्डे पड़ गए थे और दमघोंटू बास आ रही थी। एकाएक सिमशा डेविड दिखाई दिया। वह किसी स्याह गलियारे से प्रगट हुआ, खुले सिर, रंग और क्ले-सना जेकेट पहने। बाल पीले, भौंहें पीली। हाथ में बंडल। रब्बी भाई को पहचान चकित हुए, बिलकुल गैर-यहूदी लगा: 'सिमशा डेविड।' उन्होंने पुकारा।

सिमशा डेविड ने घूरा। "अं, पहचाने से तो लगते हो पर···"

"ठीक से देखो।"

सिमशा डेविड ने कंधे झकझोरे, "कौन?"

"तुम्हारा भाई, निशेमिया।"

सिमशा डेविड की आंखें फटी रह गयीं। पीली-नीली आंखें, उदास, बुझी-बुझी, वक्त की लायी हर विकट घटना को झेलने में अभ्यस्त। मुंह किनारे दो गहरी झुरियां। अब वह बेशेव का प्रतिभा सम्पन्न आदमी नहीं महज घटिया मजदूर था। कुछ क्षण बाद बोला, "अच्छा तुम हो। क्या बात है?"

"मैंने तुम्हारी राह चलना तय किया है।"

"अं, अभी जल्दी में हूं। किसी से मिलना है। इंतजार करते होंगे। वैसे ही देर हो चुकी है। कमरे में चलो, आराम कर लो। बाद में बात करेंगे।"

"ठीक।"

"तेरा चेहरा फिर कभी दिखेगा यकीन न था" सिमशा डेविड ने जिनेसिस से लिया उद्धरण बोला।

"सच, मैं सोचता था सब-कुछ भूल चुका होगा," रब्बी ने कहा, उसकी उदासी की बनिस्बत बाइबल का उद्धरण बेचैन करता लगा।

सिमशा डेविड ने कमरे का दरवाजा खोला, इतना छोटा, रब्बी को किसी पिंजड़े का ध्यान आता। छत आड़ी-तिरछी। दीवार किनारे केन्वस, फ्रेम और कागजों के बंडल अटे पड़े। रंग और तारपीन के तेल की बू। पलंग-बिस्तर कहीं नहीं, सिर्फ एक जीर्ण-शीर्ण सोफा।

सिमशा डेविड ने पूछा, "वारसा में क्या करोगे? वक्त बहुत खराब है।" जवाब सुने बगैर चलते बना।

इतनी जल्दी क्या है, रब्बी चकराये। सोफे पर बैठ चारों ओर देखा। लगभग सभी पेंटिंग स्त्रियों की थीं—नंगी, अधनंगी। छोटी-सी मेज पर ब्रश और रंगपट्टी थी। इसी तरह पेट पालता होगा, रब्बी ने सोचा। अब साफ हो गया उन्होंने गलती की। यहां नहीं आना था। दुख कहीं और उठाया जा सकता है।

रब्बी रुके, एक घंटा, दो, लेकिन सिमशा डेविड के लौटने का कोई संकेत नहीं। भूख सताने लगी। "लगता है आज मेरा उपवास है—एक नास्तिक का उपवास," खुद से बोले। भीतर से किसी आवाज ने छेड़ा, "तुम इसी काबिल हो।"

"मुझे कोई पछतावा नहीं," रब्बी ने कसकर जवाब दिया। वे ईश्वर फरिश्ते से लड़ने को तैयार थे ठीक वैसे ही जैसे एक बार शैतान से झगड़े थे।

रब्बी ने फर्श से कोई पुस्तक उठायी। यिद्दिश में थी। संत की कथा जो संध्या-पूजा करने की बजाय किसी विधवा के लिए लकड़ी बटोरने चला गया। क्या है यह—नैतिकता या मखौल? रब्बी को उम्मीद थी ईश्वर और मसीहा के नकार का साहित्य मिलेगा। एक पैम्फलेट उठाया जिसके पन्ने कटे-फटे थे। उसमें फिलिस्तीन के उपनिवेशिकों के बाबत लिखा था। किशोर यहूदी हल चलाते, बीज बोते, कीचड़ सुखाते, यूकेलिप्टस के पौधे रोपते, अरबी लड़ाकुओं को मार भगाते। उन अगुवा वीरों में से जो मर गया लेखक ने उसे शहीद कहा। रब्बी चकित हुए। जब कोई सृष्टा नहीं, पवित्र धरती, होली लैंड जाने की जरूरत क्या? और फिर, क्या मतलब है शहीद का?

रब्बी थक कर लेट गए। "मुझे ऐसा यहूदीपन नहीं चाहिए," वे बोले। "परिवर्तन कर लूंगा।" लेकिन किसमें परिवर्तन करूंगा? ओर फिर, धर्मांतरण के लिए, नैजरीन में विश्वास करने का बहाना बनाना होगा। लगा

जैसे संसार विश्वास से, यानी फेथ से भरा पड़ा है। किसी एक में नहीं तो दूसरे ईश्वर में विश्वास करना ही होगा। कॉसैक जार के लिए कुर्बान हुए। जिन्होंने जार को गद्दी से हटाया उन्होंने खुद को क्रांति के लिए कुर्बान किया। लेकिन सच्चे विधर्मी, हेरेटिक, कहां हैं जो किसी में भी विश्वास नहीं करते? नहीं, वे एक धर्म का दूसरे के साथ विनिमय करने वारसा नहीं आए।

तीन घंटे प्रतीक्षा की, लेकिन सिमशा डेविड नहीं लौटा। ये हैं मॉडर्न, उन्होंने बात को मन में घोला। उनका वादा कोई वादा नहीं, रिश्तेदारी या दोस्ती का कोई मतलब नहीं। दरअसल, वे सिर्फ अहं को, ईगो को पूजते हैं। इन्हीं विचारों ने उन्हें उद्विग्न कर दिया। अब तो वे भी उन्हीं में से एक हैं? लेकिन दिमाग को सोचने से कैसे काट दिया जाए? कमरे में चीजों को ध्यान से देखा। चोरों को भी क्या मिले यहां? नंगी फोटो? उठे, दरवाजा भिड़ा बाहर निकले, सीढ़ियों से नीचे उतरे: थैला साथ उठा लाये। भौंचक थे, मन उखड़ा-उखड़ा। गली में किसी रेस्तरां की बाजू से गुजरे लेकिन भीतर घुसने में लजा गए। यही मालूम नहीं खाने का ऑर्डर कैसे देते हैं। सभी ग्राहक एक ही मेज पर बैठते हैं? स्त्रियां पुरुषों के संग-संग खाती हैं? लोग उनकी हुलिया देख हंसी उड़ाएंगे। सिमशा डेविड के घर की चाल के दरवाजे पर लौट आए और ठेलेवाले से दो ब्रेडरोल खरीदे। पर खायें कहां? कहावत याद आयी, "वो जो सड़क पर खाए, कुत्ता है।" किनारे खड़े-खड़े खाने लगे।

इतने पाप कर चुके मृत्युदंड मिलता, पर हाथ धोये न नैवेद्य लगाया खा लिया बड़ा क्षोभ हुआ। कौर निगलना भारी पड़ा। दिनचर्या ही तो है, रब्बी ने मन समझा लिया। उल्लंघनकर्ता बनने का अभ्यास भी तो करना होगा। एक रोल खा लिया दूसरा जेब में रख लिया। निरुद्देश्य घूमने लगे। सड़क पर तीन शवयात्राएं नजदीक से गुजर गयीं। पहली अर्थी के पीछे कई लोग थे। दूसरे के पीछे कुछ ड्रॉस्कियां। तीसरी निःसंग। "ओह, इनके लिए कोई फर्क नहीं," रब्बी खुद से बोले। "मृतकों को कुछ नहीं मालूम, स्वर्ग क्या नर्क क्या?" उन्होंने एक्लेसियास्टेस से उद्धरित किया।

दाहिने मुड़े और लंबी, संकरी गली में चले जहां रेडीमेड पोशाकों की और अनाज की दुकानों में गैसबत्तियां जल रही थीं, गो भरी दुपहर का वक्त था। मकानों जितनी ऊंची-ऊंची वेगनों से मजदूर कपड़ों के थान-के-थान, ल्याह्मा ऊन, सफेद और रंगीन वस्त्र नीचे उतार रहे थे। एक मजदूर कंधों पर थैला उठाये पास से गुजरा, पीठ भार से झुकी हुई। सुनहरे बटन लगी वर्दी और बिल्ला लगी टोपी पहने हाई-स्कूली छात्र कंधों पर किताबें भरा थैला लटकाए चले जा रहे थे। रब्बी रुके। ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो बच्चों को क्यों पढ़ाते हो, पत्नियां क्यों रखते हो? तर्क के अनुसार, नास्तिक को अपने शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी की परवाह नहीं करना चाहिए।

चलते गए। अगले ब्लॉक में पुस्तकों की दुकान पर हिब्रू और यिद्दिश टाइटल नजर आए: 'मानव-जाति का पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रजनन और उसकी व्याख्या', 'पेरिस के रहस्य', 'नाटा सैनिक', 'हस्तमैथुन,' उपभोग की रोकथाम। एक पुस्तक थी: ब्रह्मांड कैसे अस्तित्व में आया। खरीद लूं, रब्बी ने सोचा। भीतर थोड़े-से ग्राहक थे। रिबन-बंधी सुनहरी फ्रेम की ऐनक लगाया बुकसेलर कंधों पर चोंगा लठकाए चौड़ी-किनार का हैट पहने लंबे बालों वाले किसी आदमी से बात कर रहा था। रब्बी शेल्फ के पास आए और पुस्तकों के पन्ने उलटने लगे।

सेल्सगर्ल ने पूछा, "आपको क्या चाहिए—प्रार्थना की किताब, आशीर्वचन?"

रब्बी झेंपे। "विंडो में एक पुस्तक है, नाम भूल गया।"

"आइये, दिखा दीजिए," सुनहरी फ्रेम की ऐनक पहने बुकसेलर की ओर आंखें मिचकाते सेल्सगर्ल बोली। मुस्करायी, गालों में गड्डे पड़ गए।

रब्बी के बदन में बाहर खिसक जाने की लहर सरसरायी। उन्होंने पुस्तक की ओर इशारा किया।

"हस्तमैथुन?" लड़की ने टाइटल पढ़ा।

"नहीं।"

"विशना द्रोशा की अमरीका यात्रा?"

"नहीं, वह जो बीच में है।"

"ब्रह्मांड कैसे अस्तित्व में आया? आइए, भीतर चलें।" लड़की अब काउंटर के पीछे खड़े दुकान-मालिक के कान में फुसफुसायी। उसने सिर खुजाया, "वह तो आखिरी प्रति है।"

"विंडो से निकालूं?" लड़की ने पूछा।

"उसी खास किताब की क्या जरूरत है?" दुकान मालिक ने पूछा। "पुरानी पड़ चुकी है। जैसा लेखक ने दर्शाया ब्रह्मांड उस तरह अस्तित्व में नहीं आया। वहां जाकर किसी ने नहीं देखा।"

लड़की खिलखिलाकर हंस पड़ी। चोंगा ओढ़े आदमी ने पूछा, "देहात के हो?"

"हां।"

"वारसा कैसे आए? अपने स्टोअर के लिए सौदा खरीदने?"

"हां, सौदा खरीदने।"

"कैसा सौदा?"

रब्बी ने चाहा जवाब दें उसे क्या मतलब लेकिन गुस्ताखी स्वभाव में न थी। बोले, "जानना चाहता हूं नास्तिकों की, यानी हेरेटिक्स की रात क्या है?"

लड़की फिर हंस पड़ी। दुकानदार ने ऐनक उतार ली। चोंगा लटकाए आदमी ने बड़ी-बड़ी काली आंखों से घूरा। "बस, यही देखने आए हो?"

"मैं जानना चाहता हूं।"

"लो, ये जानना चाहते हैं। तुम्हें पढ़ने की इजाजत मिलेगी? ऐसी किताब हाथ में देख तुम्हें उपासना-घर से बाहर धकेल देंगे।"

"किसी को पता नहीं चलेगा," रब्बी बोले। लगा, जैसे बच्चों-सा बोल रहे हैं, वयस्कों-सा नहीं।

"लगता है, ज्ञानोदय, 'द एनलाइटनमेंट' अभी भी सजीव है, बिलकुल पचास वर्ष पहले जैसा," चोंगा ओढ़ा आदमी बुकसेलर से बोला। "इसी तरह विलना जाकर वे पूछते, संसार का सृजन कैसे हुआ? सूरज क्यों

चमकता है ? मुर्गी पहले हुई या अंडा ?" रब्बी की तरफ मुड़े। "हमें नहीं मालूम, जनाब, हमें नहीं मालूम । हमें बिना विश्वास, याने बिना फेथ और बिना ज्ञान जीना होगा ।"

"फिर आप यहूदी क्यों हैं ?" रब्बी ने पूछा ।

"हमें यहूदी ही रहना है। सारे लोग सभी में विलीन नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त गैर-यहूदी समुदाय हमें नहीं चाहता। वारसा में सैंकड़ों धर्म बदले लोग हैं और पोलिश प्रेस उन्हें लगातार कोसती है । फिर धर्म-परिवर्तन ही से क्या होगा ? हमें आखिर आदमी तो रहना है।"

"पुस्तक कहां मिलेगी," रब्बी ने पूछा ।

"पता नहीं । आउट ऑफ प्रिंट है । बहरहाल, वह कहती है ब्रह्मांड का सृजन हुआ, वह इन्वाल्व हुआ । कैसे हुआ, कैसे जीवन का सृजन हुआ, और सारी सृष्टि कैसे बनी किसी को नहीं मालूम ।"

"फिर आप सब नास्तिक कैसे ?"

"जनाब, हमें आपके साथ बहस में उलझने का वक्त नहीं है। मेरे पास एक ही प्रति है जिसकी धूल झाड़ने का इरादा अभी नहीं है।" बुकसेलर बोला "दो-एक हफ्ता बाद आइये जब तक विडो की पुस्तकें बदली जायेंगी । उतने वक्त में ब्रह्मांड फट नहीं पड़ेगा ।"

"ओह, ठीक है !"

"जनाब, अब कोई नास्तिक नहीं रहा," चोंगा ओढ़ा आदमी बोला । "मेरे वक्त में कुछ थे, लेकिन पुराने सब मर गये और नयी पीढ़ी व्यवहार-कुशल है । वे दुनिया को सुधारना चाहते हैं, मगर मालूम नहीं कैसे । क्या तुम अपने स्टोअर की आमदनी से गुजारा चला लेते हो ?"

"हां आं" रब्बी बुदबुदाये ।

"बाल बच्चे हैं ?"

रब्बी ने जवाब नहीं दिया ।

"गांव का नाम ?"

रब्बी चुप रहे। चेडर बॉय की तरह सहमे लगे। बोले, "शुक्रिया" और चल दिये ।

सड़कों पर चलते गये । सांझ घिर आयी, याद आया संध्या की प्रार्थना का वक्त हो गया, लेकिन सर्वशक्तिमान भगवान की खुशामद करने का मूड नहीं बना, इच्छा नहीं हुई उसे ज्ञानदाता कहें, मृतक में प्राण भरने तथा रोगी को चंगा करने वाला कहें, बंदी को मुक्ति देने वाला कहें, या उससे जिआन में पुनः अवतरित होने और जेरूसलम का पुनर्निर्माण करने की गुजारिश करें ।

किसी जेल के पास से गुजरे । काला दरवाजा खुला और जंजीरों में जकड़ा कोई आदमी भीतर ले जाया गया। पैर कटा कोई अपंग पहिये लगे तख्ते पर इधर-उधर घिसट रहा था । एक अंधा आदमी डूबे जहाज का गीत गा रहा था। पास की सकरी गली में बहुत तेज शोरगुल सुनाई पड़ा। किसी के बदन में छुरा भौंका गया—कोई लंबा युवक, गले से खून की फुहार छूटती हुई । कोई स्त्री कराही, "अरे उसने लुटेरों का मुकाबला किया, उन्होंने चाकुओं से मारा । नरक में कीड़े पड़ें सबको। ईश्वर के घर देर है पर अंधेर नहीं, सजा जरूर मिलेगी ।"

उसे देर क्यों लगती है, रब्बी ने सोचा पूछें। और सजा किसे दे रहा है ? जो पीटा उसे, हत्यारों को नहीं। पुलिस आयी, एंबुलेंस का सायरन बिलखता रहा । कटी-पिटी पैंट और आंखों पर शेड करती कैप पहने नव-युवक दरवाजों से बाहर दौड़े, पीछे-पीछे बिखरे बाल और नंगे पैरों में टूटी फूटी स्लिपर्स डाले लड़कियां । रब्बी भीड़ और शोर से सहम गये। पास के आंगन में चले आए। कंधों पर शॉल डाले, लाल-लाल जैसे शलगम से रंगे गाल वाली कोई लड़की रब्बी से सटकर बोली, "आ जाओ, बीस ग्राशेन ।"

"कहां ?" रब्बी कुछ समझ नहीं पाये ।

"सीढ़ियों के पास ।"

"ठहरने के लिए जगह ढूंढ़ रहा हूं ।"

"बताती हूं ।" लड़की ने उनकी बाजू पकड़ ली ।

रब्बी एकदम चकरा गये । जीवन में पहली बार किसी अनजान स्त्री ने छुआ। अंधेरी सीढियों से नीचे ले गयी। गलियारे से चले, संकरा ऐसा केवल एक आदमी चल पाये। लड़की बाजू खींचे आगे चली। तलघरी सीलन की बू नाक में घुसी । ये क्या है—जिंदा कब्र, नरक का मुंह ? कोई हार-मोनिका बजा रहा था । कोई स्त्री रो रही थी । उनके पैरों पर से बिल्ली या चूहा कूदता निकल गया। एक दरवाजा खुला, कमरा था, खिड़की एक नहीं, केरॉसिन लैंप से रोशन, चिमनी कालिख भरी। बिस्तर क्या बस एक चटाई, पास में गुलाबी-सा पानी भरा वाशबेशिन। रब्बी के पैर देहलीज पर ऐसे जमे जैसे कसाईघर ले जाते बैल के हों। ये क्या है मुझे कहां ले जा रही हो ?"

"बनो मत । मजे लूटो ।"

"मैं कोई सराय खोज रहा हूं ।"

"बीस ग्रासेन निकालो !"

ये कोई बदनाम जगह तो नहीं ? रब्बी कांप उठे, उन्होंने जेब से मुट्ठी भर सिक्के निकाले । "खुद ले लो ।"

लड़की ने दस का एक सिक्का और छह का एक उठाया। कुछ हिच-किचायी और एक कांपिक उठा लिया। बिछौने का इशारा किया। रब्बी के हाथ से शेष सिक्के नीचे गिर गये और वे गलियारे से वापस भागे। फर्श समतल नहीं थी, कई जगह गड्ढे भी थे । गिरते-गिरते बचे। दीवाल से उभरी ईंटों से टकराये । "हे भगवान । रक्षा करो ।" शर्ट पसीने से भीग गया। जब ऊपर आंगन तक पहुंचे, रात हो गई थी। चारों ओर कूड़े-कचरे और गटर की सड़ांध फैली हुई थी। अब रब्बी को खेद हुआ क्यों ईश्वर को पुकारा। चेहरे में चिड़चिड़ाहट भर गई । रीढ़ में थरथराहट हुई । ये ही संसार के सुख हैं ? शैतान यही बांटना चाहता है ? रूमाल निकाल चेहरा पौंछा कहां जाऊं ? "तेरा चेहरा कहां छिपाऊं ?" नजरें ऊपर उठायीं दीवालों के पार आकाश दूज के चांद और कुछ तारों के साथ मंडराया हुआ था। चकित ताकते रहे जैसे पहली बार देख रहे हों। बेशेव छोड़े मुश्किल से चौबीस घंटे बीते होंगे, पर लगा हफ्तों, महीनों, वर्षों से भटक रहे हों।

तलघर से लड़की फिर पास आयी। "ऐ देहाती गंवार, क्यों लौट आया ?"

"अब बस करो," रब्बी बोले, और बाहर गली में आ गये। भीड़

पिघल गई थी। चिमनियों से धुआं उठा। दुकानदार लोहे के दरवाजों में ताले डाल दुकानें बंद कर रहे थे। चाकू से मारे गये आदमी का क्या हुआ, रब्बी चकित सोचने लगे। धरती निगल गयी? एकाएक ध्यान आया थैला अभी तक हाथ में है। कैसे? लगा हाथ ने अपनी ही किसी शक्ति से उसे बांधे रखा। शायद इसी शक्ति ने संसार का सृजन किया? यही शक्ति ईश्वर हो? रब्बी समझ न पाये हंसें कि रोयें। ठीक से पाप भी नहीं कर सकता—इस तरह से अधकचरा हूं। सो, अब मेरा अंत आ गया। यानी एक ही रास्ता शेष है, छः सौ तीस अंगों और नसों को लौटा दें। लेकिन कैसे? लटक जायें? कूद मरें? विस्टुला पास होगी? राहगीर को रोक पूछा, "मुआफ कीजिए, जरा बतायेंगे विस्टुला जाने का रास्ता किधर है?"

उसका चेहरा काला भुजंग था, चिमनी सफाईगर-सा। कोयले-सी काली झबरी भौंहों के नीचे दबी आंखों को रब्बी पर गड़ा बोला, "विस्टुला से क्या चाहिए? मछली पकड़ना है?" उसकी आवाज कुत्तों-सी भौंकती हुई थी।

"नहीं, नहीं।"

"फिर क्या, डेंजिग तक तैर कर जाना है?"

मसखरा है, रब्बी ने सोचा। "किसी ने बताया वहां कहीं कोई सराय है।"

"विस्टुला-किनारे कोई सराय? कहां से आये हो, देहात से? यहां क्या कर रहे हो, मास्टरी की नौकरी चाहिए?"

"मास्टरी? हां, नहीं।"

"जनाब वर्षा की पथरीली सड़कों पर चलने के लिए खूब ताकत चाहिये पैसा पास है?"

"थोड़े से रुबल हैं।"

"एक गुल्डेन किराया देकर मेरे साथ सो सकते हो। यही नंबर १४ में रहता हूं। पत्नी नहीं है। उसका पलंग खाली है।"

"बहुत ठीक। बहुत-बहुत शुक्रिया!"

"कुछ खाया?"

"हां, सुबह खा लिया था।"

"सुबह! हह? चलो मेरे साथ, कलाली चलते हैं। थोड़ी बीयर पीयेंगे। फटाफट बनी कोई चीज खा लेंगे। गली पार कोयले की दुकान लगाता हूं," उसने काली उंगली से लोहे के सरिये लगे दरवाजों की ओर इशारा किया, फिर बोला, "ध्यान रखना, वहां चोरियां खूब होती हैं। अभी-अभी एक देहाती को एंबुलेंस में अस्पताल ले जाया गया है। गुंडों ने चाकू भौंक दिया।"

कुछ कदमों पर कलाली थी। रब्बी लड़खड़ाते पीछे-पीछे चले। कांच के दरवाजे को कोयला दुकानदार ने जैसे ही धकाया रब्बी का सामना बीयर, वोदका, लहसुन की गंध, और स्त्री-पुरुषों के डांस म्युजिक की तेज आवाज से हुआ। आंखें धुंधला गयीं। "रुक क्यों गए?" दुकानदार बोला, "आगे चलो!" उसने रब्बी का हाथ पकड़ पीछे खींच लिया।

चारों ओर धुंध थी—बेशेव के गुसलखाने में भर जाती भाप सी, रब्बी को विकृत चेहरे, दीवार के खानों में अटी पड़ी बोतलें, पीतल का पंप लगा बीयर भरा पीपा दिखाई दिया। काउंटर पर रखी तश्तरियों में भुने हुए तीतर थे, प्लेट में सौंफ। चीखती हुई वायलिन, घनघनाता तबला, हर कोई हंसता, चिल्लाता हुआ। "बात क्या है?" रब्बी ने पूछा।

एक मेज तक पहुंचे, दुकानदार उनके कान में मुंह लगा जोर से बोला, "ये तुम्हारा गांवड़ा नहीं, वारसा है। यहां पैर जमाने में अकल लगती है।"

"मुझे इतने शोरगुल की आदत नहीं है।"

"हो जाएगी। किस तरह की मास्टरी खोज रहे हो? यहां छात्रों से ज्यादा शिक्षक हैं। हर बेवकूफ टीचर बन जाता है। सारी पढ़ाई-लिखाई में आखिर रखा क्या है? बाद में सब भूल जाते हैं। मैं भी चेडार जाता था। राशी और सब पढ़ाया जाता था। दो-चार शब्द अभी भी याद हैं: फिर ईश्वर ने मोजेस से कहा…"

"तोराह के थोड़े-से शब्द पढ़ लो वो ही पूरी तोराह के समान होगा…" रब्बी ने पूरा किया, हालांकि ऐहसास हुआ इतने नियम तोड़ ये सब बोलने का कोई हक नहीं रह गया।

"हूह। इसका दो कोड़ी मतलब नहीं रहा। ये लड़के सिर हिलाते, विक्षिप्त चेहरे बनाते उपासना-घर में बैठे रहते हैं। बाहर आते ही लड़खड़ा जाते हैं। ब्याह करते हैं लेकिन पत्नियों को पाल नहीं सकते। दर्जनों बच्चे पैदा कर देते हैं जो सड़कों पर नंगे भूखे फिरते रहते हैं।…"

शायद ये ही सच्चा नास्तिक है, रब्बी ने सोचा। उन्होंने पूछा, "ईश्वर में विश्वास रखते हो?"

कोयला-दुकानदार ने मेज पर मुक्का मारा। "क्या मालूम? मैंने स्वर्ग नहीं देखा लेकिन कहीं है। किसने बनायी ये दुनिया? सैबाथ के दिन 'प्रेमबंधन' नामक दोस्तों के समूह के साथ प्रार्थना में शामिल होता हूं। कुछ रूबल खर्च होते हैं, वो कहते हैं नामित्जवाह के यानी भले काम के नाम। एक रब्बी, कपड़े तार-तार पहने साथ रहता है। उसकी पत्नी पांच सेर कोयला खरीदने आती है। इतनी सर्दी में क्या हो इतने कोयले से? कुछ टुकड़े अपनी ओर से जोड़ देता हूं। अगर ईश्वर है तो फिर पोलिश लोग यहूदियों को क्यों मारते हैं?"

"नहीं मालूम! काश, मालूम होता।"

"तोराह में क्या लिखा है? लगता है तुम बारीक बातों को जानते हो।"

"तोराह कहती है दुष्ट सजा पायेंगे सज्जन पुरस्कृत होंगे।"

"कब? कहां?"

"परलोक में।"

"कब्र में?"

"स्वर्ग में।"

"कहां है स्वर्ग?"

वेटर पास आया। "मेरे लिए लाइट बीयर और चिकन लिवर," कोयला दुकानदार ने आॅर्डर दिया। "तुम क्या लोगे?"

रब्बी के मुंह से बोल नहीं निकल पा रहे थे। पूछा, "यहां कहीं हाथ धो सकता हूं?"

दुकानदार के मुंह से फुफकार निकली। "यहां हाथ धोए बिना खाया

जाता है और वह भी यहूदी नियमों के मुताबिक। डरो नहीं प्लेट में पोर्क नहीं देंगे।"

"ठीक है, मैं केक ले लूंगा।" रब्बी फुसफुसाये।

"बस केक ? और, उसके साथ ? यहां पीना तो पड़ेगा ही। कैसी बीयर लोगे ? लाइट ? डार्क ?"

"लाइट !"

"ठीक। इनके लिए ओट-बीयर और ऐग-केक।" वेटर के जाने के बाद कोयला दुकानदार कालिख भरे नाखूनों से मेज बजाने लगा। "सुबह से कुछ न खाया हो दम निकल जाएगा। यहां नागा किया तो पापड़ की तरह टूट जाओगे। वारसा में पेटू होना जरूरी है। नैवेद्य के लिए हाथ धोना हो उधर टाइलेट में चले जाओ। वहां एक टोंटी लगी है, लेकिन हाथ कोट से ही पोंछना पड़ेगा।"

"क्यों इतना दुखी होऊं?" रब्बी ने मन-ही-मन कहा। "मैं ही दुराचार में इन जैसा ही डूबा हुआ हूं—बल्कि ज्यादा ही। अगर जेकब नहीं बनना चाहूं, एसाऊ बनना ही पड़ेगा।" कोयला-दूकानदार से बोले, "मैं टीचर बनना नहीं चाहता।"

"तो क्या बनोगे, राजकुमार ?"

"कोई धंधा सीख लूंगा।"

"कौन-सा धंधा ? टेलर, या शूमेकर, या चर्मकार बनने के लिए सिरे से शुरू करना होगा, नौसिखिये की तरह रखेंगे; उस्ताद की बीवी नाली साफ करने को, बच्चे को झुलाने को कहेगी। मैं भुगता हुआ हूं। सुतारी सीखने गया था, उस्ताद ने आरी या रंदे को छूने नहीं दिया। चार साल रगड़ता रहा कुछ नहीं सीखा। पता नहीं कैसे जार की सेना की नौकरी मिली। तीन साल सिपाही की काली ब्रेड खाई। बैरक में सूअर का गोश्त न खाओ बंदूक नहीं ढो सकते। विकल्प ? कुछ नहीं। जब डिस्चार्ज हुआ गली में कोयला बेचने का धंधा लगाया जो आज तक जारी है। सब चोरी करते हैं। कोयले की बैगन उतरे तो वजन होना चाहिए सौ पूड, निकलता है नब्बे। दस पूड रास्ते में चुरा लेते हैं। चूं-चपड़ की चाकू पेट में। क्या करूं? पानी छिड़कता हूं कोयला भारी हो जाता है। न करूं भूखा मर जाऊं। समझे ?"

"हां, समझा।"

"धंधे की रट छोड़ दो। तुमने शायद ताजिंदगी उपासना घर की डेस्क पर आंखें गड़ाये पुस्तकें बांची हैं, ठीक ?"

"हां, मैंने खूब पढ़ा है।"

"तो फिर मास्टर बनने के सिवा और किसी काम के नहीं। उसके लिए भी कमर कसनी पड़ेगी। पास के ब्लाक में एक तालमुद तोराह हैं जहां एक कोमल-सा मास्टर पढ़ाने जाता था। पढ़ने वाला छोकरा ऐसे खुराफाती, इतनी शरारत की, भाग गया। जहां तक रईसों का सवाल है उन्हें माडर्न टीचर चाहिए, टाई पहना, जिसे रूसी लिखना आता हो। बीवी है ?"

"नहीं।"

"तलाक दे दिया ?"

"विधुर हूं।"

"हाथ मिलाओ। मेरी पत्नी थी, खूब भली। थोड़ी-सी बहरी लेकिन अपना काम कर लेती। मेरा खाना पकाती; पांच बच्चे हुए। तीन बचपन ही में मर गये। येकातेरिस्लाव में एक लड़का है। लड़की हार्डवेयर स्टोअर में काम करती है। मालिकों के साथ ही रहती है। पापा का खाना पकाना नहीं चाहती। उसका मालिक धनी आदमी है। खैर, मैं अकेला ही हूं। कब से विधुर हो ?"

"कुछ बरस हुए।"

"स्त्री की जरूरत पड़े तो क्या करते हो ?"

रब्बी झेंपे, फीके पड़े। "क्या कर सकते हैं ?"

"पैसा हो, वारसा में सब मिलेगा। इस गली में नहीं। यहां सब छूत रोगी हैं। किसी लड़की के संग हुए खून का रोग लग जायेगा। बुखार चढ़ जाएगा, सड़ जाओगे। पड़ोस में एक आदमी रहता है सारी नाक सड़-गल गयी। बेहतर गलियों में हर महीने रंडियों को डॉक्टरी-जांच करानी पड़ती है। उनमें से कोई चुन लो, सिर्फ एक रूबल लगता है लेकिन कम से कम वे साफ तो रहती हैं। जोड़ी बिठाने वाले पीछे लगे हैं पर मेरा ही इरादा बन नहीं पाया। सारी औरतों को रूबल चाहिए। यहीं कलाली में एक के साथ बैठा था उसने पूछ लिया, "तुम्हारे पास कितना पैसा है ?" बूढ़ी डायन थी, बिलकुल भद्दी। बोलो मेरे जमा पैसों से उसे क्या मतलब। जब एक रूबल में जवान और सुंदर लड़की मिले, बुड्ढी खूंसट को क्यों पालूं ? समझे ? लो बीयर आ गयी। क्या बात है ? तुम तो पीले पड़ गये।"

तीन हफ्ते बीत गए लेकिन रब्बी वारसा ही में भटकते रहे। सोते कोयला दुकानदार के घर। सैबाथ के खाने के बाद दुकानदार उन्हें यिद्दिश थियेटर ले गया। एक दिन रेस दिखाने विलानोव भी ले गया।

शनिवार छोड़ प्रतिदिन रब्बी ब्रेसलर की लाइब्रेरी जाते। बुकशेल्फ के पास खड़े-खड़े पन्ने पलटते। एक मेज थी जहां बैठ पढ़ते। सुबह से आ जाते, बंद होने तक पढ़ते। दोपहर एक पाव रोटी, या ब्रेडरोल, या उबला आलू ठेला लगायी स्त्री से खरीद लाते। बिना नैवेद्य खा लेते। हिब्रू और यिद्दिश दोनों ही पुस्तकें पढ़ते। जर्मन पढ़ने की भी कोशिश की। लाइब्रेरी में वह किताब भी दिखी जिसे दुकान की विंडो में देखा था। ब्रह्मांड कैसे अस्तित्व में आया। "हूं, सर्जक के बिना कैसे सृजित हुआ ?" रब्बी ने खुद से पूछा। उन्हें स्वयं ही से बतियाने की आदत हो गयी थी। जैसा उपासना-घर करते दाढ़ी पकड़ झकझोरी, झिझके, कांपे। बुदबुदाये, "ठीक, मान लिया धुंध थी, पर धुंध किसने रची ? वो ही कैसे उभरी ? कब शुरू हुई ?"

धरती का टुकड़ा सूरज से टूट दूर जा छिटका, उन्होंने पढ़ा—लेकिन सूरज किसने रचा। मनुष्य बंदर का वंशज है—लेकिन बंदर कहां से आया ? और फिर लेखक उस वक्त था नहीं, उसकी बात पूरी निश्चित कैसे ? उनके विज्ञान ने दिक् और काल की दूरियों के बारे में सब

कुछ समझा दिया ? करोड़ों वर्ष पूर्व समुद्र के सिरे पर कीचड़ की पहली कोशिकाएं उभरीं । खरबों वर्ष बाद सूरज बुझ जायेगा । लाखों तारे, ग्रह, धूमकेतु ऐसे अंतरिक्ष में घूम रहे हैं जिसका आदि है न अंत, बेतरतीब, बेमतलब । भविष्य में सब लोग एक-से होंगे, आजादी का साम्राज्य होगा, प्रतिस्पर्धा न संकट, न युद्ध, न ईर्ष्या, न घृणा । तालमुद के अनुसार, जिसे झूठ बोलना हो ऐसे वाकयात बतायेगा जो बहुत-बहुत दूर घटे हों । हिब्रू-पत्रिका हासिफ की एक पुरानी प्रति में रब्बी ने स्पिनोजा, कांट, लिबनित्ज, शॉपनहावर के बाबत पढ़ा था । उन्होंने ईश्वर को पदार्थ, मॉनैड, परिकल्पना, शून्य शक्ति, प्रकृति बताया ।

रब्बी ने अपने बालों की चोटी को ताना । यह प्रकृति कौन है ? उसे इतना कौशल और शक्ति कहां मिली ? अत्यंत सुदूर तारे की, सागर तले चट्टान की, धूल के सूक्ष्म कण की, मक्खी के पेट में गये भोजन की उसने इतनी देखरेख की ! उनमें, बेशेव के रब्बी निशेमिया के तन मन में प्रकृति ने एकाएक सब कुछ कर दिया ! उसने उन्हें पेट की मरोड़ दी, नाक भरी, खोपड़ी सनसनायी, माथा ऐसे भनकाया जैसे मच्छर ने टाइटस को सताया था । रब्बी ने ईशनिंदा की, उससे क्षमा मांगी । एक पल मरने की इच्छा हुई । दूसरे बीमारी का डर लगा । पेशाब लगी, टाइलेट गये पर उतरी नहीं । पढ़ना चाहा लेकिन आंखों के आगे हरे और सुनहरे धब्बे आ गये । पंक्तियां एक-दूसरे में घुलती, बिखरती, मुड़ती, ऊपर-नीचे होती गयीं । "अंधा तो नहीं हो रहा ? अंत आ गया । पिशाचों ने घेर लिया ? नहीं-नहीं, परम पिता । मैं अपना कंफेशन नहीं पढ़ूंगा । तुम्हारे सारे नर्कों में जाने को तैयार हूं । यदि तुम अनंत मौन रह सकते हो, मैं भी आत्मा छोड़ने तक चुप रहूंगा । तुम्हीं अकेले पराक्रमी नहीं, रब्बी सर्वशक्तिमान से कहते गये । "अगर मैं तुम्हारा पुत्र हूं, मैं भी डटा रहूंगा ।"

रब्बी ने संयोजित ढंग से पढ़ना बंद कर किया । पुस्तक निकालते, बीच से खोलते कुछ पंक्तियों पर नजर घुमाते, फिर उसे शेल्फ में रख देते । जहां कहीं खोलते किसी-न-किसी झूठ से टकराते । सभी किताबों में एक बात समान थी : तत्व की अपेक्षा, अस्पष्टता और एक ही वस्तु के कई नाम देना । उनके लेखकों को नहीं मालूम घास कैसे उगी, प्रकाश क्या है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वंश कैसे चलता है, पेट में खाना कैसे पचता है, दिमाग सोचता कैसे है, दुर्बल देश, ताकतवर, मजबूत नष्ट कैसे हो गये । इन विद्वानों ने सुदूर आकाश गंगाओं के बारे में लिखा, लेकिन धरती की सतह के एक मील नीचे क्या होगा नहीं खोज पाये ।

रब्बी पन्ने उलटते जंभाई लेते गये । मेज के सिरे पर सिर टिका पल-भर सुस्ताये भी । धिक्कार, इतना कमजोर हो गया ।" हर रात कोयला-दुकानदार रब्बी को समझाता वापस लौट जायें । कहता, "दम टूट जायेगा और किसी को पता नहीं चलेगा कब्र पर क्या नाम लिखे ।"

देर रात जब हिंडे शेवास सोने लगी, गलियारे में पदचाप सुन उठ बैठी । आधी रात कौन चल रहा है, हिंडे शेवास चकरायी । भाई के जाने के बाद, घर खंडहर-सा सुन्न था । हिंडे शेवास खड़ी हुई, हाऊसकोट पहना, स्लिपर्स डाली । दरवाजे को जरा खिसका झांका भाई के कमरे में रोशनी दिखी । चलकर देखा रब्बी थे । चोगा फटा हुआ, कमीज के बटन टूटे, सिर की टोपी मुड़ी-तुड़ी । चेहरे की भावमुद्रा एकदम बदली हुई । बूढ़े आदमी से झुके हुए । कमरे के बीच थैला ।

हिंडे शेवास ने हाथ ऐंठे । "मेरी आंखें धोखा तो नहीं खा रहीं ?"

"नहीं ।"

"ओ भगवान, वे चारों ओर तुम्हें खोज रहे हैं । सोच रही थी उजाड़ वीरानी में फेंक दी गयी । उन्होंने अखबारों में सूचना छपाई ।"

"हूं ।"

"कहां थे ? क्यों गये ? क्यों छिपे ?"

"रब्बी चुप रहे ।

"बताया क्यों नहीं जा रहे हो ?" हिंडे शेवास अवसाद भर पूछती गयी ।

रब्बी ने सिर झुका लिया और कोई जवाब नहीं दिया ।

"हमें लगा मर गये, ईश्वर न करे । सिमशा डेविड को तार किया कोई जवाब नहीं आया । तुम्हारे लिए सात दिन मातम मनाने जा रही थी । भगवान ने बचा लिया । सारे कस्बे में तूफान-सा उठा हुआ है । तुम्हारे बाबत भयानक घिनौने किस्से गढ़े हैं । पुलिस को सूचना दी है । एक पुलिसवाला हुलिया पूछने आया था ।

"ओह, ओह !"

"सिमशा डेविड मिला ?"

"अऽ, हां ।"

"उसका कैसा चल रहा है ?"

"हां, आं ।"

"हिंडे शेवास ने गले का थूक गटका । "तुम तो चाक की मानिंद सफेद पड़ गये, कपड़े चिंदे-चिंदे हो गए । लोगों ने ऐसी-ऐसी बातें उड़ायीं मैं पानी-पानी हो गयी, मुंह छिपाती फिरी । कई चिट्ठियां, तार आये ।"

"अच्छा ।"

"इस तरह मुझसे बचो मत ।" हिंडे शेवास का स्वर बदला । "साफ बताओ । ऐसा क्यों किया ? गली के आवारा छोकरे तो हो नहीं, बेशेव के रब्बी हो ।"

"रब्बी अब नहीं ।"

"हे भगवान, दया करो । पागलखाने जाना है ? रुको, एक गिलास दूध पी लो ।"

हिंडे शेवास पीछे हट गयी । रब्बी को सीढ़ियां उतरती पदचाप सुनाई दी । उन्होंने दाढ़ी पकड़ झकझोरी । दीवार और छत पर एक विशाल छाया लड़खड़ायी । कुछ पल बाद हिंडे शेवास लौट आयी "दूध नहीं है ।"

"कोई बात नहीं ।"

"मैं तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ूंगी बताओ क्यों गये थे," शेवास बोली ।

"जानना चाहता था हेरेटिक्स, नास्तिक, क्या सोचते हैं ।"

"वे क्या कहते हैं ?"

"हेरेटिक्स हैं ही नहीं ।"

(शेषांश पृष्ठ ८६ पर)

नो वेकेन्सी

□ दानिश

वो एक औरत थी जिसने प्यार में धोखा खाया। वो एक मर्द था जिसके निठल्लेपन ने उसे अपनाया, अपनी बेहूदा और नीरस रातों के बदले। इसी महान संधि का परिणाम था—नो वेकेन्सी।

जो औरतें किसी सूरत मायका नहीं भूलतीं ऐसी ही औरत थी वह। शायद यही कारण था कि वह किसी रंडी से शादी करना चाहता था कि वो उसके बच्चे को मायके की महान सीढ़ियां न दिखा सके और उसे उसके बाप की तरह मरने के लिए अकेला न छोड़ दे। उसे आश्चर्य था। आखिर किस चमत्कारवश वह अस्तित्व में आया। शायद उसे विश्वास नहीं था कि दुनिया में निन्यानबे प्रतिशत लोग इसी चमत्कार का परिणाम थे।

बचपन जैसी किसी वस्तु से उसका साबका पड़ा तो ये वही आतंक और अवसाद-भरे दिन थे जब उसका निराश बाप घर की तश्तरियां तोड़ता और मां खिड़कियां बंद करने लगती। बरसों उसने इसी तरह दुबके गुजारे। मां-बाप के इन शानदार कारनामों से वह ऊब चुका था। अजीब औरत थी उसकी अभिमानी मां। जिसने कभी अपने शौहर को अपने मन की खिड़की में झांकने नहीं दिया।

फिर भी वो पल गया। उसने महसूस किया मां-बाप का कर्ज। किन-किन मुसीबतों का सामना करते हुए उन्होंने उसे कोई कष्ट नहीं दिया। बेशक वो अपने दोस्तों में डींग मारता—उसके ननिहाल में इतना बड़ा हीरा है कि सूरज भी छोटा पड़ जाए। रात में खेत अगोरने जाते समय उसका नाना वही हीरा साथ ले जाता। अब वो उसकी नानी के बक्शे में बंद है। हक्का-बक्का वे उसका चेहरा देखते और वह एक रहस्यमयी मुस्कान चिपका कर उठ जाता। आखिरकार वे बड़े हो गए और उड़न छू खेलते-खेलते न जाने किन शहरों में खो गए।

वो खड़ा रहा। सड़क पर पले-बढ़े लड़कों-सा। लेकिन वह बिलकुल उन जैसा ही नहीं था। उसका घर था। उसके मन में एक घर था जाड़े की दोपहर-सा सुखद। जिसके आगे उसने खूब बड़ा मैदान बनाया था। चिकने साफ पत्थरों वाला जिस पर उसकी इकन्नियां न खो जाएं। उसके पास कोई कारखाना या गंदी गली नहीं थी जिसमें उसकी कैनवस की गेंद गुम हो जाए। आज तक वो उन्हीं इकन्नियों और गेंद की खोज में था जो उसके सामने आखिरी बार उछलीं और गुम हो गई थीं।

आज भी वो वहीं है। लगातर खोज में गुम। काश वो किसी ध्रुव की खोज में जाता तो भूगोल और भौतिकी की ऐसी तैसी करता, जरूर किसी तीसरे ध्रुव की तलाश कर लेता। 'महान कोलंबस है वह'—हमेशा उसे यही लगा, वो इस दुनिया के विषय में इतना अनूठा जानकार है कि बस, ऐसी अलबेली घटनाएं इतने दिलचस्प कथानक कि वह नये सिरे से दुनिया बसा सकता है।

छात्र जीवन में उसने निशानेबाजी के इतने पुरस्कार जीते कि बाद में उसका बाप तश्तरियों के बजाय उन्हें ही तोड़ता। एक बार इसीलिए उसने अपने बाप का हाथ पकड़ लिया था—"बस कीजिएगा भाई साहब…?"

"अच्छा भाई साहब…" उसने हाथ खींचकर उसे देखा, "तो बड़े हो गए आप…कुछ पता नहीं चला…ठीक है अब अपनी चलाओ।" क्षुब्ध हो आया था उसका चेहरा। मगर वो इतना निर्दयी नहीं था कि उसे दुनिया के आगे रातिब-सा फेंक देता। उसे खूब मालूम था दुनिया किस कुत्ती चीज का नाम है। यही वो घटना है जिसने उसे टुकड़ों में बांट दिया। अब वो न

बच्चा था ना ही वयस्क। किशोर मानसिकता थी जो पीछा नहीं छोड़ती जीवन के आगे बहुत उछाह-भरा आया वह। उसने गुप्तचर बनना चाहा। आते-जाते लोगों के चेहरे पढ़ना, डायरी लिखना, लोगों के घरों में झांकना और पीछा करना उसकी आदत बन गई। हमेशा वो अपनी काल्पनिक पिस्तौल से लैस रहता जो उसकी बेहतरीन निशानेबाजी के लिए सरकार ने दी थी। एक दिन सड़क पर खड़ा वह चौकन्नी निगाह से लोगों को पढ़ रहा था तभी वो दोनों उसे दिखे। पहला बुरी तरह धुत्त था और दूसरा उसे लगभग बेबस किए हुए धकियाता ले जा रहा था।

'किडनैप' अचानक उसे जासूसी उपन्यास का शब्द याद आया। जिसका हिंदी में रूपांतर उसे नहीं मालूम था। पीछे लग गया वह। शाही नाले पर पहुंचते-पहुंचते रास्ता निर्जन हो जाता है।

पहले ने अचानक दूसरे की कमर से पिस्तौल खींच ली और एक जोरदार धक्का मारकर नीचे गिरा दिया। उसे लगा माजरा हत्या का है और एक ईंट खींचकर पहले को अपनी शानदार निशानेबाजी से चमत्कृत करता हुआ हंसने लगा। इस समय वो स्वयं को जेम्स बांड ही तो समझ रहा था कि दूसरा भाग निकला। पहला जो सादा वर्दी वाला था। गुस्से में उफन पड़ा। अब अपने जेम्सबांड के पिटने की बारी थी। पहले ने उसे इतने ठुड्डे मारे कि उसने जासूसी से तौबा कर ली।

यद्यपि अभी तक उसका विचार था—'कोई भी संगीन-रंगीन जुर्म उसे चुंबक-सा खींचता है' उसने खिड़कियों और दरवाजों की दरार से दुनिया के इतने महीन जुर्म देखे थे। बाद में वह अपनी इस महान प्रतिभा का इस्तेमाल मात्र अपनी खोई हुई इकन्नियों और कैनवस की गेंद ढूंढ़ने में करता रहा। वह सोचता—"मुद्रास्फीति ने उसकी इकन्नी को कितना चौरस कर डाला होगा मगर कैनवस की गेंद तो वैसी की वैसी होगी। किसी अंधेरी दरार में फंसी हुई। क्या उस पर फफूंद उग आई होगी?"

वह अपनी बढ़ी हुई दाढ़ी पर हाथ फेरता।

लोगों की टांगों के बीच वो उन्हें ही ढूंढ़ता रहता। कभी-कभी उसे अपनी इस मूर्खतापूर्ण खोज का अनुभव होता तो सकपका कर लोगों की ओर देखता—कहीं वो समझ तो नहीं गए। मगर कोई कुछ नहीं समझता था।

लोग उसकी पगलाई हरकतों और दृश्य के इतने ही आदी हो चले थे मानो वो किसी गटर का छिटका हुआ ढक्कन हो या खजुहा कुत्ता। वह खजुहे कुत्तों से घृणा करता। उन्हें कूं-कूं करते अकारण आकाश की ओर भौंकते देखकर वह मुंह बिचका कर दूसरी ओर देखने लगता।

"···कहीं छुपा आए हैं कमबख्त···लेकर नहीं चलते··कहीं कोई उधार न मांग ले···कहां से दें?···देने पर कौन लौटाएगा···नहीं भाई साब इतनी महंगाई है·· जान ले लो मगर उसका नाम मत लो···" वह बड़-बड़ाता मानो किसी नाटक का कलाकार हो। पेशेवर कलाकार जो राह चलते अपने संवाद बड़बड़ाते रहते हैं।

"भई बीवी परदेस में नहीं लाई जा सकती···देस में है···इंतजार करती होगी···डाकिया लाएगा···कहां से दें,···कैसे दिलाएं···इतनी मुश्किल से मिली है···लाइन में लगो···नामांकन कराओ रिटेन दो··· इंटरव्यू दो···ऊपर से दो···नीचे से दो तब कहीं मिलती है। नौकरी भी क्या है पूंछ है भैंड़की···आयी नहीं कि बीवी आयी बच्चे आए···सर्दी आयी जुकाम आया···पता नहीं किस बंदर को पहली बार कहा गया होगा—'नो वेकेन्सी'···साले की पूंछ जड़ से गायब हो गई···एकदम···दुमकट्टा कहा होगा सबने···चूहे तक ने उड़ाया होगा मजाक—कीड़ाऽ कीड़ाऽऽ अब जो मिल गई है, चलो अपनी गिरस्थी जमाएंगेऽऽ···" अचानक वो गाने लगता है। सभी गाते हैं अचरज की क्या बात?

जरूर किसी को लगता है—ये कमीने, कहां से लाते हैं?

ऐसा जिगरा। मगर जो उसे जानते हैं। खूब समझते हैं—उसकी दुनिया में जो न हो आश्चर्यजनक है जैसे—ईश्वर, अनास्था, कमीनगी इत्यादि।

वो हंसता है। अनवरत बोलता है और खोजता रहता है। अनवरत वर्षा की तरह उसकी आवाज शहर के कोलाहल में घुलती रहती है किसी जंगल में खोई नदी की तरह जिसकी आहटें सिर्फ बूढ़े शिकारी या जानवर ही पहचानते हैं···

हमेशा वो एक खेल खेलता है। स्कूल से लौटते लड़कों की तरह किसी शब्द को यूंही उछालना, फिर उसके पीछे दौड़ना, फिर ठोकर मारना और पीछे दौड़ना—दुमकट···हिंदी वाला···काला इंडियन कहीं का···इतराता है?·· बहुत गोरा है क्या। योरप जा पता चल जाएगा···कलर्ड कहीं काऽ··· आंदोलन करेगा···बायें चलेगा···दाहिने मुड़···नेता चुनेगा···गुंडा···चुन ···कला करेगा···रेकेट बनाऽ···पत्रकार बनेगा···किसी चूतिए का इंटरव्यू लाऽ···गिद्ध बन गिद्ध···गिधाड़े देख···समीक्षा लिख जा···कौन जला इतना लिख···किसने जलाया···मत दिखा···जल्दी जाएगा···असम का फोटो लाएगा···सेंसटिव खबर बनाएगा···अखबार चलाएगा···बटालियन सावधान···कंपनी विश्राम···प्लाटून रेडियो लगाएगा···ये आकाशवाणी का अलां केंद्र है···अब आप फलां वल्द फलां से अंग्रेजी में समाचार सुनिए ···अंग्रेजी समाचार की हिंदी उद्‌घोषणा···शाबाश-शाब्बाश···"अब आप अपने नायक को समझने लगे होंगे। नोवेकेन्सी बोलता है और बोलता रहेगा उसे कोई काम नहीं उसका काम तो हो चुका।

"भाई साब घोषणा का काफिया जानते हैं? छोड़िए इधर मत आइए ···पश्चिम पश्चिम जाइए···पूरब जाएंगे तो तंग हो जाएगा काफिया कुछ तो समझे! कुछ नहीं समझे क्यों?···ऐसा ही होता है—वो बोल रहा है निर्विकार अनासक्त कर्मयोगी।

घंटाघर बोलता है—दस बज गए भाई साब। शुरू हो जाइए! जो आज्ञा महाराज वो शुरू हो जाता है—दो हाथ···चार हाथ···चालीस हाथ चार सौ···चार हजार···चालीस करोड़ हाथ···शुरू हो गए। घंटा बोला, घंटी बोली दिल्ली वाली···बिल्ली की घंटी···भाग रहे हैं चूहे सारे दुम दबाए···घोड़ों पर···बसों पर···रिक्शों पर···टेंपो पर···अपना-अपना ठीहा थामने···काम करो···काम करो···रात को आराम करो···लाइन से आगे बढ़ो···बंटी जी खूब पढ़ो···काम बड़ी चीज है प्यारे···काम से नाम होता है नाम से निकलती है पूछ···बड़ी पूछ होती है चारों ओर काम है काम का संबंध है ठेकेदार का अनुबंध। गहरा संबंध मालकिन का···

मवाली से···जीजा का साली से···पूंछ सम्हालते चलिए लाइन से आगे बढ़िए···गायब हो गई तो हाथ नहीं आएगी···सुम्मी खो जाएगी···चढ़ जाएगी डोली···" उसे याद आता है कुछ वह आकाश की ओर देखता है। क्या ढूंढ़ता है वह आकाश में। धुंधला-धुंधला जाड़े का आकाश जिसमें सिर्फ एक अकेली चील उड़ रही है। इस प्राचीन शहर के भाग्य में ऐसा ही आकाश है और यही चील जो कभी छतों पर और कभी एंटीना पर बैठ जाती है।

"दिन हफ्ते बरस बीते···सुम्मी चली गई···दिल्ली बड़ी जालिम है दोस्तो···मेरी पूंछ चबा गई···दिल्ली नहीं लखनऊ···कोई फर्क है क्या? ···अरे पूंछ होती तो हम हिलाते···नीड़ बनाते···पालते बाल-बच्चे··· कैसे होते नन्ने-मुन्ने···गोल-मटोल···निमोनिया की दवा लाते···मजा आ गया। कविता हो गई साली···काम न हो तो यही करना चाहिए। चाय-पानी का जुगाड़ बैठा देती है। काम की चीज···इसमें घर के गाली भी दो चल जाएगी। गिफ्ट देते समय प्रयोग कीजिए भाईसाब···चालू माल भी खास बन जाएगा···जैसे बिस्तर पर साली कह देते हैं···अरे बाप रे सेंसर वाली बात!···प्रकाश टाकीज के सुनहले पर्दे पर क्रांति! क्रांति!! फिर वही बात? कविता खराब हो जाएगी। शाश्वत मूल्यों वाली होनी चाहिए। जैसे सावन की कजरियां, देवर-भाभी की शेरो-शायरी···सम्वाद जीजा-साली के आदि-आदि, इत्यादि-इत्यादि···काफी गहरा विचार हो गया आज की तारीख में···चाय पीनी चाहिए—वह सोचता है। चायखाने में खासी भीड़ रहती है। किसी भी शहर का मुख्य चौराहा ऐसा ही होता है। अखबार वाले हों या चने की पुड़िया बेचने वाले, खूब जानते हैं निठल्ले यहीं आते हैं। यहीं तो आता था उसका बाप। सारा-सारा दिन दुनिया की भैंड़चो करके लौट जाता। पता नहीं क्या करता था। कविता अविता तो क्या की होगी अनुवाद-सनुवाद में लगा रहा होगा। विद्वान जी कहते थे लोग उसे। लोग इसे भी विद्वान जी के पुत्र के रूप में ही जानते हैं। भले आदमी थे बेचारे। अचानक गुजर गए पता नहीं इसकी मां जीती है या मर गई। कभी किसी ने जानने की कोशिश भी नहीं की। 'विद्वान जी का पुत्र'—लोग पुत्र कहते हैं तो उसे पाप सुनाई देता है। सब जानते हैं खानदानी मामला है। आम के पेड़ पर आम और नाम के पेड़ पर नाम फलता है। यही नियम है। "गद्दी पर बैठ भर जाओ फिर तुम्हारे खानदान की सभी गद्दी पर ही जनेंगी"—उसका खयाल है।

'ठंडी अलमारी' और 'गरम कपड़ा वाला' किस्सा किसने नहीं सुना। उसका बाप मजे ले लेकर सुनाता था। किस्सागोई में उसका कोई सानी नहीं था। जरूर वो कभी खामोश हो जाता। यूं किसी ने ध्यान न दिया हो मगर कोई-कोई जानते हैं। वो औरतों के मामले में कन्नी काट जाता बशर्ते किस्सा तोता-मैना जैसा शाश्वत मूल्यों वाला न हो। गांव जुआर की घसियारिन घसीटने से उसे बहुत चिढ़ थी। औरतों के बारे में वो ज्यादा बहस नहीं करता था। चुप्पी उसका अचूक औजार था इस मामले में।

वह चाय के बारे में उत्सुक है मगर इतना बदनाम नहीं कि उसे उधार पिला दी जाए। दरअसल अभी वो अपने कपड़ों का कलफ और दाढ़ी बनाने का आदी है। अभी वो तरीके से मुस्करा लेता है। पहली नजर में आप उसे भांप नहीं सकते।

अगर वो आपके आगे आए तो उसके हाथ में पुराना ही सही रोजगार समाचार होगा। किसी समाचार के बारे में आप चर्चा करना चाहें बस तभी वो उत्तर आएगा कि आपके पुरखे नाच जाए। उसे जानने के लिए उसके शब्दों पर सवार हो जाए। बरसाती नाले-सा उसका बयान ही आपको उन प्रदेशों की ओर ले जाएगा जहां हमारे कोलंबस ने झंडे गाड़ दिए हैं। फिलहाल उसे चाय की तलब है। नहीं कहा जा सकता क्या होगा। उसकी आंखें किसी जुगाड़ की फिराक में हैं। कोई परिचित चेहरा जो उसे आदर-पूर्वक, प्रेमपूर्वक कड़क चाय पिला सके। चायखाने में बैठा सके क्या खयाल है चाय पिला दी जाए। मगर इसमें खतरा है पहले तो इस महंगाई में इतनी दयानतदारी आदमी के बूते के बाहर की बात है दूजे अगर कोई पात्र उसे पिला भी दे तो पता नहीं कब तक बाहर टरकाए। भटकाता रहे उसे दुनिया से जहां से कोलंबस को रसद की जरूरत दरपेश होती है उसी बेहूदा में पकड़ रखे जहां से दामन बचाकर कब से लापता है—नोवेकेन्सी।

लेकिन इस प्रकार सोचना कहां की इंसानियत है कि नायक के दुःखों से अभिभूत भर होने के लिए हम उसे प्यासा मार दें? जबकि अपन की औकात भी किसी भुक्खड़ से कम नहीं।

तो ऐसा करते हैं कि उसे जाने देते हैं किसी के साथ। कम-से-कम इतनी फुर्सत तो नाटकों में भी दी जाती है, यानी एक इंटरवल। किंतु वो एक ठोस काया होती है और ये अपना नोवेकेन्सी एक विचार से भी ज्यादा सूक्ष्म प्रतीत होता है। किधर निकल जाए। कहां छोड़ जाए क्या पता। मगर एक तरीका और भी है इसका प्रयोग करें तो संभवतः वह चाय भी पी सके और कोलंबस हमें अपनी दुनिया की सैर भी करा लाए।

माफ कीजिए अगर हम किसी के विचार पर नहीं जाते तो उससे मिलना महज औपचारिकता है मैं नहीं कहता आप वहीं रहें किंतु इस नायाब नायक की महान खोजों और आविष्कारों की दुनिया तक जाने की कोशिश नाजायज नहीं लगती। आखिर कितनी देर से इस एक लम्हे की प्रतीक्षा की जा रही है। लीजिए बैठा-बैठा वो किधर चला—तो उसका सूक्ष्म शरीर बाहर आ रहा है। साथ वाला समझता है वो कहीं भटक गया है। छोड़िए, सूक्ष्म शरीर में वो बाहर आता है। देखिए मैं कोई तत्त्वज्ञानी नहीं—प्रभु बेजा सवाल न कीजिए। वो जा रहा है आइए चलें पीछा करें।

गजब हम क्या देख रहे हैं भईऽऽ···वो बिलकुल उसी तरह बोल रहा है जैसे भौतिक शरीर में "···पानी में डालो सब···क्या है ये पीला-पीला ···धूप है कि धरम···कि भरम···क्या समय है अभी घड़ी कैसी लगेगी इस रंग में···कैसा दिखेगा समय। पीलाऽऽ···नहीं ऊंट लगता है ऊंट···ऊंची ही है, ऊंची ही है, कुछ पीठ ऊंची, ऊंट की ऊंचाई से···नहीं दीवार है पीली दीवार···धर्म की तरह···मंदिर पीला होता है···फिर क्या गीला होता है ···आदमी का खून···याद आया बलराज साहनी गाता था— आदमी का खूनऽ···? आदमी का खून? ऽऽ···मस्जिद पीली नहीं होती क्यों···मस्जिद से मस्जिद तेरा रंग कैसाऽऽ···बड़ा फसादी सवाल है···आरक्षण जैसा··· आरक्षण करेंगे पूछा भी कभी?···तुम्हारा आरक्षण करें? जब जल जाएंगे

तब देखना···रोयेंगे साले और नहीं तो क्या सब कुछ जला डालेंगे···एक तरीका है यह भी···मनवाकर मानेंगे···हम हम हैं···आत्मदाह करेंगे··· मल्लो की अम्मा की तरह फैल जाएंगे···भाई साव···मनवा कर मानेंगे··· अंदर की बात है···अंदर की बात···समय-समय की बात···समय से बाहर थोड़े है···सब डूबा है इसमें···पीला समय···जैसे कोई पीला चश्मा पहन कर समय देखे ?···क्वींस कॉलेज की दीवार भी पीली दिखाई देती है··· क्वींस कॉलेज की दीवार-सा समय···समय-समय पर झरता रहता है··· कौन देखता है···कितना नोना गिरा···सिर्फ मांगने जानती है···नोने का भेद···नोने में शोरा होता है···बारूद बनाने के काम आता है शोरा··· बारूद यानी बम···बम गुरु का गोला हरऽ हरऽऽ···बम्ऽ बम्ऽऽ···वह जारी है।

उसी तरह सूक्ष्म शरीर में भी। यानी मरने के बाद भी आदमी की औकात नहीं बदलती। गजब हिसाब है साब, नहीं ऐसा कैसे हो सकता है जरूर कोई घपला है। छोड़िए वो जा रहा है, पकड़िए किधर चला।

क्वींस कॉलेज की दीवार गाड़ियों से डरती है। कांपती रहती है। गिर न जाए वह दीवार थामकर चल रहा है। दीवार पर नहीं लिखा है— यहां पेशाब करना मना है। इसलिए सब आजाद हैं। जितना चाहें करें जो चाहें करें···। भले नागरिक-सा सहनशील व सूंघता चल रहा है। उस वर्ष परीक्षा में प्रश्न पूछा गया था—अच्छे नागरिक के गुण ?

छुट्टा जवाब दिया था उसने। नितांत मौलिक उत्तर—"अच्छे नागरिक, अच्छे बच्चे होते हैं, लाइन में लगे रहते हैं। आंख नहीं मारते, न पैंट गीली करते हैं। करने से डरते हैं, मरने से डरते हैं, खड़े रहते हैं। गड़े रहते हैं, पेड़ों की तरह पत्थर सहते रहते हैं। गुरुजी, एजुकेशन इज नाट रिपीटीशन ऑव रिपीटीशन।" सो लात पड़नी ही थी पड़ी। थर्ड डिवीजन आया उस वर्ष। उसने दोस्तों से कहा, "क्या फर्क पड़ता है···अगर तीन डंडे मिलते हैं तो तीनों लो। एक-दो क्या लेना।" बस एम० ए० में उसने फर्स्ट क्लास की बोगी थामी। ताकि कहने को रहे—हमने भी देखी फर्स्ट क्लास। सनद रहे और वक्त जरूरत पर काम आए।

उन लोगों से भी उसने गर्व से कहा। इस तरह कि आदमी जब जागे तभी सवेरा समझो। आजादी आयी आधी रात उसने कब पढ़ी। कॉलिन्स महोदय भी कहां जानते थे उसकी भाषा।

"कितने फर्स्ट क्लास।"—उन्होंने पूछा।

"एक।"—उसने बड़े संतोष के साथ जवाब दिया।

"वो कैसे ?"—व्यंगालु हो उठे थे वे।

"मेहनत से।"—उसने बताया।

कुत्तों ने सियार देखा तो बहादुर बन गए—"भला किसकी ? हेड कीऽ···?" अब साफ समझ गया हमारा नायक, प्रतिवाद किया—"कत्तई नहीं। उसकी कोई बेटी नहीं थी।"

बस उसी तारीख से उसके कैलेंडर की तारीखें लाल रोशनाई में छपीं। हर दिन रविवार, हर दिन त्यौहार यानी वह अचानक अपने जीवन के अठ्ठाइस पतझर पार कर गया। कभी देखा है ? पतझर का नाच। शाम लाल कर रही है नंगे दरख्तों को। जंगल में पतझर का नाच है···हजारों पत्तियों की मौत ने जंगल को कैसा सजा रखा है ? हवा दर हवा···मौसम गुजरता है पत्ता-पत्ता बुहारता···वह खड़ा था। पत्तों-सा हल्का। सूक्ष्म शरीर-सा···।

छात्र सड़कों पर निकल आए हैं। वे उसे नहीं देख पा रहे। नारे लगा रहे हैं शोर···शोर···उफ सिर्फ शोर वो चीखना चाहता है—होश में आओऽ···चू।

चौक घनी हो गई है। शोर और बढ़ता है। पांव उलझते हैं। सड़क जाम···इन्कलाब ! जिंदाबाद !! छात्र एकता ! जिंदाबाद···मनोज कुमार की क्रांति ऽ···भारत टाकीज के रुपहले पर्दे पर, देखना न भूलें दोस्तो··· रोजाना चार शो···पुलिस बल की तानाशाही !···नहीं चलेगी ऽ···नहीं चलेगी !! पुलिस परेशान, जनता हैरान। जुलूस आगे बढ़ रहा है। हवा गर्म है। धूप तेज। वह दीवार को सम्हाल रहा है। दीवार सीधी खड़ी करके वह आगे बढ़ता है। लोगों के शरीरों से गुजरता हुआ। सूक्ष्म शरीर का चमत्कार। वह चौराहे के बीचोबीच खड़ा है। भूत की तरह···अब उसे कोई नहीं रोक सकता। वह प्रकट हो रहा प्रेत विद्या का चमत्कार···दिन-दहाड़े सारे विधानों को तोड़ता हुआ वह प्रकट होता है लोग अचानक उसे प्रकट होता देखते हैं चमत्कार कलयुगी औतार कल्कि देव···वे झुकते हैं देवता प्रकट भये···वह बोलता है—"दोस्तो आत्मा अमर है···" पहले ही वाक्य ने जादू-सा असर किया—"ये शरीर दुखों की खान है। शरीर छोड़ो ···उतार डालो ये बेहूदा कमीज···आओ आत्माओं की दुनिया में आओ··· लोग कमीजें उतार रहे हैं मानो आंटी उतार रही है, स्वामी अक्षयानंद उतार रहे हैं। सभी उतार रहे हैं। छात्रों ने नारे लगाए इन्कलाब ! जिंदाबाद !! रुपहली क्रांतिऽ !···जिंदाबाद···और उतारने लगे। शरीर रद्दी अखबारों की तरह फेंके जा रहे हैं।

"इसी शरीर ने पाप किया। ज्ञान का फल चखा। कैसा ज्ञान ? मृत्यु का ज्ञान ? अमर आत्माओ तुम्हें मृत्यु से क्या लेना। कपड़े उतारो उतार दो शरीर···हल्के हो जाओ फूलों की तरह। रंगों की तरह। रोशनी की तरह···धुत्त साली कविता हो गई···आत्मा को मुक्त करो···कविता हो जाओ दोस्तो··।" भीड़ में सन्नाटा है। प्राचीन पैगंबरों का जुलूस उसके सामने खड़ा है। दार्शनिकों के हाथों से उड़ रही हैं फाख्तायें। सेनानायकों की तलवारें टूट गई हैं। वे पश्चाताप कर रहे हैं। रो रहे हैं। कोई कह रहा है, कोई नहीं, धमाका ज्यादा जोरदार नहीं था। वो लोगों को सांत्वना दे रहा है—"कोई नहीं, तुम्हारे इरादे नेक थे···तुमने चाहा दुनिया तुम्हारी तरह नेक हो···कोई नहीं···रोओ मत। गाओ ··विश्व सरकार बनाओ। वह यूनाइटेड-नेशन में भाषण दे रहा है···इन्फ्रास्ट्रक्चर को बदलो सुपर स्ट्रक्चर गौण है। आत्मा जरूरी है। शरीर के क्या मायने ऽ···।"

विश्व सरकार ऽऽ···विश्व सरकार ऽ···लोग मंत्र की तरह दोहराते हैं। दुनिया बदल रही है। सड़कें धुल रही हैं। गटरों पर ढक्कन हैं। गंद नहीं है। पागल कुत्ते पकड़े जा रहे हैं। लोग खा रहे हैं। रूमाल से हाथ पोंछ रहे हैं। मोना आंटी चमकार मारती हैं। उसे नौकरी मिल गई है। वह कुत्तों का हिसाब-किताब रखता है।

अपनी कुर्सी से उठकर वह दफ्तर से निकल आया है। सड़क पर खूब-

सूरत सन्नाटा है। क्वींस कॉलेज के स्टॉप पर वो खड़ी है। इंतजार कर रही है।

"हलो, ब्लूऽऽ स्कर्ट···?" मजाक करता है वह।

"हलो, व्हाइट डॉग···?" वह मुस्कुराती है।

"कैसा चल रहा है ?"

"अच्छा, नहीं अच्छे से भी अच्छा।"

"आज जरा जल्दी है ?" वह बताता है।

"वो सामने वाला कौन है। देखते हैं, क्यूं ?" वह उत्सुक लगती है।

"डिंग डॉन्गऽऽ डिंग डॉन्गऽऽ—मकान के अन्दर घंटी बज रही है।

वो गाता है—"खुल जाऽ सिमऽ सिम।" दरवाजा खुलता है। तीनों हंसते हैं। तीसरा युवक है। "मुझे जरा जल्दी है"—तीसरा कहता है, "वो तुम्हारा इंतजाम कर देगी, क्यों ? ठीक है न।" वे खिलखिलाते हैं। देर तक बजती है उनकी हंसी···।

"कमरा काफी अच्छा था ?" वो कहती है।

"हां, वो बागेनवेलिया कैसा कमरे में घुस आई थी। सो एक्साइटिंगऽऽ···"—उसने तबीयत कहा।

"उफ् तुम तोऽ···अच्छा चलती हूं।" लड़की जा रही है। हवा में उड़ता है उसका स्कर्ट। ब्लू स्कर्ट···ब्लू स्काई···और न जाने क्या-क्या ब्लू-ब्लू वो गाता है। देर रात तक उसे नींद नहीं आती। मजे आते हैं। रूस-रूस उसे खयाल आता है। कैसा होगा रूसी आकाश। यूराल की पहाड़ियां··· एंडीज वो घूमने का विचार करता है। कभी-कभी उसका मन होता है। बच्चे बन जाएं। मगर आत्मा की उम्र होती है क्या। वह आवेदन पत्र लिखता है—"ट्रांसफर के लिए आवेदन पत्र।"

"क्या बात है यार ?"—टाइपिस्ट पूछता है।

"कुछ खास नहीं···बस जरा-सा फिजिकल लेबर"—वो बोलता है।

"कोई और कारण ?"

"नहीं बस इतना कि पैसे बच जाते हैं, कहां खर्च करूं ?"

"साइबेरिया का एक आदमी आना चाहता है इधर, जाओगे क्या ?"

"यानी सफेद भालुओं का हिसाब-किताब ? क्यों ?" उसे हंसी आ जाती है···

'एरोफ्लोत' की सर्विस काफी सुधर गई है। विमान से खूब दिखती है धरती। शहर शानदार लगता है। सीढ़ियां उतरकर वह प्रतीक्षालय पहुंचता है।

"नमस्तेऽऽ मैं आपके लिए हूं।"—गाइड उसे बताती है।

"तो आप हैं, खूब ! आपसे मिलकर खुशी हुई।"

"मुझे भी। उधर कैसा चल रहा है, सुना यूरेनियमऽ···?"

"मिला है असम में···वहां की चाय पी है ?"

"जरूर, अभी पिलाती हूं।"

"नहीं, अभी नहीं। पहले आराम करेंगे।"

"गर्म मुल्कों में आराम बहुत करते हैं क्यों ?"

"इतना तो नहीं···दरअसल काम ही नहीं होता था तब।"

"ये तो है।" दोनों आगे बढ़ आते हैं उसे नींद-सी आ रही। जैसे कोई पुकारता हो। किसकी आवाज है···बहुत पहचानी-सी···जैसे अपनी ही आवाज···चौराहे पर छोड़ आया था उसे। वही बुला रहा होगा···बहुत तेजी से वो पीछे भागता है एक झटका-सा लगता है जैसे बिस्तर पर गिरते हैं। वो अपने हाथ-पांव देखता है।

"सब ठीक है···कोई नहीं।" वह ट्रेफिक पुलिस को समझाता है। सड़क खुल गई है। पुलिसवाला उसे किनारे छोड़ जाता है। घर चलना चाहिए ···अब बहुत देर हो गई। सुम्मी रास्ता देखती होगी।

लड़के उसे देखते हैं। हुऽहुऽऽ करते हैं। कपड़े नोचते हैं···'पागल··· पागल है' चिल्लाते हैं। पत्थर चलाते हैं। उसका सिर फट गया है। संस्कार···! संस्कार !! संस्कारों से छूटना इतना आसान नहीं होता— वह सोचता है।

सुम्मी सब देखती है। वही सड़क वही कुआं···वही लोग। सुम्मी का घर। सुम्मी सोचती है—कितना सीधा था। कविता लिखता था उसकी खातिर। हमेशा चुपचाप गुजर जाने वाला। इस पुराने शहर में कहां है काम···कहां जाता···होश गंवा बैठा···अब पत्थर मारते हैं इसे। कोई रोकता क्यों नहीं···मर जाता तो ही···इसे मर ही जाना था···फैसला कर लिया। सुम्मी उसे रहने नहीं देगी ऐसी दुनिया में। सुम्मी मारेगी। बिलकुल मार डालेगी। सुम्मी ब्रेड में जैम लगा रही है। टिक टेवंटी पुल गया है जैम में। जहर नजर नहीं आता। नहीं, चूहे मारने की दवा मिला दूं··· सुम्मी मिलाती है। पक्का···मर ही जाना चाहिए इसे।

वो रोटी देखता है। सुम्मी को देखता है। आंसू देखता है। जहर नहीं देखता, "सुम्मी रोती क्यों है उसकी समझ में नहीं आता। ये औरतें रोती क्यों रहती हैं हमेशा। सुम्मी कितनी अच्छी है।" वह सोचता है।

"भौंऽऽ भौंऽऽ भौंऽऽ···"—कलुआ भौंकता है। उसे भूख लगी होगी।

"ले तू ही खाऽ"—वह रोटी उछाल देता है। सुम्मी सहम गई है। डरकर दरवाजा बंद कर लिया है उसने। दरवाजे के पीछे कौन रो रहा है। कलुआ ने रोटी लपक ली। पूंछ हिलाई और कूड़े पर जा मरा। कलुआ रोटी खाता है। वो देख रहा है···कलुआ पागल नहीं है अभी इसे पकड़ना ठीक नहीं। कमीज फाड़कर वह उसके गले में पट्टा डालना चाहता है। कलुआ बेचैन है। शायद उसे आजादी बहुत पसंद है। नहीं वह उसे पट्टा नहीं डालेगा। "नहीं, तू आजाद ही भला।"—वह कलुआ से कहना चाहता है। मगर कलुआ नहीं समझता। उसका पेट दुखता है। आकाश की ओर मुंह उठाकर कलुआ रोता है—ऊं ऊंऽऽ ऊंऽऽ···

कलुआ के मुख से गिरती है लहू की बारीक रेख। उसकी देह कांपती है। जमीन पर पंजे रगड़कर ऐंठती है देह···कलुआ उड़ता है। वह देख रहा है। सुम्मी रो रही है। सबकुछ समझ गया है वह। बंद दरवाजे की ओर शिकायत से देखता है वह। और कलुआ के साथ लेट जाता है। ऐंठने लगता है उसका हृदय और उड़ निकला वह भी। एक दो तीन चार··· सात आकाश। सात रंगों के पार निकल आए हैं दोनों। कलुआ खुश है। वह खुश है।

'बैकुंठ धाम'—कार्यालय के आगे साफ लिखा है।

'अच्छी जगह' वह सोचता है। लोग लाइन में लगे हैं। उनका नंबर

आ गया है ।

"किसका कुत्ता है ।" सुर्ती थूककर पूछता है दरबान ।

"मेरा नहीं है जीऽ···बस हम दोनों साथ ही आए ।" वो हकलाया ।

"धर्मराज बनता है ? कुत्ते के साथ जाएगा ?"—दरबान ने फटकार लगाई । धर्मराज बाहर निकल आए । उनकी गोद में कुतिया है । कलुआ प्रसन्न हो गया । हल्के से भौंककर उसने उपस्थिति जताई । कितनी हिकारत से देखा कुतिया ने । कलुआ समझ गया । कुतिया ने धर्मराज के सीने में मुंह छुपा लिया—"कुत्ता, कहीं काऽ···।" कलुआ का दिल टूट गया । धर्मराज मुस्कराये—ठीक है, आवेदन कर जाओ । फिलहाल नोवेकेन्सी··· नहीं, बिलकुल नहीं । नर्क में भी जगह नहीं है । बड़े-बड़े खड़े हैं लाइन में नेता, वकील, डॉक्टर, अधिकारी आप क्या हैं ? रिफ्यूजी भी तो नहीं है ? आप समझिए कुछ···" पैरों के नीचे से आसमान खिसक गया । गिरे दोनों आकाश-दर-आकाश वो उड़ता है । उसके पीछे धुवां तक नहीं छूटता—रॉबिन हुड बन गया वह । कलुआ दौड़ता है उसके पीछे । वह उड़ता है बहुत पीछे छूट गया है कलुआ। अंतरिक्ष से देखता है वह···सुम्मी रो रही है । धर्मराज अंदर चले गए हैं । धरती खींच रही है उसे ।

कलुआ की लोथ करीब ही पड़ी है । ऐंठ-ऐंठ कर फूलने लगा है उसका दम । ऊब कर उठ खड़ा होता है वह । कलुआ चला गया हरजाई···। बंद दरवाजा जरा भी नहीं हिलता ।

ऊंचा उठ आया चांद । आधी रात का समय । "आधी रात···आधी रात का चांद और शहर का चौक ।" एक अजीब-सा खयाल आया और डूब गया ।

चंद्रशेखर आजाद की श्वेत मरमरी पीठ चमकती है चांदनी में ।··· "शानदार प्रतिमा···शानदार यादगार···देश के लिए प्राण दे दिए···विश्व सरकार बनाई है हमने भी···।" उसने सोचा । कपड़े उतार कर खड़ा हो गया वह प्रतिमा की बगल में ।

शहर सो रहा है बेखबर । दूर चौकीदार की लाठी बजती है—जागते रहोऽऽ । प्रतिमा आपत्ति नहीं करती । वह सोचतता है कैसा लगता होगा प्रतिमा को उसकी बगल में खड़े होकर । काली करकट काया का जोड़-तोड़ चमकता है चांदनी में । दांत चमकने लगते हैं, आंखें चमकती हैं अपनी महान सफलता के उपलक्ष्य में । निर्विकार है प्रतिमा । उसकी काया सिहरती है वृक्ष की टहनी-सी । चौकीदार के चेहरे पर गिरती है उसकी कांपती छाया । सिर उठाकर देखता है वह हमारे महान नायक को । चमकती आंखों और दांतों का श्वेत भाव काली करकट काया हेऽ महादेवऽ··· चीखता है चौकीदार । घिग्घी वंध जाती है उसकी । सीटी घुस जाती है हलक में आखिरकार बजकर शांत पड़ जाती है—सूंऽऽ ऊंऽऽ ऊंऽऽ···।

···अगले दिन चौकीदार की रहस्यमय मृत्यु की खबर शहर को चौका देती है ।

(पृष्ठ ८० का शेषांप)

"अच्छा !"

"सारा संसार मूर्तिपूजक है," रब्बी बड़बड़ाये, "वे ईश्वर गढ़ते हैं और उनकी पूजा करते हैं ।"

"यहूदी भी ?"

"हर कोई ।"

"ओह, तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है ।" हिंडे शेवास कुछ क्षण खड़ी रही, उन्हें घूरती हुई, फिर अपने कमरे में चली गयी ।

रब्बी पूरे कपड़े पहने ही बिस्तर पर लेट गये । लगा शक्ति जा रही है—शनैः-शनैः नहीं बल्कि एकदम, तत्काल । बिलकुल अनजानी एक लौ दिमाग में फड़की । हाथ-पैर सुन्न पड़ गये । तकिये पर पड़ा सिर भारी हो गया । कुछ क्षण बाद रब्बी ने एक पलक उठायी । मोमबत्ती जलकर खत्म हो गयी थी । पौ फटने के पूर्व का, कोहरे से कटा-फटा और धुंधलाया चांद खिड़की के पार दिखायी दिया । पूरब में आकाश पर ललिमा उभरी "कोई है जरूर" रब्बी फुसफुसाये ।

बेशेव के रब्बी और ईश्वर के बीच जंग खत्म हो गयी ।

अनुवाद : इंदुप्रकाश कानूनगो

दीवार

□ जमाल हसन

मैं जिस दीवार का जिक्र करना चाहता हूं, वह न तो चीन की दीवार थी, न यरुशलम की, न कोई शहरपनाह, न फसील। वो ऐसी दीवार थी जो हर शहर, हर कस्बे और हर गांव में होती है। जिससे गुजरना हर शख्स को लाजिमी होता है। मेरे लिए भी था। यह अलग बात है कि मुझे शुरू से दीवारों से नफरत रही है। मुझे खुली फिजा अच्छी लगती है। कभी-कभी तो मुझे लगता था कि मैं पिछले जन्म में कोई जिप्सी था, 'हालांकि पिछले-अगले जन्म पर मेरा विश्वास नहीं है। कम-से-कम मैं जिस धर्म में विश्वास करता हूं, उसमें इस तरह के विश्वास की गुंजाइश नहीं है।

मैंने उस दीवार को पहले-पहल कब देखा, अपने दिमाग पर जोर लगाऊं तो याद पड़ता है, तब मैं बच्चा था। मेरी मां मक्खन की डली मेरे मुंह में डाल कर बड़े अक्षरों वाली एक किताब, एक तख्ती, एक दवात जिसमें काले धागे भरे होते थे और काली स्याही तैरती रहती थी, सरकंडे की एक कलम मुझे थमा देती थी। इसके साथ ही एक छोटी छैनी व हथौड़ी थमाना भी वह न भूलती थी और यह नसीहत देना भी न भूलती थी कि उस दीवार को भेदने के लिए छैनी व हथौड़ी बड़े काम के औजार हैं। इन्हें कभी मत खोना। हमेशा अपने पास रखना और दीवार में छेद करते रहना। ऐसा नहीं करोगे तो तुम पिछड़ जाओगे जैसे कि तुम्हारे बाप पिछड़ गए थे।

मैं मां की सीख को गांठ में बांध लेता और हर मुमकिन कोशिश करता कि उस दीवार में सूराख कर दूं, लेकिन यह मुमकिन नहीं था। दीवार इस कदर लंबी-चौड़ी थी कि उसका अंदाजा करना भी मेरे नन्हे दिमाग के लिए मुश्किल था। यूं समझ लीजिए कि हद्दे-नजर तक फैला आसमान ही दीवार की शक्ल इख्तियार कर गया था। उस दीवार के दामन में कीड़ी दल की तरह लोग अपनी-अपनी तरह सूराख करने में जुटे हुए थे। उम्र की कोई कैद नहीं थी। आप कभी पत्थर की खदानों में गए हों तो वहां की लगातार ठुक-ठुक की आवाज आज भी आपके कानों में गूंज रही होगी। कुछ वैसा ही समां होता था।

मैंने पहली बार छैनी को उस दीवार पर रख कर हथौड़ी से चोट की तो टन्न की-सी आवाज हुई, लेकिन सूराख तो दूर, उस पर निशान तक न पड़ा। मैंने दूसरी चोट मारी। फिर टन्न की आवाज हुई। मैंने घबरा कर पीछे देखा। मेरी मां हमेशा हर काम में मेरी मदद करती थी, पर वह वहां नहीं थी। मैं रुआंसा हो गया। तब एक बूढ़े का झुर्रीदार हाथ।···जिस पर सफेद रोएं थे···आगे बढ़ा। उसने मुझे दिलासा दिया। मेरे सिर पर हाथ फेरा और मुझे समझाया कि यह दीवार तो सारी जिंदगी तुम्हारे सामने रहेगी। इससे घबराना बिलकुल न चाहिए। देखो, मैं अस्सी बरसों से लगा हुआ हूं और जरा भी न थका। यों दिखने में बूढ़ा दिखता हूं। फिर उसने मेरी छैनी-हथौड़ी से एक चोट की। पत्थर के कुछ जर्रे उछलकर बिखर गये। मुझे लगा, कि इस बूढ़े व मेरे उस्ताद के हाथ में कुछ ज्यादा फर्क नहीं है। उन्होंने भी इसी तरह कलम से 'अलीफ' बनाकर दिखाया था और कहा था···ऐसे !''

घर लौटकर जब मैंने मां को बताया कि आज मैंने दीवार में छेद करने की कोशिश की तो कुछ जर्रे उछले थे, जैसे हमारे मिट्टी के चूल्हे में लाल चटखती लकड़ियों में से अंगारे फूटते हैं तब मां बहुत खुश हुई थी और कहा था कि ऐसे ही लगे रहना मेरे लाल !

मैं लगा रहा लेकिन जल्द ही ऊब गया। मेरा मन खेलने-कूदने को करता था। मेरा मन कई बार करता था कि काश ! इस दीवार पर सीढ़ियां होतीं और मैं दीवार के उस पार खुले मैदानों, जंगलों में जा निकलता और खुली हवा में कुदड़ के भरता। लेकिन दीवार पर सीढ़ियां नहीं थीं। छोटे-बड़े सूराख बने हुए थे जिन पर लोग कब्जा जमाये हुए बैठे थे। उनको हटाना मुश्किल था।

वहां मेरे जैसे बेशुमार बच्चे थे। उनसे मेरी दोस्ती हो गयी। हम सब दीवार को कोसते थे। कोसते-कोसते हम खेलने लगते थे। दीवार के दामन में इधर-उधर हमारे बस्ते बिखरे हुए होते और छैनी-हथौड़ी हमारा मुंह ताका करती। जब बहुत देर हो जाती तो हम अपने-अपने बस्ते उठाते और घर की तरफ भागते। इस अफरा-तफरी में हमारे औजार बदल जाते लेकिन उसकी हमें खबर न लगती, क्योंकि उनमें हमारी रुचि न थी, जब कि कहा यह जाता था कि वे हमारी जिंदगी के लिए बहुत जरूरी हैं।

घर पहुंचते ही मां पूछती कि आज मैंने दीवार में कितना छेद किया। मैं अपनी नन्हीं उंगली की पोर को छूकर बताता कि इतनी। मां खुश हो जाती। कभी जब मैं झूठ बोलता तब भी मां खुश हो जाती और मैं दुखी हो जाता था। क्योंकि मैं नहीं चाहता था कि मुझे झूठ बोलना पड़े। दीवार हमें झूठ बोलना सीखाती थी। अगर दीवार न होती तो मैं कभी झूठ बोलना न सीखता। बिना झूठ बोले जीने का सुख मैं नहीं जानता।

धीरे-धीरे उस दीवार से मेरा एक रिश्ता कायम हो गया, बल्कि यह कहना दुरुस्त होगा कि दीवार मेरी आदत हो गयी। ज्यों-ज्यों मैं बड़ा होता जा रहा था और मेरी समझ बढ़ती जा रही थी, दीवार मेरे करीब आती जा रही थी। हालांकि मेरी उम्र के दूसरे लोग अपनी-सी करने को कुछ पल चुरा लेते थे और चंद लम्हों के लिए ही सही, दीवार को भूल जाते थे। मैं भूल न पाता था, क्योंकि मुझ में शुरू से जिम्मेदारी का अहसास नुमायां था। मुझे मां के हुक्म की तामील करनी थी क्योंकि मुझे बताया गया था कि मां के कदमों के नीचे जन्नत होती है।

माह-औ-साल तेजी से गुजरते जा रहे थे। मेरी छैनी व हथौड़ी का साइज बदलता जा रहा था। इसके साथ ही मां की झुर्रियों में भी इजाफा हो रहा था। में अक्सर यह सोचकर दुखी हो जाता था कि कहीं ऐसा न हो कि मैं जिस दिन दीवार को पूरी तरह भेद दूंगा, उस दिन मां इस दुनिया में नहीं होगी। मां मेरे दुख को समझती थी, इसलिए कहती थी कि इस दुनिया में हर शै फानी है। तेरे अब्बा की तरह एक दिन मैं भी चली जाऊंगी। लेकिन जाने से पहले मैं तेरे लिए एक प्यारी-सी दुल्हन का बंदोबस्त कर जाऊंगी ताकि तुझे अकेलेपन का अहसास न हो। वह तसब्बुर की आंखों से मेरे चेहरे पर सेहरा देखती और मैं सोचने लगता, मेरा इस कदर खयाल रखने वाली फरिश्ता-सिफत मां के जनाजे को एक दिन मुझे कंधा भी देना पड़ेगा। काश, मुझे वह दिन न देखना पड़े। मैं हर सुबह मां को जिंदा देख लेता तो समझता, मेरी दुआ कुबूल कर ली गयी है। मां मेरी लंबी उम्र की दुआ करती तो मैं रुआंसा होकर कहता, ऐसी दुआएं तुम अपने लिए भी किया करो अम्मां ! तुम्हारे बगैर मेरा जीना बेमानी होगा। मैं तुमसे हूं। मां कहती, मैं अपनी उम्र जी चुकी हूं बेटा। तेरी दुल्हन के लिए जगह खाली करनी ही होगी मेरे लाल !

मैं मां से रूठकर घर से बाहर चला जाता या उस दीवार की तरफ जो मेरी मुंतजिर होती। ऐसा लगता, वह मेरी एक और मां है जो अपने आगोश में लेने के लिए अपनी बाहें हमेशा खुली रखती है।

कई बार मैं उस दीवार से कई-कई दिनों के लिए दूर हो जाता। जैसे एक बार, जब मैं जवानी की दहलीज पर कदम रख चुका था और कॉलेज में दाखिला ले लिया था, कॉलेज ट्रप के साथ मुल्क के दक्षिणी हिस्से में चला गया था। अपने शहर में हजारों मील दूर··· समुद्र के किनारे खुनक हवा में सैर करते हुए, एक बिलकुल अनजान संस्कृति को कौतूल से देखते हुए और आबदार सांवले चेहरों को ताकते-ताकते मैं भूल ही बैठा कि मैं एक दीवार का कैदी हूं। मैं घबरा कर अपने सफरी बैग में छैनी-हथौड़ा टटोलने लगता, लेकिन मेरी उंगलियां टूथब्रश, टूथपेस्ट और आईने से टकरा कर रह जातीं। और मैं खुश हो जाता। मैं दुआ करता कि मेरे सफरी बैग में हमेशा मेरी उंगलियां टूथब्रश, टूथपेस्ट व आईने से टकराती रहें और मैं हल्का-फुल्का बना रहूं और मौज-मस्ती में दिन गुजारता रहूं। लेकिन ऐसा हमेशा के लिए मुमकिन नहीं होता। यही हमारी नियति है दीवार हमारी किस्मत है।

मेरा नौकरी पर लग जाना और दीवार में से एक बड़ा टुकड़ा··· चट्टाननुमा···काट निकालने का अमल एक साथ हुआ था। मैं यह देख कर हैरान रह गया कि उस चट्टाननुमा पत्थर को हटाने के बाद अंदर से भुरभुरी दीवार निकल आई और उसे छेदना ऐसा मुश्किल न था। अब मैं अपनी मंजिल तक पहुंच जाऊंगा और दीवार से निजात मिल जाएगी। भुरभुरी मिट्टी आसानी से हटती चली गयी और वक्त रेत की तरह अंधेरे में गिरता रहा।

मुझे होश तब आया जब मेरी दुआओं के बावजूद एक दिन मेरी मां ने हमेशा के लिए आंखें मूंद लीं। मेरा हौसला मेरे हाथों से जाता रहा। मैं फूट-फूट कर रोने लगा और थोड़े दिनों बाद शांत हो गया, क्योंकि मेरी बीवी ने मेरी मां की जगह ले ली थी। मां बिलकुल ठीक कहती थी।

अगले कुछ सालों में मां की याद एक कसक बनकर रह गयी। यादें पीछा छोड़ देती हैं लेकिन···वो दीवार···मैं आपको यकीन दिलाना चाहता हूं, वह अब भी मेरा पीछा कर रही थी, यानी मेरे हवास पर छायी हुई थी। मैं बदस्तूर उसे छेदने के अमल में जुटा हुआ था। मुझे बार-बार लगता था, उस दीवार को आर-पार छेदना ही दरअसल मेरी जिंदगी का मकसद है, बाकी सब बेमानी है।

मेरी बीवी निहायत हसीन-जमील थी। मैं जब भी उसे देखता, मां याद आती थी। मांएं अपनी औलाद का किस कदर खयाल रखती हैं ! मैंने बीवी से टूटकर मुहब्बत की। उसे कीमती नगीने की तरह संभाल कर रखा। उसने भी बदले में मुझे कई नगीने दिये।

बच्चे परवान चढ़ने लगे। उसके साथ ही मैं तरक्की की मंजिलें सर करने लगा। मुझ पर एक धुन सवार थी। कुछ कर गुजरने की, यादों का लश्कर, कारनामों का बेश बहा खजाना पीछे छोड़ जाने की···और मैं कामयाब होता जा रहा था। इस धुन में अपने आप को देखना छोड़ चुका

था। नजर जब हरीफों पर हो तो कौन कमबख्त अपने आप को देखता है ! यूं मैं रोज आईना देखता था। हमारे बच्चे भी आईने जैसे ही थे और मेरी बीवी की हसीन आंखें भी आईना थीं गोया पारदर्शी झीलें हों, मगर उन झीलों में डूबने का अंदेशा रहता था।

मैं तो यूं ही एक बार फिर सफर में था तब सफरी बैग के आईने ने मुझे सचेत किया। होटल के सुनसान कमरे में वह आईना पहली बार अहसास करा गया कि अब तुम सफर की आखिरी मंजिल में हो। मुझे अपने मरहूम दादा का झुर्रीदार चेहरा अपना-सा लगा। मेरे सिर के बाल झक सफेद हो चुके थे और कई दांत अपने ठिकाने पर न थे।

सफर से लौट कर मैंने अब तक काटी गयी दीवार की नाप-जोख शुरू की। मुझे अंदाजा हुआ कि अब दीवार का जरा-सा हिस्सा बाकी रह गया है और जरा-सी कोशिश से वह जरा-सा हिस्सा मेरे रास्ते से हट जाएगा फिर पता नहीं, कैसा मंजर मेरे सामने होगा ? फिर मेरे लिए क्या काम बाकी बचेगा ? जब करने को कुछ न हो तो मैं हमेशा उदास हो जाता हूं।

मैंने अपनी रफ्तार धीमी कर ली। मैं खौफजदा हो गया था। मैं एक-एक पल समेटने में लग गया। वह दीवार का जरा-सा हिस्सा मुझे चुनौती देने लगा। मैं जरा-सी कोशिश से थककर चूर हो जाता और वही दीवार के कोने में सो जाता। वह पुरसुकून जगह थी मगर मुझे लगता, वह कब्र की तरह अपनी आगोश में समो लेने के लिए सिमटती जा रही है। मैं हड़बड़ा कर उठता और डगमगाता हुआ पहुंचता।

मेरी बीवी मुझे दिलासा देती। वह मुझे तम्बीह करती कि मैं दीवार की फिक्र छोड़ दूं। आखिर दीवार ने मुझे दिया ही क्या था ? उल्टे उसने मेरा सहज जीवन छीन लिया। उससे मेरी उदासी देखी नहीं जाती। मेरे बच्चे उस दीवार की कतई परवाह नहीं करते थे और खुश थे। वह नई जेनेरेशन किसी दीवार में यकीन नहीं रखती थी, इसलिए मैं भी उनके किसी यकीन के दायरे में नहीं था। इस बात ने मुझे बहुत सदमा पहुंचाया।

एक रोज मैं अल्लसुबह दीवार के दामन में गया और खोदी गयी दीवार की खोह में घुसता चला गया। मैं रात-भर का जागा हुआ था नींद मेरी बोझिल पलकों पर विराजमान थी। मैं ठीक तरह आंख खोल नहीं पाता था। मैं लम्हा-दर-लम्हा एक अजीब-सी कमजोरी महसूस कर रहा था। मैं दीवार के आखिरी सिरे पर पहुंच गया और हौले से जर्ब लगाई। मुझे पहला दिन याद हो आया, तब एक बुजुर्ग ने मेरी मदद की थी। आज कोई मेरी मदद को आगे न आया, दूर-दूर तक सन्नाटा था।

मैं आपको फिर यकीन दिलाऊं कि वह हल्की-सी जर्ब ही आखिर चोट साबित हुई। उस जर्ब के साथ ही दीवार का बकिया हिस्सा बालू रेत की तरह बिखरता चला गया और उसके साथ ही मैं यकलख्त हवा की मानिंद हल्का हो गया। मेरे सामने ऐसी रोशनी थी जो पहले कभी देखी न थी। मैं उसकी तरफ कौंदे की तरह लपका। मैं फरहत महसूस करने लगा। मैं खला में उड़ रहा था। अब एक-एक चीज मेरी गिरफ्त से निकल चुकी थी।

अब मैं था। वह रोशनी थी। खला था। क्या वह खला ही मेरी उपलब्धि थी ? वह दीवार क्या थी ? मेरी मां, मेरी बीवी, मेरे बच्चे, मेरा सारा माल मत्ता, मेरी दोस्तियां, मेरी दुश्मनियां वे क्या ख्वाब थीं···या ये ख्वाब है ?

क्या वाकेअतन मैं मर चुका हूं ? अगर मर चुका हूं तो यह कहानी कौन लिख रहा है ?···यह अजीब-सी गुत्थी है, कभी सुलझा सका तो बता सकूंगा। फिलहाल तो यह बताना चाहूंगा कि खला में धुएं की एक नई दीवार मेरे आगे उठ रही थी और मेरे हाथ खाली थे। मैं सब कुछ तो जमीन पर छोड़ आया था।

□ महेश आलोक

[प्रारंभ की चार कविताएं हिंदी अकादमी द्वारा आयोजित 'काव्य संध्या' में पढ़ी गयीं।]

इस बार

बदल गया पूरा का पूरा दृश्य
इस बार
सड़क पार करती साइकिल ने
आदमी को खूब झिड़का
कि सड़क देखकर पार करे

घरों ने आदमी के भीतर की
सारी जमीन
खरीद ली रहने के लिए

खेतों ने सरकार से अच्छी नस्ल का
आदमी मांगा
सब्जी मंडी में गोभियों ने मिलीभगत की
और आदमी खूब सस्ते में बिका

शराब ने एक पूरा पैग आदमी पिया नीट
बल्ब ने स्विच दबाया और
आदमी जल उठा

सपने ने मना कर दिया देखने से आदमी
शब्दों ने नयी इबारत में आदमी लिखा
इस बार

अमृता शेरगिल के चित्र में दो औरतें

वे दो हैं और चुप हैं
चुप हैं भीतर के ठोस और अंधेरे जितना गाढ़े शोर में

वह जो बैठी है सड़क की नींद में नींद को
भारी अंगुलियों से घुटने की नसों में
लगभग हल्का करती हुई
हरे बल्ब की तरह उसके माथे पर चमक रही हैं पत्तियां

पत्तियां घुल रही हैं तलवों के नीचे दबी पृथ्वी के
चमकदार खून में
तलुवों से होकर पृथ्वी
ठीक पहुंच रही है वहां जहां इंतजार करती है वह
सड़क के छोटा होने का

सड़क भी देखती है सपने नहीं पता उसे

रात की चमड़ी जितनी काली त्वचा के भीतर
सफेद खून की तरह पिघलती है दूसरी
वह पी रही है शरीर की लंबाई जितना दुख

अंतिम सच की तरह कलाइयों में फंसी लोहे की चूड़ियां
बज रही हैं

अंगुलियों और होंठों के पीले-सफेद सम्वाद में

और ठीक इस समय यह सोचना सुखद है कि पत्तियां
जो और गाढ़ा होकर चमक रही हैं पहली की साड़ी पर
न चाहते हुए भी कर रही है उसका स्पर्श
दूसरी

स्पर्श की अलग-अलग भाषा में
वे दो हैं और चुप हैं

मोमबत्तियां

वे मना कर रही थीं एक दूसरे को
बतियाने से
वे चल रही थीं किसी मौन जुलूस में

चमक रहे थे चेहरे
उनकी रोशनी में लाल गुलाब की तरह

वे जल रही थीं
हवा को साफ मना कर दिया था उन्होंने
कम-अज-कम आज वह
अपनी दनदनाती साइकिल लेकर न गुजरे
उनकी बगल से

वे बतिया रही थीं आग से
कि एक दूसरे की जीभ तक न समझ पाए इसका रहस्य

सब कुछ ठीक चल रहा था
कि अचानक मना कर दिया जलने से
मोमबत्तियों ने
किसी पूजा घर से आयी पृथ्वी के
रोने की खबर

सबने देखा
ईश्वर जल रहा था
और बुझी पड़ी थीं
मोमबत्तियां

यही मेरा घर है श्रीमान्

आइए अपना घर दिखाएं श्रीमान
दिखाएं अपने सपने

आप जरूर सोच रहे हैं इस पैर के निशान के बारे में
बारिश रात भर करती रही कत्थक दीवारों के बुखार
और बिस्तरे की निमोनिया में
निशान उसी के हैं
पता नहीं बारिश को किसने बताया कि
मैं संगीत प्रेमी हूं

देखिए खिड़की का पल्लू पहले से ज्यादा ढीठ
और नालायक हो गया है।
अब हवा को भी शरम-लिहाज नहीं है
तो मैं क्या करूं

घर की सारी चीटियां बैठी हैं कूड़ेदान में
गरियाती हैं कि पड़ोसी भी सुनें
भला कितनी देर तक रख सकती हैं वे
अपने पेट में
खाली कनस्तर

अब तो ससुरा ताला भी ऐंठ रहा है
अभी कल ही धमकी दे रहा था
कि भाग जाऊंगा किसी सेठ या नेता की नींद में
वैसे उसका गुस्सा भी जायज है
अपमानित महसूस करता है वह
करते हुए
चौकीदारी

मुझे भी अच्छा लगता है
पत्नी का सपने में आना चिकोटियां काटना
कितनी दूर मायके से आती है वह
अबकी मना कर दिया
बच्चों समेत

घर में जितना अंधेरा है उतना दुख
और उतने ही सपने मेरे पास और बचे हैं

उसी की चाय पिलाते हैं आपको

अरे भाग कहां रहे हैं श्रीमान
सुनिए तो !

दूरदर्शन की समाचार वाचिकाएं

वे खूब प्रसन्न स्त्रियां हैं
(उनके साक्षात्कारों से यही निष्कर्ष निकलता है)
जितना प्रसन्न दिखती हैं आमतौर पर
समाचार पढ़ते समय

वे ठेठ घरेलू किस्म की स्त्रियों से थोड़ा अलग हैं
अलग दिखती हैं
दैनिक दिहाड़ी पर काम करने वाली ये स्त्रियां
कलाकार स्त्रियां नहीं हैं

संभव है उनमें से कुछ स्त्रियां
ठीक समाचार पढ़ते वक्त चुप रहती हों
अपने भीतर के ठोस अंधेरे में
उनकी चुप्पी चीखती हो किसी अदृश्य नब्ज पर
अंगुली रखती हुईं
पर इस संभावना को अपवाद मानना ही उचित है

वे खूब प्रसन्न स्त्रियां हैं
उनकी नाक और त्रिनेत्र वाली जगह से थोड़ा नीचे
दबी हुई जमीन के आसपास
जब कभी बैठती हैं मक्खियां मैं सोचता हूं
उनके पूरे व्यक्तित्व को खोलने के लिए
अखबारों में
मक्खियों का साक्षात्कार छपना भी जरूरी है
उनकी बातचीत के साथ

यह बता पाना आसान नहीं है
कि उनकी जीभ और तालू और दांतों के आपसी रिश्ते में
रिश्ते में फंसी
समाचार संपादक की भाषा की बासी आंच में
बैठी रहती हैं जब दुनिया की मशहूर हस्तियां
वे क्या सोचती हैं
क्या नहीं सोचती हैं

चूंकि वे अलग दिखती हैं
और कलाकार स्त्रियां नहीं हैं इसलिए सोच सकती हैं
कि सभी स्त्रियां अपने वार्तालाप में जरूर करती होंगी तुलना
उनकी साड़ियां गले की नेकलेस या सलवार दुपट्टे की
पिछली बार से
हर बार की तरह
इस संदर्भ में यह सोचना गलत नहीं लगता
कि वे जरूर चाहती होंगी
कि सड़क और हवा और आसपास की पूरी लय
थोड़ा-सा गड़बड़ाए
सड़क पर उनकी सदेह उपस्थिति से

(उनका सड़क पर निकलना कोई घटना नहीं है)

संभव है बाहर निकलने के पूर्व
वे बना लेती हों जनता की हड़बड़ी का पूरा चित्र
अपने मस्तिष्क में
कि लोग घर या दफ्तर पहुंचकर आश्चर्य की तरह बताएंगे
कि हमने अमुक को बिलकुल करीब से देखा है आज
कि फलां समारोह
उस खास के संचालन मात्र से दमक रहा था
एकाध उत्साही जन इस खुशी में मिठाइयां खिला सकते हैं
बच्चों को

वे खूब प्रसन्न और अघायी हुई स्त्रियां हैं
क्या पता प्रसन्नता के नशे में मगन
इस पूरी कविता को ही खारिज कर दें
किसी अगले साक्षात्कार में

☐ चंद्रकला त्रिपाठी

उम्मीदें हाथ-पांव, दिल-दिमाग मांगती हैं

उन्हें,
किसी भी तरफ खिड़कियां खोल देने की तरह
संकरी और आसान लगती है जिंदगी
सपने और मुहावरे
उन्हें एक-सा डराते हैं
इसीलिए वे उनके बारे बात नहीं करतीं
उन्हें तकलीफ तो है क्योंकि उम्र सिर्फ
चंद साल नहीं होती
क्योंकि एक ही जिंदगी मिलती है—
जीने के लिए भी
मरने के लिए भी
यह भी मानने में कि इच्छाओं का ताप
जब कुछ नहीं पिघला सकता तो
नसों में जम जाता है
मगर फिर भी वे इन घटनाओं से
चुपचाप गुजर जाती हैं

वे जानती हैं कि बहुत कुछ किया जा सकता है
उम्मीदों के लिए दुआ मांगने के बजाय
मगर उन्होंने
उन्होंने ने हो—इस जनम की जरूरी
इच्छाओं को सहते हुए
आंचल में गिरह लगाई है

बचकाना तो है मगर तोड़ा नहीं जाता
अगले जन्मों के प्रति उनका विश्वास
शायद किसी सुदूर समय में
किसी मोड़ पर
वे खड़ी हो सकें
अपनी इच्छाओं के साथ
अपनी इच्छाओं के लिए।

उस आखिरी रात के सामने

मनुष्यता मेरे लिए एक निर्मम आरी हो गई है
बेआवाज चलती है आर-पार-खून की एक बूंद को
टपकाये बिना भी
हंसने नहीं देती—महीनों···सालों···उम्र भर
सोने नहीं देती—महीनों···सालों···उम्र भर···
एक मासूम बच्चे की तरह चली आई थी
उंगली पकड़े एक दिन

मेरे पास
मुझमें
वे दिन ?
उन्हीं दिनों तो बहुत अच्छे लगते थे दुनिया के सारे लोग
भोले और निष्पाप
याकि दुनिया की सिर्फ एक तह खुली थी मेरे लिए
या मेरी समझदारी की एक परत
वहीं से खुल गयीं कई सुरंगें
कई यातना गृहों के मुंह
कई पाताल—जहां पृथ्वी दम तोड़ रही है

किसका साहस है कि एक अदद पतंग पर सारा आकाश
थहाते बच्चे से
कह दे, कह दे कि—बहुत कम है तुम्हारी हंसी की उमर
मांओं से कह दे—इस खौफनाक दुनिया के खिलाफ बांझ
हो जाने के लिए
मेरे लिए बात इतनी-सी नहीं है, यानी सिर्फ मेरी नींद
मेरी थकान की कतई नहीं
मुझे उन प्रार्थनाओं की सांस उखड़ती हुई सुनाई दे रही हैं
जिनका जीवित रहना जरूरी था—कम से कम
उस आखिर रात तक
उस आखिरी रात के सामने अब हम निहत्थे हो रहे हैं
उसके, हां जिसे—कयामत की रात कहते हैं ।
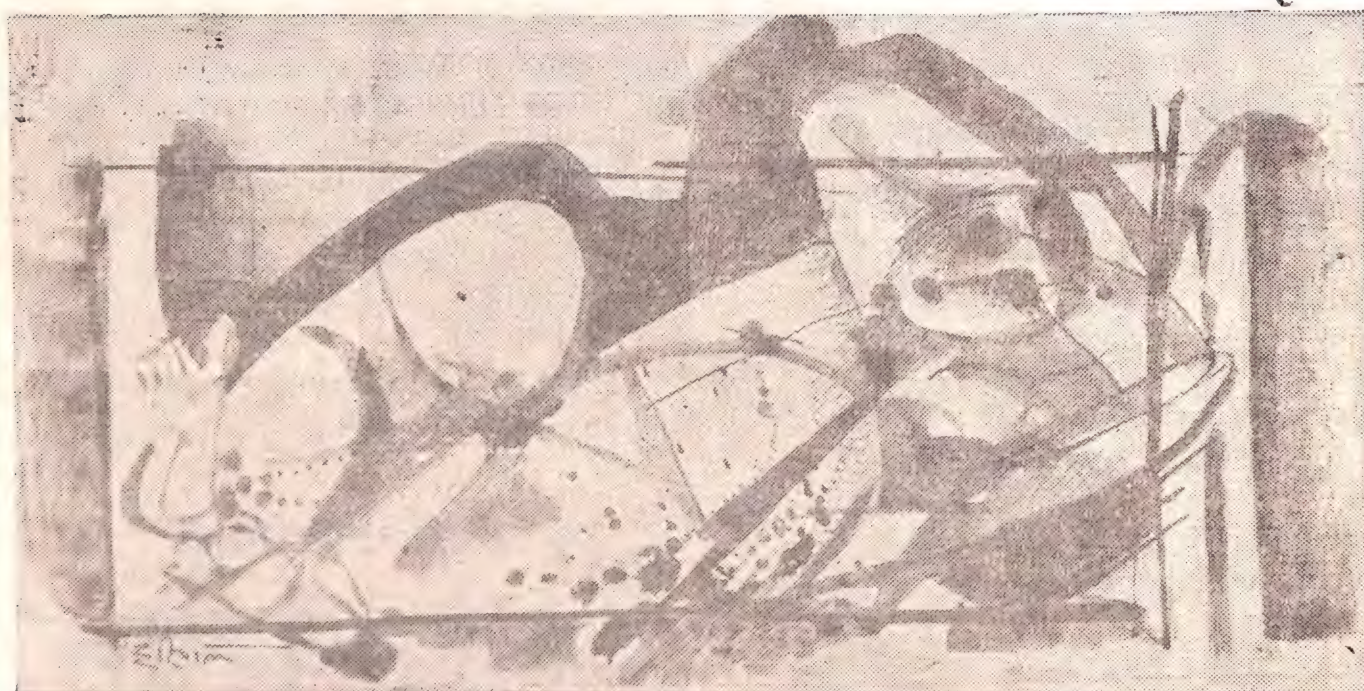
□ **राजेंद्र उपाध्याय**

कब होगा ऐसा ईश्वर

मैं निकलूंगा रोज की तरह अपने घर से
चारपाई पर धूप में सुस्ताते थके बूढ़े
वक्त पूछेंगे
एक बुढ़िया मांगेगी चंद सिक्के मोड़ पर
और राजा होने का आशीर्वाद देगी

बगल के पेड़ पर आज भी कोई फूल नहीं होगा
जीवन जस का तस होगा
मैं निकलूंगा जब अपने घर से रोज की तरह

कब होगा ऐसा ईश्वर
कि थके बूढ़ों को पता होगा अपने वक्त का
कोई मोड़ पर चंद सिक्के नहीं मांगेगा
और हर पेड़ पर होंगे फूल ही फल…

किरायेदार

किरायेदार एक दिन हर मकान छोड़कर चले जाते हैं
कुछ दिन उन्हें याद आती हैं उन घरों की लड़कियां
कुछ दिन उन्हें याद आती हैं गर्भवती स्त्रियां
जो उनकी आंखों के सामने मां बनीं
और जो अक्सर बीमारी में उन्हें अदरक की चाय
पिलाती रहीं
कुछ दिन उन्हें याद आते हैं वे बच्चे
जिनके लिए अक्सर कागज की नाव बनाते हुए
वे अपने बचपन में लौटते रहे

कुछ दिन याद आती हैं वे घुमावदार सीढ़ियां
जिन पर कभी कुछ खूबसूरत कदम चढ़े
उनकी आंखों के सामने

कुछ दिन याद आती हैं उस घर की दीवारें
और खिड़कियां
कुछ दिन आता है सपनों में वो घर

फिर अक्सर किरायेदार लौटते हैं उन घरों में
पूछते हुए मेरी कोई चिट्ठी तो नहीं है।

□ मान बहादुरसिंह

कलकत्ता में

कलकत्ता में
विक्टोरिया मेमोरियल के
साफ-सुथरे मैदान की सड़कों पर
बिछे संगमरमर के गोल चिकने
महादेव का एक टुकड़ा उठा
मेरी पत्नी छिपा रही थी

मैंने देख तो लिया
न कुछ कहा न हंसा
मगर भीतर-भीतर लड़खड़ा गया था
कि इस महानगर की
अति आधुनिक इस जगह में
क्या वह पैरों तले
बिखरा हुआ ईश्वर बीन रही है
और डर भी रही है
कोई देख न ले
उसके विश्वास को ?

बिखरना था, बिखर गए हमारे विश्वास
पर उन्हें सहेजना
झाड़ पोंछ उन्हें अपने एकांत में रखना
क्या गंवारपन भर है
जिससे डरा जाय
कि उन पर हंसा न जाय

अपनी पत्नी की डरी, लजाई
उन निष्पाप आंखों में
अपनी सारी आधुनिक सोच के बावजूद
ठमक गया था
कि इस कदर सहज, सरल और निष्पाप होना
क्यों गुनाह है ?

वह लड़की जो खूब हंसती है

वह लड़की बटनतोड़ हंसती है
लोटपोट हो जाती है
पेट पकड़ बैठ जाती है जमीन पर
कलेजा मुंह पर आ जाता है
मां डांटती है जितनी तेज
उतनी ही तेज हंसती जाती है लड़की

कैसी है वह लड़की
जिसकी हंसी संभाले नहीं संभलती
वह हंसती है तो हवा में आग लग जाती है
दहक उठते हैं पलाश
सरपत के झाड़ से
तीतर उड़ जाते हैं।

किस पर हंसती है वह लड़की
कि छोटे भाई के चढ़ गई है छिछनी
उसकी बेकाबू छींकों पर
पढ़ने लगती हैं हंसी की टापें—
कि उसकी मां फिसल गिर गई आंगन में
फूट पड़ता है हंसी का फव्वारा
बड़बड़ाती है मां कांखती हुई
तेज हो जाती हैं
हंस की बौछारें।

जब भभाकर हंसती है वह लड़की
हाथ का दिया बुझ जाता है
कमर पर रक्खी पानी से भरी गगरी
गिर फूट जाती है
फूटी गगरी निहार
उसकी आंखों से
हंसी छलक आती है।

मां गरियाती है
कैसे रहेगी ससुर के घर ?
तोप-ढांक रह
लोहखरी जैसी क्यों खिखियाती है ?

जाने क्या होगा इसका
ऐसी हंसी
इसकी जिंदगी में आग लगाएगी
स्त्री के आंचल में
इतनी हंसी कभी नहीं समायेगी।

मगर वह लड़की अपनी हंसी में
सावन की पुरवइया-सी मुंइयालोट उड़ती है
जेठ की पछुआ-सी हहाती है
मां डरती है
ऐसी हंसी इसे उड़ा
जाने कहां ले जायेगी।

गजब है वह लड़की
कि लड़की की हैसियत को ठेंगा दिखा
मुंह बिराती है।

ऐसी हंसी इतनी सस्ती
कैसे पाती है वह लड़की
कि बनिए के उधार-सी बढ़ती ही जाती है।

दुख की कैसी भी आंच हो
बुदकी लेते गुड़ के कड़ाह-सी
मीठे-मीठे खदबदाती है—
दूध की तरह फफाती है
और अपनी हंसी में
बासमती चावल की तरह
अंचरे से छूट छींट उठती है।

□ सरिता सूद

मेरे शहर का आकाश

मेरे शहर का आकाश बहुत छोटा हो गया है।
सूरज उसमें समाता नहीं है,
धूप का उजला दान
मेरे शहर को भाता नहीं है।
इसी से सूरज कुछ देर

झांकता है सकुचाता-सा
थोड़ी-सी धूप बिखेर कर
शहर को देर से ही सही जागते देख
कुछ-कुछ मुस्काता है
और इससे पहले
कि सारा का सारा शहर जागे
और उसे खदेड़ने का षड्यंत्र रचे
चुपके से छिप जाता है।
फिर—
शहर के केंद्र में हलचल होती है
सूरज के दुस्साहस पर
सबकी चखचख होती है
तभी मुझे लगता है
मेरे शहर का आकाश
टुकड़ों में बंट रहा है।
फिर रात का आगमन।
वैसे यह बता दूं
मेरे शहर में रात का आना
अब कोई दुर्घटना नहीं रहा।
रात का अंधा उदर
आकाश के सब टुकड़ों को निगल जाता है।
तुम सोच सकते हो
कि चलो आकाश टुकड़े-टुकड़े नहीं रहा
यह क्यों नहीं सोचते कि
काली स्याह रात में वहां
आकाश ही न रहा।
तुम तसल्ली दे सकते हो
कि आकाश का न होना
टुकड़े-टुकड़े होते आकाश से तो अच्छा ही है।
तभी तो आकाश का अभाव
अब अभाव ही नहीं रहा।
मेरे शहर के लोग भूलते जा रहे हैं
कि शहर के जीवन में
अब आकाश ही नहीं रहा।
कितनी अजीब बात है।
मुझे तो आशंका ही थी

कि आकाश छोटा होता जा रहा है
अब तो सचाई यह है
वह शहर में अपनी पहचान ही खोता जा रहा है।
कितनी अजीब बात है।
मेरा शहर आकाश के बिना
मजे से जी रहा है—
जग रहा है—सो रहा है—
उसे पता ही नहीं चल रहा
कि जीवन में जो कुछ वह पा रहा है
उससे कई गुना खो रहा है।
वह देखकर भी देख नहीं पा रहा है
कि आकाश के बिना
खून पानी हो रहा है
मन काले हो रहे हैं—
और सड़कें लाल।
बागों में फूल नहीं
अंगारे खिल रहे हैं—
खेतों में अनाज नहीं
विनाश पनप रहा है—
अंधेरा रोशनी से ज्यादा सुविधाजनक हो रहा है।
भयंकर आवाजें और चीख पुकार सुन
मेरा शहर डोलता नहीं है
हंसी की आवाज से कांप उठता है।
घरों की खिड़कियां दीवारों में बदल चुकी हैं
और दरवाजे अंदर से बंद।
दरवाजे के पीछे छिपा चेहरा
हर दूसरे चेहरे को
शत्रु समझ कर खुश हो रहा है
उसे पता ही नहीं चल रहा
कि जीवन में आकाश के बिना
वह जीवन को खो रहा है।
हमें सोचना होगा—
इससे पहले कि शहर के शब्दकोश से भी
आकाश मिट जाए—
फिर धीरे-धीरे धरती भी छिन जाए—
फिर अधर में लटका शहर
महाप्रलय में खो जाए,
हमें सोचना होगा।
आकाश को पाने के लिए
कुछ तो करना होगा।
आकाश को पाना ही है—
टुकड़ों में नहीं—समूचा पूरा का पूरा।
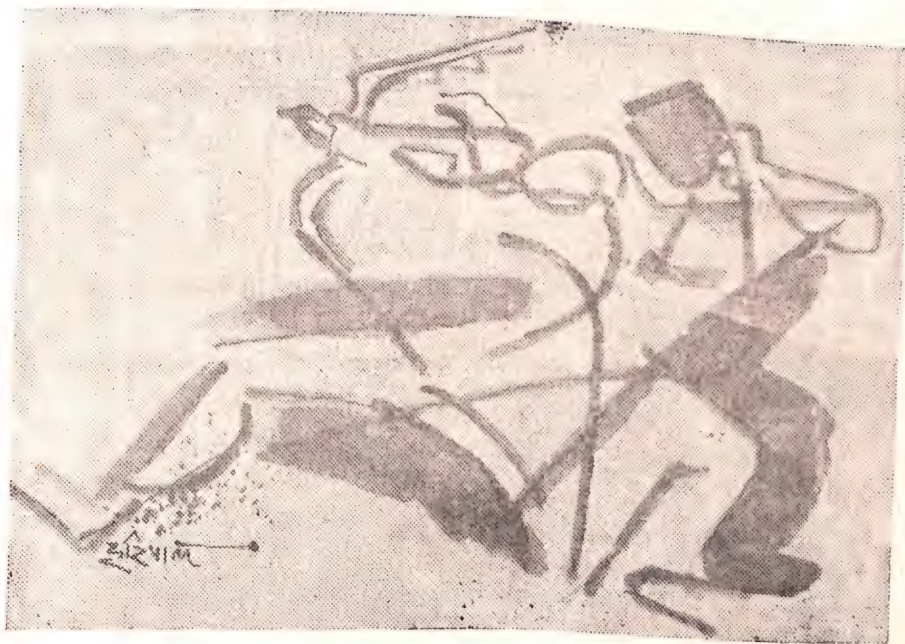
□ नोङ्थोंबम श्रीबीरेन

कलि युग के कुछ रूप

भोजन न कर पाने के कारण दुबली,
ठीक से न खड़ी हो सकने वाली
कमजोरी से पैर कांपने वाली,
निरुपाय बुढ़िया मां
धीमे मुरझाए स्वर में बोलने लगी—
"दस पैसे दे दो
मां को,
न खाए हो गए चार दिन,
दस पैसे दे दो
दस पैसे"
सूखे हाथ फैलाने लगी।
सूट-टाई पहनने वाला बाबू
लांघ कर चला गया उस बुढ़िया को
सोच कर खराब हो जाएगी उसकी इस्तरी लगी पतलून
मुंह भर कर खाए
मीठे पत्ते वाले
सुगंधित पान का
थूक देता है पीक।
फेंका हुआ सिगरेट का टुकड़ा
भोगता है दर्द फुटपाथ पर
लोट कर
निरुपाय।

(२)

वह मां जिसकी की जा रही है तीमारदारी अस्पताल में
अपने सगे बेटे द्वारा लात मारी गई है जिसे,
उस पर सब्जी का गरम झोल उड़ेल देने से
निकली हुई चमड़ी की पपड़ी से
मवाद उबलने लगा बेचारी का।

(३)

दाह-संस्कार किया गया है उस बाप का
जो अपने सगे बेटे द्वारा
चाकू घोंपने से मारा गया
शराब पीकर पैसे मांगने पर
देने से मना कर देने के कारण।

(४)

इंसान इंसान के जीवन का
इंसान इंसान के प्राणों का

व्यवसाय करता है एक समुदाय
सूरज के होते हुए
गहरा अंधेरा छा जाता है,
दिन और रात का भेद नहीं रहता,
अंधेरा और उजाला एक हो जाते हैं।

(५)

मृदुलता से खिलने वाला कोंबीरै
सीधा-सादा बेकसूर कोमलांगी सुमन
जिसे तोड़ कर मसलते हुए
फेंक दिया गया तरल बना कर
आदमी के पैरों तले।
चमड़े का जूता पहनने वाले के
बड़े पैर ने कुचल कर दबा दिया।
लेकिन
कांपा नहीं हृदय जरा-सा भी,
मृदुलता से खिलने वाले कमल की पंखुड़ियां,
तोड़ कर फेंकी गई प्रत्येक पंखुड़ी
खुली सड़क पर, जहां भीड़ का आना-जाना हो
और विचार उठता है मन में—
"यह तो बड़ा आनंददायक है।"

(६)

घने असत्यों के गूंथने से निर्मित
पवित्रता और सत्यता से विहीन
इस अंधेरी रात में
अंधेरे के तेज धार वाले
भाले की नोक को निकालकर
बार-बार ठेला जा रहा है
बेकसूर सीधी-सादी, कोमल
बेचारी कई आत्माओं को
कई आत्माएं
बेहोश पड़ी हैं धरती पर,
और जय-ध्वनि गूंज रही है
जीत की
इस अंधेरे में।

आग और मैं

विश्वास किया था इतने दिनों तक—
मैं आग का गोला हूं,
जला दूंगा मैं
अपने चारों ओर का
सारा कूड़ा-करकट।

लेकिन
आज
मेरे चारों ओर का
कूड़ा-करकट
बदलने लगा है आग में,
एकदम लाल हो गया है
शोले निकलने लगे हैं,
और आग का गोला मैं
बन गया हूं कीट-पतंगा,
लपटें बन कर जलाने लगा
आसपास की सारी
सुंदरता, अच्छाई, पवित्रता
सफाई और स्वच्छता
सच्चाई—किसी के लिए सोचे बिना,
सफेद फूल
लाल फूल
यह फूल है
यह घास है किसी को छांटे बिना,
सब को बराबर
जलाने लगे कचरे के ये शोले।
इन शोलों ने पीछा किया
जलाने के लिए मेरा भी,
कोशिश की थी मैंने अपने को बचाने की
इन शोलों से।
सहन करता हूं मैं बांहों में
अपने प्राणों को कस कर
शोले छू न जाएं
कूद न जाएं मोह के इन शोलों में।
किंतु

झपट लेंगे ये शोले
जकड़ लेगा यह मोह
इच्छा होने लगी इन शोलों में कूदने की
रोज-रोज
शनैः शनैः

भिचने लगे मेरे कोमल प्राण
भोगने लगे थरथराहट।

गौर से देखा
खिड़की के पार।
पेड़-पौधों की फुनगियां
निर्मल आकाश में
सिर हिला-हिला कर
कुछ-कुछ
कहने लगीं मुझसे,
उनकी भाषा है अबूझ।

क्या-क्या कुछ कहती थीं
पेड़-पौधों की फुनगियां
निर्मल आकाश में
सिर हिला-हिला कर।

अनुवादक : इबोहल सिंह काङ्जम

अफ्रीकी कविताएं :

□ लेनरी पीटर्स

हम घर आये हैं

रक्तहीन युद्ध से
हम घर आये हैं
डूबते हृदय लिये
हमारे बूट गर्व से भरे हुए
आत्मा के सच्चे कत्लेआम से गुजर कर
जब हमने पूछा
"क्या कीमत चुकानी पड़ती है
और अकेले छोड़ दिये जाने की ?"

हम घर आये हैं
साथ लाये हैं
आसमान के आर-पार
इन्द्रधनुषी रंगों में अंकित कसमें
दफन करने के लिये
लेकिन यह समय नहीं है
माल्यापर्ण करने का
कल के गुनाहों के वास्ते
रात धमकी देती है
समय विसर्जित हो रहा है
और आगामी कल के साथ
कोई जान-पहचान नहीं है
दनदनाते नगाड़े
प्रतिध्वनि करते हैं सितारे
जंगल चीखता है
और पेड़ों के बीच
एक काला सूरज प्रकट होता है !

हम घर आये हैं
तब जब कि
दूसरे देशों के गीत गाता हुआ
भोर लड़खड़ा रहा है
सूत जैसे काते गए सिक्कों द्वारा
सुनिश्चित हमारे लोकगीत और आंसुओं
को पहचानता हुआ
हमारे कानों में घुसपैठ करता है
डेथ मार्च

हम घर आये हैं
हरे गिरिपीठों की ओर
ऊष्मित और मधुर पक्षीगीत के

आरोही स्वर-पान के लिए
हम आये हैं
उन ऊष्मित सागर तटों तक
जहां से नौकायें रवाना होती हैं
सागर की फसल पर अधिकार करती हुई।
लूट-पाट करते और तंग करते
फिसलते गल पक्षी
लहरों पर चुंबनों की बौछार करते हैं।

हम घर आये हैं
जहां बिजली की कौंध और घनघोर
गर्जती वर्षा में से
महामारी, सूखा और
साथ ही तरबतर भावना
रेतीली सड़क पर उतरती है
शरीर के उत्पीड़ित ध्वंसावशेषों को
सहारा देती हुई वो भावना
जो कोई अनुकंपा नहीं चाहती संसार से
आत्म-सम्मान के अधिकार के सिवा।

गीत

हरी आंखों से पंजों वाली
रात की बिल्ली
वक्ष लकवा ग्रस्त
रेत घड़ी के टोकरों में
भीगी पटरी पर पुराना बूट बेचती
नारियल का पेट
सख्त गरी का सिर
प्यार के बोझ से थकी,
ऊष्मित सुरंग वाली तृणभूमि-सी
ईव की वेश्यावृति से उत्पन्न फल
नृत्य करते
तितली के बच्चों सरीखे
पार्क वृक्षों का किनारा बनती
मुड़ी पत्तियों में
सामाजिक अंतश्चेतना
द्वारा द्रवित
छद्म लज्जालु स्त्री से नाटकीय
शिकारी कुत्तों द्वारा पीछा की जाती हुई
टूटते सितारों की मित्र
सूने विस्तर का शिकार !

अंग्रेजी से अनुवाद : **शिवकुटी लाल वर्मा**

□ डॉ० तारानंद वियोगी

चिड़िया ही उगाती है धूप

बीज में छिपे पेड़ की तरह,
मैं तो यूं ही,
देर सुबह तक सोता रहता हूं
रोज-रोज !

बाहर—
चिड़िया ही शोर मचाती है
सिर पटकती है
और अंततः
मेरे लिए उगाती है धूप।

हर कोई जानता है—
इन कजरारे सर्द वर्षों में
धूप कितनी जरूरी है
मेरे लिए…

जब मैं कलम थामता हूं

सबसे पहले मिटती हैं—दुश्चिंताएं
फिर, उद्वेग मिटता है
चंचलता लेती है विदा।

मेरा सारा-का-सारा एकाकीपन
ढह जाता है,
ढह जाता है अहंकार का किला।

खुल जाता है खालीपन का दरवाजा
उसमें भरने लगता है कुछ
उसमें बहुत कुछ भरने लगता है

मैं जब कलम थामता हूं।

अनुवादक : डॉ० देवशंकर नवीन

□ डॉ० देवशंकर नवीन

आत्म रक्षा

मेरा मरना हर्षदायी होगा बहुतों के लिए
गिनने को कुछ रोने-कलपने वाले भी मिल जाएंगे
मेरी लाश पर अस्सी मन लकड़ी लाद दी जाएगी
जगह-जगह आयोजित की जायेंगी शोक सभाएं
और
पत्रिकाओं में संस्मरण छपेंगे···

लेकिन,
मैं कुछ नहीं देख पाऊंगा
अनुभव का एक तिनका भी
आदमी मरकर नहीं पा सकता है
दुख और सुख की खिचड़ी जैसी इस सड़क पर
उन्मुक्त होकर चलने का अवसर
मुझे तुमने ही दिया है, ओ जिंदगी
तुम बड़ी दयालु हो···

जिंदगी !···
मुझे इस यातना के अलाव में
और पकने दो
अलाव की दहकती आंखों में
खूब सीझने दो अभी
यह आग, ये अंगारे
मुझे और पूर्ण बनाएंगे
सोना तपने पर ही चमकता है

स्वयं कवि द्वारा मैथिली से अनूदित

□ **केदार कानन**

हम सफर

उसने सोचा—
समय को एक दिशा दूं
समय—चुपचाप बीतता रहा
और मौसम उसके विपरीत/गीला होता रहा।

मौसम के इस बदलाव को
उसने तेजी से पहचाना
ओर समय के साथ-साथ/उसने अपने पांव
किसी उद्देश्य के साथ बांध लिए।
उसने पाया—
वह समय के साथ दौड़ सकता है।

वह समय को अपनी मुट्ठियों में
कैद कर सकता है
हवा रंग गंध और ध्वनी/उसके साथ हैं
और मौसम तेजी से अपने को बदलने लगा है
वह आज खुश है
कि उसने समय को
पहचान लिया और
मौसम अपनी पूरी ताकत के साथ
उसका हमसफर है

अनुवादक : डॉ० देवशंकर नवीन

□ शिवशंकर श्रीनिवास

नंदन वन

चिड़िया जब तक रहती है
पत्रहीन वृक्षों के बीच
कितना मधुर बोलती है तब तक !
छींटती रहती है
अंजुली भर हरसिंगार
ज्यों उदास वृक्षों की जड़ में
अपने मीठे बोलों से
किंतु
वही चिड़िया
पा लेती है जब नंदन कानन
तब कैसे बदल जाती है !

चिड़िया शामिल हो जाती है !
उसी षड्यंत्र में
जिसमें
दधीचि की देह से तरासे जाते हैं
मांस
तब कहता हूं—
नंदन कानन मुझे नहीं भाता है
मुझे नहीं भाता है नंदनवन

अनुवादक : देव शंकर नवीन

□ इमिलि डिकिंसन

(१)

वह छोटी—
इतनी छोटी नाव थी कि
बच्चों-सी लड़खड़ाती खाड़ी में चली गयी !

वह विशाल—
इतना विशाल समुद्र था कि
उसे इशारों से बुलाता दूर ले गया !

वह लालची—
इतनी लालची तरंग थी कि
उसे किनारे से साफ कर गई—

राजकीय जहाजों को—
कभी अनुमान भी न हुआ कि
मेरी छोटी-सी नौका खो गई थी।

(२)

'सुवह' क्या सचमुच होगी ?
'दिन' जैसी कोई वस्तु क्या होती है ?
क्या मैं उसे पहाड़ों से देख पाती
यदि मैं उन्हीं की तरह ऊंची होती ?

क्या उसे कुमुदिनी की तरह पैर हैं ?
क्या उसे पंछी की तरह पर हैं ?
क्या वह उन प्रसिद्ध देशों से आयात होती है
मैंने जिनके बारे में कभी नहीं सुना ?

अरे कोई विद्वान ! अरे कोई नाविक !
अरे कोई प्रज्ञ आकाश का !
छोटे-से एक तीर्थयात्री को बताएगा
जिस स्थान को 'सुबह' कहते हैं, वह वहां रहती है !

(३)

उन्होंने मुझे स्वर्ग से बाहर क्यों निकाल दिया ?
क्या मैं—बहुत जोर से गाती थी ?
पर—मैं थोड़ा 'धीमे'
पक्षी-सी कोमलता से बोल सकती हूं !

क्या देवदूत मुझे—
केवल—एक मौका—और नहीं देंगे—
फिर देखना—यदि मैं—उन्हें परेशान करूं—
पर—दरवाजा बंद मत करो !

अरे, यदि मैं—
'सफेद लबादे वाला' सभ्य पुरुष होती—
और वे—दस्तक देने वाले—छोटे-छोटे हाथ—
क्या—मैं—मना कर पाती।

अनुवादक : क्रांति बेवतीकर

रायनर मारिया रिल्के द्वारा एक युवा कवि को लिखे गये पत्र

यह चार पत्र स्टीफन मिशेल द्वारा अनूदित और प्रस्तुत पुस्तक 'लेटर्स टू अ यंग पोएट' (Letters to a young poet) में से लिए गए हैं। इस पुस्तक में रायनर मारिया रिल्के के १० पत्र संकलित हैं। ये पत्र कवि ने मिलिटरी अकादेमी में पढ़ते एक विद्यार्थी, फ्रांज़ ज़ेवर काप्पस (Franz Xaver Kappus) को लिखे थे, जो कवि बनने का आकांक्षी था और उसने अपनी कविताएं राय जानने के लिए कवि रिल्के के पास भेजी थीं। दोनों की भेंट कभी नहीं हो पाई पर इस प्रक्रिया में—रचनाकर्म की अनिवार्यताओं पर, रचना संभवता की एकांतिकता पर जीवन के दुखों अवसादों पर और उन सब घटकों पर जो रचना—व्यक्तित्व की धुरी में न्यस्त होते हैं—की उपलब्धि हुई। यह उपलब्धि एक सृजक की वरीयताओं और उसके नितांत निजी जीवन-वैशिष्ट्य को भी उतना ही प्रमाणित करती है: इन पत्रों का लेखनकाल १९०३-१९०८ के बीच फैला है पर अपनी बेबाकी, सघनता और गंभीरता के कारण यह आज भी संग्रहणीय बने हुए हैं। रचनाकर्म के प्रति खरी संशलिष्ट दृष्टि और गहरा आत्मान्वेषक तेवर इनका अंतस्तत्व है। बहुत-सी दुविधाओं का यह सनातन रूप से उत्तर दे सकते हैं।

स्टीफ़न मिशेल ने इनका अनुवाद फ्रेंच से अंग्रेजी भाषा में किया था और लंबी भूमिका के साथ १९८४ में प्रकाशित किया था।

अंग्रेजी से हिंदी में इन पत्रों के अनुवाद का कारण मेरी अदमनीय प्रेरणा ही कहा जा सकता है। उभयनिष्ट मुद्दों को बांटने का सुख। यह नहीं कि इसमें लिखी बातें लेखकों की जानी हुई नहीं होंगी पर ऐसा सचेत निर्भय स्वीकार··· फिर उसी दिशा में लेखकीय जीवन को मोल्ड करने का आग्रह। इन सब उपकरणों के लिए रिल्के के पास सहस्त्रों शब्द हैं।

इन पत्रों के अनुवाद में जो एक-दो छोटी छूटें मैंने ली हैं, उनका उल्लेख जरूरी है। मूल में वाक्य संरचना उलझी हुई और बहुत लंबे वाक्यों में है। कहीं-कहीं तो वह दो तीन पृष्ठों में चली गई है। पैराग्राफ बनाने की संयोजना लगभग गायब है। बहुत से, और बहुत तरह के अर्थ जहां संघट हो गए हैं, उनको अर्थ प्रमुख बनाने के लिए कहीं-कहीं मैंने नए पैराग्राफ बनाए हैं।

दूसरे 'तुम' और 'आप' के प्रयोग में थोड़ी छूट ली है। अंग्रेजी में 'यू' 'युअर' शब्द का प्रयोग खूब दुविधाजनक है। तुम या आप? आत्मीय या सम्मानीय? मैंने इसका समाधान संबंधों को लेकर निजी (भारतीय) समझ से निकाला है। चूंकि ये पत्र कवि रिल्के ने एक विद्यार्थी को लिखे थे अतः 'तुम' का प्रयोग मुझे समुचित लगा है। 'डियर सर' के अनुवाद में भी आत्मीयता प्रधान शब्दों का उपयोग किया है। चार में से दो पत्र संबोधन-हीन हैं। उत्तरोतर बढ़ती आत्मीयता में नाम का संबोधन फिर पत्रों के बीच न्यस्त होता गया है।

—राजी सेठ

पत्र : १

पेरिस

फरवरी १७, १९०३

प्रियवर!

तुम्हारा पत्र कुछ दिन पहले मिला। मुझ पर इतना भरोसा रखा, कृतज्ञ हूं। इतना भर ही है जो मैं कर सकता हूं। तुम्हारी कविताओं पर बातचीत नहीं कर सकता, ऐसी कोई चेष्टा मेरे लिए बाहरी होगी। मेरे विचार में समीक्षाकर्म किसी कला सृजन को छू तक नहीं पाता; उसके बारे में भ्रांतियों का प्रसार जरूर करता है। वस्तुएं इतनी स्थूल या कथनीय नहीं होतीं जितनी लोग समझते हैं। अधिकांश अनुभव अकथनीय होते हैं।

एक ऐसे निरवकाश (स्पेस) में घटते हैं जहां शब्द का प्रवेश ही नहीं हो पाता। दूसरी सब अकथनीय चीजों में से कलाकृतियां सर्वाधिक अकथनीय हैं। उनका रहस्यपूर्ण अस्तित्व हमारे छोटे से नश्वर जीवन से अधिक स्थायी है।

भूमिका की तरह कहे गए इन शब्दों के बाद मैं तुम्हारी कविताओं पर आता हूं। कहना चाहता हूं कि तुम्हारी कविताओं की अपनी कोई निजी शैली नहीं है, हालांकि उनमें ऐसी खामोश और प्रच्छन्न शुरुआतों के निहायत निजी सूत्र जहां तहां बिखरे पड़े हैं। यह बात सबसे ज्यादा तुम्हारी अंतिम कविता 'माय सोल' पर लागू होती है। वहां तुम्हारा कुछ—नितांत 'अपना'—शब्द और लय में ढलने को तत्पर लग रहा है। दूसरी बहुत प्यारी कविता, 'टू लियोपार्डी' है जिसमें उस बड़ी निस्संग मूर्ति से एक तरह का एकत्व उभरता दीखता है। इस विशेषता के बावजूद, यह सब कविताएं अपने आप में कुछ नहीं लगतीं, तनिक भी आत्मसंपन्न नहीं आखिरी भी नहीं और लियोपार्डी वाली भी नहीं (जिसका मैंने अभी जिक्र किया) बल्कि तुम्हारे अपने पत्र ने जो इन कविताओं के साथ आया, मुझे इन कविताओं के दोषों के बारे में ज्यादा परिचित कराया। कविताएं पढ़ते समय मैं उन बातों को महसूस कर सका चाहे उतने सटीक शब्द दे पाना मेरे लिए कठिन है।

तुमने पूछा है कि क्या तुम्हारी कविताएं अच्छी कही जा सकती हैं। इस वक्त यह प्रश्न तुम मुझसे पूछ रहे हो। ऐसा ही कुछ इससे पहले तुमने औरों से भी पूछा होगा। पत्रिकाओं में भी कविताएं भेजी होंगी। दूसरों की कविताओं से इनकी तुलना भी की होगी और किन्हीं संपादकों द्वारा लौटा दिए जाने पर तुम क्षुब्ध भी हुए होगे। अब (जबकि तुमने मुझे लिखा है कि तुम्हें मेरी राय की जरूरत है) मैं तुमसे सच में आग्रह करना चाहता हूं कि तुम ऐसा करना बंद करो; क्योंकि तुम बाहर की ओर उन्मुख हो रहे हो, और यही वह कर्म है जो तुम्हें इस काल में नहीं करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति न तो तुम्हें सिखा सकता है, न तुम्हारी मदद कर सकता है—कोई भी नहीं। एक ही काम है जो तुम्हें करना चाहिए—अपने में लौट जाओ। उस कारण (केंद्र) को ढूंढ़ो जो तुम्हें लिखने का आदेश देता है। जांचने की कोशिश करो कि क्या इस बाध्यता ने अपनी जड़ें तुम्हारे भीतर फैला दी हैं? अपने से पूछो कि यदि तुम्हें लिखने की मनाही हो जाए तो क्या तुम जीवित रहना चाहोगे।

यह सब बातें तुम अपने से पूछो—रात के निचाट एकांत में। पूछो कि क्या मुझे लिखना चाहिए। उत्तर के लिए अपने को खखोलो और अगर उसका उत्तर सहमति में आए; इस गंभीरतम ऊहापोह के अंत में साफ सुथरी समर्थ 'हां' सुनने को मिले तब तुम्हें अपने जीवन का निर्माण इस अनिवार्यता के मुताबिक करना चाहिए। अपने जीवन को छोटे-से-छोटे और तुच्छ से तुच्छ क्षण में भी इसी अभीप्सा का सूचक और साक्षी बनकर रहना चाहिए। तब तुम प्रकृति के निकट से निकटतम जाओ और उसका इस तरह बयान करो जैसे कि वह अब तक कोरी और अछूती है। वह सब कहने की कोशिश करो जिसे तुम वहां देख रहे हो, महसूस कर रहे हो, चाह रहे हो, खोने जा रहे हो।

प्रेम कविताएं मत लिखो, उन सब कलारूपों से बचो जो सामान्य और सरल हैं। उन्हें साध पाना कठिनतम काम है वह सब 'व्यक्तिगत' विवरण जिनमें श्रेष्ठ और भव्य परंपराएं बहुलता से समाई हों, बहुत ऊंची और परिपक्व दर्जे की रचना क्षमता मांगते हैं; अतः अपने को इन सामान्य विषय वस्तुओं से बचाओ। उन चीजों के बारे में लिखो जिन्हें तुम्हारा रोज का जीवन हर समय प्रस्तुत करने को तत्पर रहता है। अपने दुःखों और आकांक्षाओं का, उन सब विचारों का जो तुम्हारे मन में से होकर गुजरते हैं; सौंदर्य के प्रति आसक्त अपने विश्वासों का वर्णन करो। यह सब लिखो—एक हार्दिक, खामोश विनीत निष्ठा के साथ। जब भी तुम्हें अपने को व्यक्त करना हो अपने आसपास की चीजों पर ध्यान दो—सपनों में देखी छवियां, अपने को स्मरण रह गई वस्तुएं। अगर अपना रोज का जीवन दरिद्र लगे तो जीवन को मत कोसो, अपने को कोसो। स्वीकारो कि तुम उतने अच्छे कवि नहीं हो पाए हो कि अपनी सिद्धियों समृद्धियों का आवाहन कर सको। वस्तुतः रचयिता के लिए न तो दरिद्रता सच है न दरिद्र; न ही कोई स्थान निस्संग। अगर जेल की पथरीली दिवारों के अंदर रख दिया जाए जो कि एकदम बहरी होती हैं और संसार की एक फुसफुसाहट तक को भीतर नहीं आने देतीं (तब भी तुम्हें कुछ फर्क नहीं पड़ेगा) तुम्हारे पास क्या अपना बचपन नहीं होगा···स्मृतियों की अमोल मंजूषा? अपना चित उस ओर ले जाओ। दूरगामी अतीत के रसातल में डूबी अपनी भावनाओं को उभारो। तुम्हारा व्यक्तित्व क्षमतावान बनेगा। एकांत विस्तृत होकर एक ऐसा नीड़ बनाएगा, जहां तुम मंद रोशनी में भी रह सकोगे; जहां दूसरों का पैदा किया शोर दूरी से गुजरता निकल जाएगा। और अगर इस अंतर्मुखता से, अपने भीतर के संसार में डूब जाने पर कविताएं स्वतः अवतरित होती हों तो तुम्हें कभी किसी से पूछना नहीं पड़ेगा कि वे अच्छी हैं या बुरी; न ही तुम्हें पत्रिकाओं के पीछे भागते रहना पड़ेगा। क्योंकि यह तुम्हारा नैसर्गिक खजाना होगा, तुम्हारा अपना अंतरंग अंश, तुम्हारी अपनी ही आवाज। एक रचना तभी अच्छी होती है यदि अनिवार्यता में से उपजती है, अतः बंधुवर, मैं तुम्हें इस एक बात के अतिरिक्त और कोई नसीहत नहीं दे सकता कि अपने ही भीतर जाओ और जांचो कि वह जगह कितनी गहरी है जहां से तुम्हारी जीवनी शक्ति उर्जस्वित होती है। उसी उद्‌गम पर तुम्हें यह उत्तर मिल पाएगा कि तुम्हें सृजन करना चाहिए या नहीं। उत्तर जो भी मिले, उसे उसी रूप में स्वीकार करो किसी तरह की व्याख्या किए बिना। शायद तुम खोज पाओ कि तुम एक सृजक हो या नहीं। हो, तो अपनी नियति को स्वीकारो, धारण करो, उसकी बोझिलताओं और भव्यताओं को वहन करो, बाहर से आए किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बिना; क्योंकि सृजक अपने आप में एक पूरा संसार है। उसे सबकुछ अपने भीतर से मिल सकना चाहिए और उस प्रकृति से जिसके प्रति उसका पूरा जीवन निष्ठावान है।

हो सकता है अपने भीतर ऐसे अवगाहन के बाद शायद तुम कवि होना ही न चाहो (क्योंकि जैसा कि मैंने कहा कि यदि किसी को लगे कि वह लिखे बिना रह सकता है, तो उसे लिखने का विचार त्याग देना चाहिए) तब भी, यह आत्मान्वेषण व्यर्थ नहीं जाएगा। तुम्हारे जीवन को यहीं से अपने रास्ते मिल जाएंगे, जो बेहतर, समृद्ध और विस्तृत होंगे। ऐसा ही

हो मेरी कामना है।

और क्या निर्देश दे सकता हूं मैं। लग रहा है मैं तुम्हें सबकुछ समुचित रूप से कह चुका हूं। अब मात्र इतना ही जोड़ना चाहूंगा कि मैं चाहता हूं तुम निष्ठा और खामोशी से विकसित होते रहो। इस दिशा-बोध को बाहर की ओर उन्मुख होकर ध्वस्त मत करो। वह उत्तर जो तुम्हें केवल अपने एकांत में अपनी अंतरतम अनुभूतियों के समकक्ष खड़े रहकर मिल सकते हैं उनको बाहर की अपेक्षाओं से जोड़कर अपने को छितराओ मत। हतध्यान मत दो।

तुम्हारे पत्र से प्रोफेसर होरासक के बारे में जानकर अच्छा लगा। उनके जैसे प्रवुद्ध और सहृदय व्यक्ति के लिए मेरे मन में अटूट श्रद्धा है और असीम कृतज्ञता भी। उन्होंने स्मरण रखा इसका अनुशंसक हूं उनसे जरूर कह देना।

तुम्हारी कविताएं वापिस भेज रहा हूं। तुम्हारे दिए विश्वास और तुम्हारे प्रश्नों का आभारी हूं जिनके दबाव में अपने को ईमानदारी से खखोलते मैंने अपने भीतर के परायेपन को ज्यादा आत्मीय और अपने को उन्नत ही बनाया है।

तुम्हारा अपना,

रायनर मारिया रिल्के

पत्र : २

स्वीडन

अगस्त १२, १९०४

कुछ देर तुमसे बातें करना चाहता हूं प्रिय काप्पस, हालांकि इस कहने में कुछ भी ऐसा नहीं है जो तुम्हारे लिए उपयोगी हो···शायद एक शब्द भी नहीं। तुम कितनी ज्यादा और कितनी गहरी उदासियों में से गुजरे हो। तुमने लिखा था कि यह गुजरना कितना दुरुह और बेचैन करने वाला था; पर सोच कर देखना क्या इतनी वृहत उदासी तुम्हरे भीतर से यूं ही गुजर गई होगी? उदासी के इस काल में तुम्हारे भीतर बहुत कुछ बदल गया होगा; बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए होंगे। असल में वही उदासियां अस्वस्तिकर और खतरनाक होती हैं जिन्हें लेकर हम लोगों के बीच घूमते होते हैं और उस शोर में अपने को भुलाने की कोशिश करते हैं, वैसे ही जैसे अंदर की व्याधियों के लिए मूर्खताभरा ऊपरी उपचार सुझाया जाए। ऐसी व्याधियां थोड़े समय के लिए ओझल जरूर हो जाती हैं पर फिर बीहड़ तरीके से आन चिपटती हैं और हमारे भीतर निर्जीव, असफल और भ्रष्ट तत्त्वों के रूप में संघट हो जाती हैं जिनके रहते हम मर भी सकते हैं। काश हम अपने ज्ञान की सीमा से आगे देख सकते और अपने पूर्वाभासों से भी आगे जा सकते। तब शायद हम अपनी उदासियों को अपनी प्रफुल्लताओं से अधिक आश्वस्त देकर सहते। यह वह काल है जब हमारे भीतर नया कुछ प्रवेश करना चाहता है, एकदम अनचीन्हा। उस अटपटेपन में हमारी भावनाएं कुछ समय के लिए एकाएक निश्चेष्ट हो जाती हैं। हम अंतर्मुखी हो जाते हैं। एक खामोशी-सी घिर आती है और हम अपने को एक नये अनुभव के बीचोंबीच खड़ा पाते हैं—चुपचाप।

मुझे लगता है हमारे सब अवसाद तनाव की अभिव्यक्तियां हैं। हम उसे पक्षाघात या निस्पंदता कहते हैं क्योंकि उस समय हम अपनी चकित अनुभूतियों की फड़फड़ाहट को भी सुन नहीं पाते; क्योंकि हम उस अजानी उपस्थिति के साथ—जो हमारे भीतर प्रवेश कर रही हैं—एकाएक अकेले रह गए होते हैं; क्योंकि हमारी अब तक की सिद्ध भरोसेमंद चीजें उस समय हमारी पहुंच से परे छिटक गई होती हैं; क्योंकि संक्रमण में होने के कारण हम स्थिर खड़े नहीं होते; इसलिए अवसाद हमारे भीतर, हमारे हृदय में, हमारे अंतरतम में एक उपस्थिति छोड़कर गुजर जाता है। वस्तुतः तो वह उपस्थिति भी वहां टिकी नहीं रहती, हमारे रक्तप्रवाह का हिस्सा बनकर अंतर्ध्यान हो जाती है। हम जान ही नहीं पाते कि वह क्या थी क्या है। प्रगट में लगता है कि कुछ भी तो नहीं हुआ पर हम बदल चुके हैं ऐसे घर की तरह जहां अतिथि का प्रवेश भर उसे बदल डालता है। कौन आया है, पता ही नहीं लग पाता; शायद कभी न भी लग पाए फिर भी बहुत से संकेत ऐसे हैं जो आगत के इस प्रवेश को बदलाव की भूमिका की तरह इंगित कर जाते हैं; इसीलिए यह बहुत जरूरी है कि हम अपनी उदासी में खूब अकेले और खूब चौकन्ने रहें क्योंकि गतिहीन घटनाविहीन देखने वाली घड़ियों में आगत जीवन का अधिक आत्मीय होकर आता है बजाय उस बड़बोली आकस्मिकता के जो बाहर से आई किसी घटना की तरह दीखती है। अपनी उदासी में हम जितने ही प्रशांत, जितने धैर्यवान, ग्राही और खुले होंगे उतनी ही गहराई और शांति से यह नई उपस्थिति हमारे भीतर प्रवेश करेगी; जितनी ही हमारी आत्मीय होगी उतनी ही हमारी नियति का दरजा ग्रहण करेगी और बाद में जब इसके 'घटित' का समय आएगा (दूसरों तक प्रसार) तब हम भीतर तक इससे संबद्ध और आत्मीय हो चुके होंगे। ऐसा होना आवश्यक है।

आवश्यक है क्योंकि यह हमारे विकास के आगामी चरण हैं, जिनकी ओर हमें धीरे-धीरे अग्रसर होना है, जानते हुए कि कुछ भी असंगत नहीं हो रहा। यह सब पहले से हमारे भीतर था। गतिशीलता के बारे में लोगों की अलग-अलग धारणाएं रही हैं वह भी धीरे-धीरे जान जाएंगे कि जिसे हम अपनी भावी कहते हैं वह कहीं बाहर से नहीं आती हमारे भीतर से उदभूत होती है; चूंकि ज्यादातर लोगों ने अपनी भावी को बदल पाने के सत्य को आत्मसात् ही नहीं किया। अतः उन्हें पता ही नहीं लग पाया कि उनके भीतर से क्या जन्म ले रहा है। यह बदलाव उन्हें इतना अचानक और विजातीय लगता है कि उलझन और भय में वह इसे तात्कालिक मान बैठते हैं और इससे कभी भी साक्षात्कार न होने की कसमें खाने लगते हैं। जैसे कि अरसे तक लोगों की सूर्य की गति के बारे में भ्रांतियां थीं ऐसी ही उनकी अपने आगत के बारे में मनोभूमि है। हमारा आगत तो निस्पंद खड़ा रहता है प्रिय काप्पस केवल हम ही हैं जो निस्सीम अंतरिक्ष में घूमते रहते हैं। क्या यह एक दुर्गम स्थिति नहीं है?

फिर 'एकांत' की बात पर आता हूं। तुम स्पष्टता स समझ सकते हो कि कुछ भी चुनना या त्यागना, बुनियादी रूप से हमारे हाथ में नहीं है। हम अनिवार्यतः अकेले हैं। हम अपने को भरमा सकते हैं, सच से मुंह फेर

सकते हैं पर इतना ही बस। इस ज्ञान के निकटतर होना कितना कल्याणकारी है किहम सब अकेले हैं; चाहे यह ज्ञान कितना ही चकरा देने वाला क्यों न लगे—लगे कि जिन-जिन चीजों पर हमारी टकटकी लगी थी वह सब हमसे छीनी जा रही हैं, सदा के लिए परे जाती जा रही हैं। लगे कि जैसे एक अप्रस्तुत व्यक्ति को अपने कक्ष से निकालकर किसी पर्वतश्रेणी की ऊंचाई पर बिठा दिया गया हो जहां की निस्कवच अरक्षा और गुमनाम परित्यजन में उसे लगे कि वह विलोप ही हो जाएगा। या कि गुलेल की तरह निशाना बनाकर अंतरिक्ष में छोड़ दी गयी वस्तु की तरह खील-खील बिखर जाएगा। इस सारे अनुभव का वर्णन करने के लिए मनुष्य के दिमाग को कितने भीमकाय झूठ गढ़ने होंगे। असल में सारे फासले, सारे मापदंड उस आदमी के लिए बदल जाते हैं जो इस तरह एकाएक अकेला हो जाता है। उसमें एकाएक वैसे ही बदलाव आते हैं जैसे कि पहाड़ की चोटी पर पहुंचेव्यक्ति के मन में असाधारण, असह्य अपरूपों और विचित्र अनुभूतियों की सृष्टि हो जाती है।

पर इन सब बातों के अनुभव भी हमारे लिए जरूरी हैं। अपने यथार्थ की विराटता का भी हमें ज्ञान होना चाहिए। अब तक की अजानी लगभग हर चीज को उस ज्ञान में शामिल होना चाहिए। अंततः तो हमें अपने भीतर इसी प्रकार के साहस की जरूरत है—अजनबी, असाधारण अव्याख्येय अनुभवों का सामना करने का साहस। जीवन को समझने के लिए लोगों की कायरता ही बाधक होती है। प्रेतलोक, रूह, आत्मा, आभासी अनुभव या मृत्यु, यह सब चीजें हमसे गहरी जुड़ी हैं, हमारे आत्मरक्षक भाव ने इन्हें हाशिए पर फेंक दिया है और उन क्षमताओं को सुखा डाला है जो इन्हें आत्मसात् करने का माध्यम थीं। भगवान की तो चर्चा ही क्या, अज्ञात के भय ने मनुष्य के यथार्थ बोध को ही कुंठित नहीं किया मनुष्य मनुष्य के बीच के संबंधों को भी संकुचित कर दिया है जैसे कि अनंत संभावनाओं वाले जल-प्रवाह से उठाकर उन्हें तट के किसी विस्वर स्थान पर रख दिया गया हो, जहां निष्क्रियता के सिवा कुछ भी नहीं होता। केवल निष्क्रियता ही मानवीय संबंधों को उबाऊ नहीं बनाती बल्कि नये अकल्पनीय अनुभवों के प्रति हमारी भीरुता या असमर्थता भी इसमें सहयोग देती है। जो भी सब तरह की स्थितियों, सब दुर्बोध अनुभवों के रू-ब-रू होने को तैयार होता है, वही दूसरे व्यक्तियों से जीवंत संबंध बना सकता है और अपने अंतरतम की गहराइयों में उतरने का दम भर सकता है।

ऐसा व्यक्ति हमें कल्पना में एक बड़े या छोटे कक्ष की तरह लगता है, जबकि दूसरे सब उस कक्ष का कोई एक कोना। दूसरे सब केवल उस कोने से ही परिचित होते हैं, या कि खिड़की से लगे किसी ठौर से या कि उस तंग जैसी पट्टी से जिस पर वह रात-दिन चहलकदमी करते हैं, असल में इतना सीमित होकर रहना उन्हें सुरक्षा की अनुभूति देता है। पर जोखम से लबालब वह अरक्षा मुझे ज्यादा मानवीय लगती है जो 'पो' (Poe) की कहानियों में कैदियों को उन भयावह कोठरियों की थाह लेने और उनमें उपजते आतंक के रू-ब-रू होने का हौसला देती है। और हम? हम तो कोई कैदी भी नहीं हैं। हमारे चारों ओर कोई जाल या पाश या फंदे नहीं हैं कि हम डरे रहें या उद्विग्न हों।

हम सब जीवधारी, असल में अपने ही तत्वों की संगति में हैं। सहस्रों वर्षों के अनुकूलन के बाद हम इस जीवन के इतना सानुरूप हो गए हैं कि अपनी निश्चेष्ट अवस्था में हम अपने आसपास से एकरस दीखतेहैं, जब तक कि किसी स्वांग द्वारा अलगा कर देखने का उपक्रम न किया जाए। इस संसार के प्रति शंकालू बने रहने का कोई आधार नहीं है। यह हमारा विजातीय नहीं है। यदि यहां भय हैं तो वह हमारे भय हैं। यदि नरक हैं तो हमारे नरक हैं। अगर जोखम हैं तो हमें वह भी उतने ही प्रिय होने चाहिए। यदि हम इन सिद्धांतों के होकर रहें तो दुर्गम में विश्वास रखना सीख जाएं तथा जो कुछ हमें अजनबी और परे लगता है वह हमारा आत्मीय अनुभव बने। हम उन मिथकों को कैसे बिसार सकते हैं जो सब जातियों की आरंभिक अवस्थाओं में प्रचलित रहा करते थे। वह मिथक जिनमें अंतिम क्षणों में नागों के राजकुमारियों में बदल जाने की गाथाएं संचित हैं। शायद हमारे जीवन के सारे नाग सारी राजकुमारियां हैं जो साहस और सुचारुता से हमारे सक्रिय हो उठने का इंतजार कर रही हैं। हमें डराने वाली चीजें वस्तुतः बहुत ही निरीह और निस्सहाय होती हैं, और हमारे ही प्यार-दुलार की आकांक्षी होती हैं।

इसलिए प्यारे काप्पस, डरो मत, यदि तुम्हारे भीतर तुम्हारे अब तक के जाने हुए अवसाद से बड़ा अवसाद पैदा होता है; या कि हलके-फुलके बादलों की परछाईयों की तरह चिताएं तुम्हारे हाथों या तुम्हारे आसपास की हर जगह को घेर लेती हैं। तुम्हें समझ जाना चाहिए कि जीवन ने तुम्हें बिसारा नहीं है, बल्कि तुम्हारा हाथ थामे, गिरने से बचाने में लगा है। तुम अपने जीवन से सारी पीड़ाएं, सारी बेचैनी, सारे अवसाद निकाल क्यों देना चाहते हो? क्या तुम्हें पता है, यह तुम्हारे भीतर क्या-क्या करने में कार्यरत है? अपने से यह प्रश्न पूछ-पूछ कर कि यह सब कहां से आए हैं कहां जाएंगे, अपने को तुमने एक सजायाफ्ता स्थिति में क्यों डाल रखा है? तुम जानते हो तुम इस समय संक्रमण काल में हो। वैसे ही बदलाव की इच्छा ही तुम्हारी दिशा है। यदि तुम्हें अपनी प्रतिक्रियाओं में कुछ अस्वस्तिकर लग भी रहा है तो भी यही सोचना उचित होगा कि रोग में होना शरीर को विजातीय तत्वों से मुक्ति दिलाता है। अतः हर शरीर को रोगी होने देना चाहिए, रोग की समग्रता को अपनाना चाहिए, ताकि मुक्त और निरोग हो सकें। कितना कुछ तुम्हारे भीतर घट रहा है प्रिय काप्पस। ऐसे धीरज रखो जैसे कि तुम रोगी हो, इतने आत्माश्वस्त हो जितना निरोगी होने की प्रक्रिया में होने वाला व्यक्ति होता है। वस्तुतः तुम रोग में भी निरोग में भी दोनों हो। तुम तो वह चिकित्सक भी हो, जिसे खुद उपचार करना है। बिमारी की अवस्था में बहुत से ऐसे दिन भी गुजरते हैं जब डॉक्टर भी प्रतीक्षा के अलावा कुछ नहीं कर सकता। चूंकि तुम अपने चिकित्सक भी खुद ही हो अतः तुमको भी इस प्रतीक्षा के अलावा कुछ और करना नहीं चाहिए।

अपने को पल-पल मत बींधो। अपने बारे में इतनी जल्दी-जल्दी निष्कर्ष भी मत निकालो। जो कुछ भी हो रहा है उसे होने दो, नहीं तो अजाने ही तुम (नैतिक रूप से) एक दूषित अतीत को अपने सिर थोप लोगे, ऐसा अतीत जिसका तुम्हारे आगत में हिस्सा है। बचपन की भूलों, आकांक्षाओं,

उत्कंठाओं की याद कर करके आत्मभर्त्सना करना ठीक नहीं। अकेले असहाय बचपन की परिस्थितियां बड़ी असामान्य, बड़ी कठिन और जटिल होती हैं। एक ओर तो इतने प्रभावों को उन्मुख होती है, दूसरी ओर जीवन से इतना विमुख कर देती है कि कोई भी व्यसन चिपट सकता है। ऐसे में अपने को अपराधी कहना गलत है। किसी भी स्थिति को नाम देकर बांध देने से बचना चाहिए। नाम देने से साधारण कर्म भी अपराध बन जाते हैं, निजी कर्मों की तरह नहीं रहते जिन्हें जरूरत के तहत किया गया था; जीवन की अपनी धारा ऐसे कर्मों को आसानी से खपा लेती है। सफल या विजयी होना कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है, पर विजय को हम ज्यादा महत्व देते हैं, उसके पक्ष में ज्यादा शक्ति खर्च करते हैं; हालांकि तुम्हारा यह सोचना ठीक है कि विजयी होने के कारण ही हमें पता लग पाता है कि किन्हीं भ्रामक स्थितियों के बदले हमने सही और वास्तविक स्थितियों को प्रतिस्थापित किया है। इस विश्वास के बिना तो अपनी विजय भी निरर्थक नैतिक प्रतिक्रिया लगती है। तुम्हारे जीवन को लेकर मैं बहुत-सी शुभांसाओं से ओत प्रोत हूं। याद करो उस 'बृहत और महत' को जिसे तुम बचपन से अब तक कितना चाहते रहे हो। वह चाहत अब बड़े-से विराट होना चाहती है; तभी तो वह दुर्गम और विकासशील है।

एक बात और है जो मैं तुमसे कहना चाहता हूं कि यह मत समझो कि जो व्यक्ति तुम्हें सांत्वना दे रहा है, या सादे शब्दों में कहूं कि तुम्हारे लिए सुख की सृष्टि कर रहा है वह पीड़ाओं से मुक्त है। उसका जीवन भी इतने ही दुःखों और अवसादों से भरा है और वह तुमसे कहीं पीछे है। यदि ऐसा न होता तो वह इन शब्दों को कभी तलाश न पाता।

तुम्हारा,

रायनर मारिया रिल्के

पत्र : ३

स्वीडन

नवंबर ४, १९०४

मेरे प्यारे काप्पस,

यह पूरा समय तुम्हें पत्र लिखे बिना गुजर गया। मैं यात्राओं में रहा और व्यस्त भी था अतः लिख नहीं सका। आज भी लिख पाना दूभर-सा लग रहा है, क्योंकि इतने पत्र लिखने के बाद हाथ थक गए हैं। यदि मैं बोलकर लिखवा पाता तो तुम्हें कितना कुछ कह पाता, पर अब तो तुम्हारे लंबे पत्र के उत्तर में कुछ पंक्तियां ही कह पाऊंगा।

अकसर तुम्हारा ध्यान आता है काप्पस और शुभांसा इतनी प्रगाढ़ हो जाती है कि लगता है वह तुम तक पहुंचनी चाहिए, तुम्हारी सहायक होनी चाहिए। बहुत बार संदेह होने लगता है कि क्या मेरे पत्र सच में तुम्हारे सहायक होते होंगे। 'हां ऐसा है' मत कहना। केवल स्वीकारना, धन्यवादों की ढेरियां लगाए बिना। और प्रतीक्षा करना आगत की।

तुम्हारे प्रश्नों में अब लौटना ठीक नहीं होगा। क्या कह सकता हूं—संदेहशील बने रहने की तुम्हारी प्रवृति, भीतर और बाहर की संगति न बिठा पाने की तुम्हारी असमर्थता, और कितनी ही तुम्हें त्रस्त करती चीजें। मैं तो वही कहूंगा जो कहता रहा हूं। कामना करूंगा कि तुम्हारे भीतर सहने का धीरज और आश्वस्त होने की सादगी पैदा हो। कठिन रास्तों के प्रति तुम ज्यादा से ज्यादा विश्वास संचित कर सको और दूसरों से अधिक अपने एकांत में भरोसा रखो। जीवन को अपने पर घटने दो। विश्वास मानो वह तुम्हारा सदा हितैषी है।

और भावनाओं के बारे में : जितनी भावनाएं तुम्हें एकाग्र और उदात्त बनाती हैं वह पवित्र हैं। भावनाओं में केवल वही अपवित्र हैं जो तुम्हारे अस्तित्व के मात्र एक भाग को ग्रहण करके तुम्हें विरुपित बना डालती हैं। अपने बचपन का साक्षात्कर करने में जो कुछ तुम्हारे हाथ लगता है, वह सुंदर है। हर वह स्थिति जो तुम्हें पहले से ज्यादा—अपने अच्छे क्षणों से भी ज्यादा—आत्माश्वस्त बनाती है अच्छी है। हर उत्कटता, एकाग्रता अच्छी है यदि वह तुम्हारे पूरे रक्त प्रवाह में प्रवाहित हो रही है; यदि वह विषैली चीकट भरी न होकर पारदर्शी प्रफुल्लता की तरह है। क्या तुम समझे मैं क्या कह रहा हूं ?

तुम्हारी शंकाएं भी गुणात्मक हो सकती हैं यदि तुम इनसे अपने को दीक्षित करो। यह 'जानने' की दिशा भी हो सकती है। जीवन की समीक्षा भी बन सकती है। जब तुम्हारे भीतर तनिक-सा कुछ भी विरूपित होने लगे तो इनसे प्रश्न करो—क्यों; कारण पूछो, प्रमाण मांगो, इनका परीक्षण करो। यह किंकर्तव्यविमूढ़ होंगे, शायद विद्रोह भी करें पर तुम अड़े रहो। उत्तर का आग्रह जारी रखो, सचेत रहो और एक दिन ऐसा आएगा कि यह सब शंकाएं ध्वंसक बनने के बजाय तुम्हारे लिए कर्मरत हो जाएंगी—इनमें से प्रखरतम तुम्हारे जीवन का निर्माण करेंगी।

आज तो इतना भर, पर इस पत्र के साथ मैं तुम्हें एक छोटी कविता भेज रहा हूं जो प्राग के 'जर्मन लेबर' में छपी है। इसके माध्यम से भी मैं तुमसे जीवन और मृत्यु के आगे की बातें करूंगा कि कैसे दोनों ही विराट और भव्य स्थितियां हैं।

तुम्हारा,

रायनर मारिया रिल्के

पत्र : ४

पेरिस

क्रिसमस के एक दिन बाद, १९०८

तुम्हारा पत्र पाकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई प्रिय काप्पस मैं चाहता हूं तुम जानो। जो समाचार तुमने मुझे दिया है वह कम-से-कम असली और उल्लेखनीय तो है। यह शुभ सूचना है। जितना ही इसके बारे में सोचता हूं मेरी धारणा पक्की होती जाती है। असल में, क्रिसमस पर मैं तुम्हें यही लिखना चाहता था पर मैं भिन्न-भिन्न तरह के कामों में पूरे जाड़े भर सतत लगा रहा ! यह पुरातन छुट्टी इतनी जल्दी आ गई, कि लिखना तो दूर मुझे अपने जरूरी छिटपुट कामों के लिए भी समय नहीं मिला।

इस अवकाश में मैं लगातार तुम्हारे बारे में सोचता रहा। कल्पना

करता रहा कि बंजर पर्वत श्रेणियों में बने उस एकल किले में, जहां दक्षिणी हवाएं ऐसे सिर पटकती हैं कि इतने बड़े-बड़े पत्थरों को निगल ही जायेंगी, तुम कितने निःशब्द रहे होगे।

कितनी सुसमृद्ध रही होगी वह खामोशी जिसमें ध्वनियों और हलचलों के लिए भी स्थान है; दूरगामी समुद्र की उपजाई प्रतिध्वनियों के लिए भी जो प्रागैतिहासिक संगति की अंतरतम लय की तरह हैं। तुम्हारे लिए कोई भी यही चाहेगा कि शांति और आश्वस्ति के बीच के इस भव्य एकांत को अपने में जज्ब होने दो; फिर वह तुम्हारे जीवन से कभी लुप्त नहीं होगा। जो कुछ भी तुम्हारे आगामी अनुभवों में होता रहे वह एक सतत, सुनिश्चित आध्यात्मिक अंर्तवाह की तरह तुम्हारे साथ बना रहेगा, जैसे कि हमारे रक्त में घुलमिल चुका हमारे पुरखों का रक्त, जो जीवन के हर मोड़ पर हमें एक अभूतपूर्व अपुनरावर्त्य जीव बना देता है।

मैं खुश हूं कि तुम एक ठोस उपलब्धि के अधिकारी बने हो। पद, यूनिफार्म, सेवाकाल, इस सीमित संसार की स्थूल जरूरतें हैं। इस जरूरतमंद गंभीर काल में कुछ चुनिंदा लोगों का सजग नियमन, इस व्यवसाय में भरती कुछ ओछे और वक्त-काटू रवैये वाले लोगों की अपेक्षा ज्यादा जरूरी है। यहां होना एक आत्मसंपन्न सजगता ही नहीं देगा। उसे पोषित भी करेगा। उन सब परिस्थितियों में होना जो हमें समय-समय पर एक विराट प्राकृतिक परिदृश्य के बरअक्स रख दे···यही न हम चाहते हैं।

कला में होना भी जीने का एक ढंग है। मनुष्य अचेत रूप से इसके लिए तैयार होता रहता है। असली अनुभव मनुष्य को कला के नजदीक ले जाता है—एक पड़ोसी की तरह—बजाय उस आधा-सच, आधी-कला वाले व्यवसायों के। जहां रहते लोग कलाकार होने का दावा तो करते हैं पर वस्तुतः वह कला-विरोधी और आक्रामक होते हैं। उदाहरण के लिए पत्रकारिता, और समीक्षा वृति, जिसका तीन चौथाई भाग साहित्य कहलाता है (कहलाने की आकांक्षा रखता है) मैं खुश हूं कि तुम इन बातों से मुक्त रहोगे और एक साहसी आत्मसंपन्न व्यक्ति की तरह खांटी वास्तविकता से जूझोगे। आने वाला वर्ष तुम्हारा सहयोगी हो और तुम्हें क्षमतावान बनाए।

सदैव,

तुम्हारा

रायनर मारिया रिल्के

बोरिस पॉस्तरनाक से एक बातचीत

☐ ओल्गा वादिमोवना आंद्रेवा

१९६० की सर्दियों में, पॉस्तरनाक की मृत्यु से कुछ ही समय पहले मैं मॉस्को गयी थी जहां मैं उनसे मिलने और भेंटवार्ता करने में सफल हुई थी। मैंने उनके साथ हुई उन मुलाकातों का बयान 'वॉयसेज इन द स्नो' में किया है।

मेरे पास मां-बाप तथा पॉस्तरनाक के अन्य प्रशंसकों के दिए उपहार तथा संदेश थे। लेकिन पॉस्तरनाक से संपर्क कैसे हो? जल्द ही मुझे पता चल गया कि उनके पास फोन नहीं है। उन्हें लिखने का विचार भी मैंने मन से निकाल दिया क्योंकि मुझे आशंका हुई कि मुमकिन है उनके पास, मिलने का अनुरोध करने वालों के लिए एक तरह का बना-बनाया अस्वीकृति पत्र हो। ऐसे में मेरे लिए एकमात्र तरीका यही बचता था कि मैं सीधे उनके घर पहुंच जाऊं, मगर इस निर्णय तक पहुंचने के लिए मानसिक तौर पर मुझे अपार कोशिश करनी पड़ी कि इतने मशहूर आदमी के पास मैं बिना पूर्व सूचना के पहुंच जाऊं। इसके अलावा, मुझे यह आशंका भी थी कि बाद के इन वर्षों में पॉस्तरनाक मेरे मन में निर्मित अपनी उस छवि के अनुकूल सिद्ध नहीं हो पाएंगे, जो छवि मैंने उनकी कविताओं के माध्यम से बनायी थी—गीतात्मक, सम्वेगी और युवा ऊर्जा से भरपूर।

मेरे मां-बाप ने इस बात का जिक्र किया था कि नोबल पुरस्कार विजेता होने से पहले पॉस्तरनाक हर रविवार को अपने घर के दरवाजे आगंतुकों के लिए खुला रखते थे, (दरअसल ऐसा जान पड़ता है कि रूसी लेखकों के लिए यह एक परंपरा-सी रही है, और विदेशों में रहने वाले रूसियों में भी यह परंपरा मौजूद है।) मॉस्को प्रवास के अपने तीसरे रविवार को, मैंने तय किया कि मैं पॉस्तरनाक से पेरेदेल्किनो स्थित उनके घर जाकर मिलूं, वह एक चमकता हुआ दिन था और मॉस्को का केंद्रीय हिस्सा सर्दियों के स्वप्न-नगर सरीखा दिख रहा था। सड़कें मॉस्को के दर्शनीय स्थानों को देखने आए लोगों से भरी थीं। शहर के बाहर से आए परिवार किसानों की तरह लदे फंदे क्रेमलिन की ओर पैदल चले जा रहे थे। उनके चेहरे उम्मीद से भरे थे। उनमें से बहुतों के हाथों में लाजवंती के फूल थे। किसी-किसी ने फूलों का एक छोटा-सा गुच्छा भर ले रखा था—और ये फूल इन लोगों के उत्सव सरीख माहौल में और प्रफुल्लता पैदा कर रहे थे। सर्दियों में, रविवारी को मॉस्को में लाजवंती फूलों की बड़ी खेपें पहुंचा करती हैं। रूसी लोग उन्हें एक-दूसरे को उपहार स्वरूप देने के लिए या यों ही हाथ में लेकर घूमने के लिए खरीदते हैं, मानो वे फूल दिन की पावनता का निशान हों।

मैंने पेरेदेल्किनो के लिए एक टैक्सी लेने का फैसला किया, हालांकि मुझे पता था कि कीएव रेलवे स्टेशन से एक इलेक्ट्रिक ट्रेन मॉस्को के बाहरी इलाकों तक जाती है। अकस्मात, मैंने पाया कि मुझे वहां पहुंचने की जल्दी महसूस हो रही है।

टैक्सी ड्राइवर नौजवान था और हर कहीं टैक्सी ड्राइवरों के साथ जो गुमनामी का सा एहसास होता है वही बात उसके बारे में भी कही जा सकती थी। उसने मुझे आश्वस्त किया कि उसे पेरेदेल्किनो का रास्ता मालूम है जो कीएव जाने वाली मुख्य सड़क पर लगभग तीस किलोमीटर की दूरी पर था। ऐसा लग रहा था कि उस खूबसूरत धूप वाले दिन शहर से बाहर देहात की तरफ मेरा टैक्सी में निकलना बिलकुल स्वाभाविक महसूस हो रहा था।

लेकिन रास्ते की जानकारी के बारे में ड्राइवर ने जो दावा किया था वह दावा उसकी शेखी साबित हुआ और जल्दी ही हम भटक गए। सड़कों पर कुछ स्पष्ट संकेत चिह्न थे जरूर, लेकिन वे हमारे गंतव्य की ओर पहुंचाने के मामले में नाकाम साबित हुए, इसलिए हम रुक-रुक कर लोगों से रास्ता पूछने लगे। हर कोई दोस्ताने ढंग से बात करता था और हमारी मदद के लिए तैयार दिखता था, लेकिन किसी को पेरेदेल्किनो का पता मालूम नहीं था और हम खुद को पहले से भी ज्यादा भटका हुआ महसूस करने लगे। हम काफी देर तक बर्फ से ढंके सफेद खेतों के बीच एक ऊबड़-खाबड़ और बर्फ जमी सड़क पर गाड़ी में चलते रहे।

आखिरकार हम एक गांव में पहुंचे जो मॉस्को शहर के बाहरी इलाकों में रिहाइशी फ्लैटों के विशाल भवनों की परियोजना के बिलकुल विपरीत था। वहां एक सीधी बर्फभरी मुख्य सड़क के किनारों पर बहुत पुरानी शैली के, लट्ठों से बने हुए छोटे-छोटे घर थे। घोड़े से खींची जाने वाली एक स्ले पास से गुजरी; सिरों पर रूमाल बांधे महिलाओं का एक समूह लकड़ी से बने एक छोटे से गिरजाघर के नजदीक खड़ा था। पूछने पर पता चला कि उस बस्ती का नाम है पावलेंको और पेरेदेल्किनो वहां से काफी पास है। घने सदाबहार पेड़ों के बीच से गुजरती घुमावदार सड़क पर हमारी गाड़ी पांच मिनट चली होगी और हम पॉस्तरनाक के घर के सामने थे। मैंने अचानक अपने दाहिनी तरफ की उस भरी-सी इमारत को पहचान लिया जिसकी खिड़कियां सड़क की ओर खुलने वाली थीं। मैंने पत्र-पत्रिकाओं में इस घर के चित्र देख रखे थे।

पेरेदेल्किनो यहां-वहां बसे घरों वाला एक छोटा-सा शहर है, जो उस धूप भरी दोपहर में मेहमानवाज और खुश-खुश दिख रहा था। मुझे बताया गया था कि वहां लेखक और कलाकार रहा करते हैं, मगर पेरेदेल्किनो का ज्यादातर हिस्सा छोटे कारीगरों और किसानों की बस्ती जैसा दिख रहा था।

उस माहौल में कुछ भी 'कलात्मक' नहीं था, हालांकि पेरेदेल्किनो मॉस्को के नजदीक वाली महत्त्वपूर्ण लेखक बस्तियों में एक है। बस्ती में लेखकों और पत्रकारों के लिए एक काफी बड़ा विश्रामघर है जिसका संचालन सोवियत लेखक संघ करता है। कॉर्नेई चुकोव्स्की यहीं एक आरामदेह घर में रहते हैं जहां रविवार को वे अपने परिवार तथा करीबी दोस्तों के साथ आमोद-प्रमोद में समय बिताते हैं। कॉन्स्तैंतिन फेदिन का घर पॉस्तरनाक के पड़ोस में है। इन दिनों वे लेखक संघ के प्रथम सचिव हैं। इस पद पर लंबे समय तक अलेक्सांद्र फेदेयेव थे जो १९५६ तक, जब उनकी मृत्यु हुई, पेरेदेल्किनो में ही रहते थे। काफी लंबा अरसा हुआ कि आइज़ैक बेबेल यहीं गिरफ्तार किए गए थे। पॉस्तरनाक के घर से वह घर दिखाई देता है जहां वे रहते थे—एक खाई के उस पार, बर्फ में खोया हुआ।

पॉस्तरनाक का घर एक जरा-सी घुमावदार देहाती सड़क पर है जो सड़क पहाड़ी की ढलान से गुजरती हुई एक छोटी-सी नदी तक जाती है। उस धूप भरी दोपहर में पहाड़ी स्की और स्लेडों पर चढ़कर खेलते हुए बच्चों से भरी थी। सड़क के दूसरी तरफ एक विशाल बाड़ेदार खेत है। यह खेत सामुदायिक है जिसमें अनुकूल मौसम में खेती होती है। अभी सर्दियों में तो वहां एक विस्तृत सफेद फैलाव था जिस पर मानो यह एक छोटी-सी कब्रगाह राज कर रही थी—जैसे कि शागाल के किसी चित्र की पृष्ठ भूमि का छोटा-सा हिस्सा हो। मकबरों के गिर्द चटख नीले रंग से रंगी लकड़ी की बाड़ है और सलीब आड़े-तिरछे गड़े हुए हैं। कब्रों पर कागज के बने चटखे गुलाबी और सफेद फूल थे, मकबरे बर्फ में आधे दफन दिख रहे थे। कुल मिलाकर वह एक खूबसूरत कब्रगाह है। कब्रगाह के उधर, दूर उस पार बच्चे एक जमे हुए तालाब पर स्केटिंग करते दिख रहे थे। उनकी छोटी और तेज गति से बर्फ पर फिसलती आकृतियां बड़े-बड़े दायरों में घूम रही थीं।

पॉस्तरनाक के घर का बरामदा कुछ ऐसा है जिसे बाहर से देखते हुए यह एहसास हो सकता है कि वह घर चालीस साल पहले के किसी अमरीकी घर की तरह दिख रहा है लेकिन पृष्ठभूमि में जो फर के पेड़ हैं वे उस घर के रूसी होने की निशानियां हैं। वे एक दूसरे से बिलकुल सटकर उगते और बढ़ते हैं और गझिन जंगल का आभास देते हैं, हालांकि पेरेदेल्किनो के आसपास उनके छोटे-छोटे झुरमुट ही हैं। छोटी-सी शंख, घोंघे जड़ी चारदीवारियों के पीछे खड़े वे पेड़ बस्ती की गलियों में किसी परी कथा-सा प्रभाव रचते हैं। बाद में मुझे यह पता चला कि पेरेदेल्किनो जाने वाले व्यक्ति को टहलाने के लिए अक्सर बर्फ भरी गलियों में ले जाया जाता है। टहलना रूसी जिंदगी का एक सर्वस्वीकृत भाग है—चाय पीने की तरह।

मैंने ड्राइवर के पैसे चुकाये और बहुत डरते घबड़ाते हुए चारदीवारी के फाटक को धकेलकर खोला जो बाग को सड़क से अलग करती है। आगे बढ़ती हुई मैं घर तक पहुंची। घर की बगल के छोटे से बरामदे में एक दरवाजा था जिस पर एक पुरानी-सी अधफटी चिट लगी थी और उस पर लिखा था—"अभी मैं काम कर रहा हूं। मैं किसी से मिल नहीं सकता। कृपया लौट जायें।" पल भर की हिचकिचाहट के बाद मैंने तय किया कि उसे अनदेखा कर देना है, ज्यादा इस वजह से कि वह चिट काफी पुरानी दिख रही थी। और इसलिए भी कि मेरे हाथ में उपहारों के छोटे-छोटे पैकेट थे। मैंने दरवाजे को खटखटाया और लगभग फौरन दरवाजा खोला गया—खुद पॉस्तरनाक ने दरवाजा खोला था।

उन्होंने एक अस्त्राखान हैट पहन रखा था। वे खूबसूरत दिख रहे थे। ऊंची हड्डियों वाले कपोलों और गहरे रंग की आंखों और रोएंदार हैट वाले पॉस्तरनाक किसी रूसी लोककथा से प्रकट हुए पात्र की तरह दिख रहे थे। वे ऊंचे फर वृक्षों और लकड़ी के घरों और घोड़ों से खींचे जाने वाले स्लेजों से पूरी तरह मेल खाते दिख रहे थे। यात्रा की निरंतर बढ़ती चिंता के बाद, अचानक मैं सोचने लगी कि आखिर मुझे पॉस्तरनाक से मिल पाने को लेकर संशय था ही क्यों!

मैंने नाम बताते हुए अपना परिचय दिया—ओल्गा वादिमोवना आंद्रेवा। आंद्रेयेव खासा आम किस्म का रूसी नाम है, और उन्हें यह समझने में मिनट भर का वक्त लगा कि मैं वादिम लिओनिदोविच की बेटी हूं और मैं उनसे मिलने के लिए विदेश से आयी हूं। उन्होंने बड़ी गर्मजोशी से मेरा स्वागत किया, मेरे हाथ को दोनों हाथों से थामा और मेरी मां के

स्वास्थ्य तथा पिता के लेखन तथा पिछली बार मेरे पेरिस में होने के समय के बारे में पूछने लगे। मैंने महसूस किया कि उनकी आंखें बड़े करीब से मेरे चेहरे पर टिकी हुई मेरी पारिवारिक मुखाकृतियों से मेरे चेहरे की समानता ढूंढ़ रही थीं, उन्होंने कहा कि वे कुछ लोगों से मिलने के लिए बाहर निकलने ही जा रहे थे। अगर एक मिनट की भी देर मुझसे हुई होती तो मैं उनसे न मिल पाती। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं उनके साथ उनके रास्ते में कुछ दूर चलूं—लेखक क्लब तक जो उनका पहला पड़ाव होना था।

पॉस्तरनाक के घर में घुसने के लिए रसोई घर से गुजरना पड़ता है जहां एक छोटा-सा, मुस्कराता हुआ अधेड़ रसोइया आपका स्वागत करता है और एक छोटे से ब्रश से आपके कपड़ों की बर्फ साफ करने में आपकी मदद करता है। यहां आप अपने भारी जूते और ओवरकोट उतार सकते हैं। उसके बाद भोजन कक्ष आता है जिसकी अकेली खिड़की पर जिरेनियम के फूल उगा करते हैं। दीवारों पर चारकोल और रक्तिम रंगों से बनाए गए लिओनिद पॉस्तरनाक के रेखांकन टंगे हैं। लिओनिद पॉस्तरनाक लेखक के पिता थे जो अकादमिक शैली के एक मशहूर और प्रतिभावान रूसी चित्रकार थे। दीवारों पर आम जिंदगी से बनायी तस्वीरों के साथ-साथ व्यक्ति चित्र भी हैं, जिनमें आप तोलस्तॉय, गोर्की, स्क्रियाबिन और राचमानिनोफ को पहचान सकते हैं। वहां बोरिस पॉस्तरनाक, उनके भाई और उनकी बहनों के किशोर वय के और बड़े-बड़े हैट पहने महिलाओं के रेखांकन हैं। यह पॉस्तरनाक के आरंभिक संस्मरणों और किशोर वय के प्रेम के बारे में लिखी गई कविताओं के संसार से काफी मिलता-जुलता संसार है, इसमें युद्ध और शांति के संसार की गूंजें हैं।

जिस दौरान पॉस्तरनाक बाहर निकलने को तैयार हो रहे थे मुझे कमरे के आसपास देखने का मौका मिला था। जिस क्षण मैंने घर में प्रवेश किया था तभी से मुझे मॉस्को स्थित लियो तोलस्तॉय के घर से इस घर की अद्‌भुत समरूपता महसूस होने लगी थी जिसे कुछ ही दिन पहले मैंने देखा था। इस घर में भी वैसी ही सादगी और मेहमानवाजी का माहौल था, पॉस्तरनाक के घर में वही सब कुछ था जो आवश्यक तौर पर उन्नीसवीं सदी के किसी बुद्धिजीवी के घर में हुआ करता था। दोनों घरों में आरामदेह मगर बिलकुल सादा किस्म के पुराने फर्नीचर हैं, दोनों एक अध्ययनशील जिंदगी या अनौपचारिकता आमोद-प्रमोद के लिए आदर्श जगहें लगती हैं। कहने की जरूरत नहीं कि अपने वक्त के हिसाब से तोलस्तॉय का मकान काफी सादा किस्म का है मगर पॉस्तरनाक के घर की तुलना में वह काफी बड़ा और फैलाव लिए हुए है, लेकिन दोनों ही इस मामले में समान हैं कि उनमें रमणीयता या प्रदर्शन की कोई परवाह नहीं दिखती। खुद पॉस्तरनाक के शब्दों में, यह एक ऐसा घर था जिसमें 'सादगी और आराम के बीच जिरह हुआ करती थी।'

दस या पंद्रह मिनट बाद पॉस्तरनाक बाहर निकलने को तैयार थे। हम बाहर की धूप में निकल आए और घर के पीछे के सदाबहार बागीचे से गहरी बर्फ में चलते हुए आगे बढ़े। जल्दी ही स्विट्‌जरलैंड में बने मेरे शहराती बूटों में बर्फ घुस चुकी थी, गुजरती दोपहर के साथ धूप पीली पड़ने लगी थी लेकिन उसकी ऊष्मा अभी बाकी थी।

जल्द ही हम एक देहाती सड़क पर थे जहां बर्फ ठीक से बैठी हुई थी जिस पर चलना काफी सुगम था, हालांकि उस पर भी मुलायम बर्फ के ऐसे हिस्से थे जो धोखा दे सकते थे। पॉस्तरनाक खासे लंबे थे और वे लंबे डग लेते हुए चल रहे थे। सड़क का कोई खतरनाक हिस्सा देखकर जहां बर्फ गहरी या फिसलन भरी होती थी। वे मेरी बांह पकड़ लेते थे। अन्यथा उनका सारा ध्यान बातचीत पर था। ऐसा लग रहा था कि पैदल चलना उन्हें बहुत प्रिय हो। हमने लेखकों के क्लब जाने के लिए जो रास्ता लिया था, वह जाहिरा तौर पर घूम फिरकर पहुंचने वाला रास्ता था। हम लगभग चालीस मिनट तक टहलते गए जिस दौरान मुझे महसूस हुआ कि पॉस्तरनाक का रवैया ज़्यादा-से-ज्यादा दोस्ताना होता गया। उन्होंने बिना किसी भूमिका के, अनुवाद की कला पर एक उलझाने वाली चर्चा शुरू कर दी, लेकिन बीच-बीच में वे उस विषय को छोड़कर फ्रांस और अमरीका की राजनीतिक और साहित्यिक स्थितियों के बारे में सवाल कर रहे थे, उन्होंने कहा कि वे मुश्किल से ही कभी अखबार पढते हैं, "अपवाद के तौर पर वे मौके होते हैं जब मैं अपनी पेंसिल की नोक दुरुस्त कर रहा होऊं और अखबार के उस पन्ने पर निगाह घुमाने लगूं जिस पर मैं पेंसिल से गिरा बुरादा इकट्‌ठा करता हूं। इसी तरह पिछले पतझड़ में मुझे पता चला था कि अल्जीरिया में द गाल के खिलाफ लगभग क्रांति जैसी चीज हुई और सूस्तेल को बाहर निकाल किया गया···सूस्तेल को निकाल बाहर किया गया।" द गाल के फैसले से अपनी सहमति और रूसी में शब्दों की समानता पर जोर देते हुए उन्होंने संतोष के साथ दुहराया। वस्तुतः, विदेशों के साहित्यिक जगत के बारे में वे जानकारियों से काफी अच्छी तरह लैस मालूम हुए और खास तौर पर अमरीकी साहित्य में उनकी रुचि थी।

पहले ही क्षण से मैं मुग्ध और प्रभावित थी कि पॉस्तरनाक की बातचीत किस कदर उनकी कविता के समान ही थी—अनुप्रासों और असामान्य बिंबों से भरी। वे शब्दों को एक दूसरे के साथ बड़े संगीतमय ढंग से जोड़ रहे थे फिर भी ऐसा कतई न था कि उनका स्वर बनावटी लगे या वे शब्दों के सही अर्थ को छोड़ रहे हों। उनका शब्द-बोध इतना मौलिक और तीव्र था कि ऐसा लग रहा था जैसे उनकी बातचीत किसी कविता की निरंतरता-सी चल रही हो—जैसे शब्दों और बिंबों की लहरें एक-दूसरे से आरोही स्वर में गुंथ रही हों।

हमारे परिचय के कुछ समय बाद मैंने उनके बोलने के संगीतमय अंदाज के बारे में टिप्पणी की थी। "लिखने या बोलने में," उन्होंने कहा था, "शब्द का संगीत कभी भी मात्र ध्वनि का मामला नहीं होता। वह संगीत स्वरों और व्यंजनों के सुसंगत मेल का परिणाम नहीं होता। वह पैदा होता है कथन और उसके अर्थ के बीच के रिश्ते से। और अर्थ—अंतर्वस्तु को आवश्यक तौर पर पहले आना चाहिए।"

पॉस्तरनाक युवा और काफी स्वस्थ दिख रहे थे। यह मान सकना कठिन था कि मैं सत्तर साल के इंसान के साथ चल रही थी। उनके युवापन में कोई चीज थी जो जरा अजीब और निषेधपूर्ण थी जैसे कि उनके व्यक्तित्व के सार तत्व के साथ किसी चीज ने खुद को घुला-मिला लिया हो ताकि

उसे वह सुरक्षित रख सके। क्या वह चीज कला थी? यहां तक कि उनकी चाल ढाल, उनके हाथों की मुद्राएं या जिस अंदाज में वे अपने सिर को पीछे की ओर झटकते थे—सबकुछ तरुणाई से भरी थीं। उनकी मित्र कवि-यित्री मरीना स्वेतायेवा ने एक बार लिखा था, "पॉस्तरनाक एक ही समय में किसी अरब की तरह और उसके घोड़े की तरह दिखाई देते हैं।" और सचमुच, त्वचा के गहरे रंग और गैर मामूली नाक नक्श वाले पॉस्तरनाक के चेहरे में अरबीपन का आभास देने वाली कोई चीज थी जरूर। कुछ मौकों पर, लगता था कि वे अपनी असाधारण रूपाकृति, अपने संपूर्ण व्यक्तित्व से पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अकस्मात सजग हो जाते थे। वैसे में, लगता था जैसे पल भर के लिए वे खुद में वापस लौट गए हों—अपनी तिरछौंही भूरी आंखों को आधा मूंदकर अपने सिर को किसी और तरफ मोड़ते हुए···और तब आपको हल्के से अचानक किसी घोड़े के अड़ने की मुद्रा याद आ सकती थी।

मॉस्को में मुझसे कहा गया था कि पॉस्तरनाक एक ऐसे शख्स हैं जो अपनी ही छवि से प्रेम में डूबे हुए हैं—लेकिन तब यह भी था कि पॉस्तर-नाक के विषय में, पिछले कुछ सप्ताहों के दौरान मुझे कितनी-कितनी बातें बतायी गयी थीं। पॉस्तरनाक एक जीवित अनुश्रुति बन चुके थे—कुछ के लिए नायक और कुछ दूसरों के लिए एक ऐसे व्यक्ति जो रूस के दुश्मनों के हाथ बिक चुका था। उनका चरित्र डॉक्टर जिवागो ही सबसे ज्यादा विवादग्रस्त जान पड़ता था; बहुत से नौजवान लोगों ने मनमाने तरीके से पॉस्तरनाक की पहचान को औपन्यासिक पात्र यूरी जिवागो के साथ मिला दिया था।

किसी भी तरह, मेरा नतीजा यह था कि इस आरोप में कोई दम न था कि पॉस्तरनाक अहम् केंद्रित थे। इस धारणा के विपरीत वे अपने आस-पास के संसार को लेकर बेहद सचेत थे और अपने निकट के लोगों की मनःस्थिति के हर परिवर्तन पर प्रतिक्रिया करते थे।

उनसे ज्यादा अनुभूतिक्षम संवादपटु व्यक्ति की कल्पना कर सकना कठिन है। सर्वाधिक दुर्ग्राह्य विचार को भी वे फौरन समझ लेते थे। वार्ता-लाप का सारा भारीपन जाता रहता था। हालांकि उन्होंने मेरे माता-पिता को अपनी जिंदगी में सिर्फ कुछ दफा देखा था लेकिन उनके बारे में उन्हें सबकुछ याद था—उनकी पृष्ठभूमि, उनकी रुचियां, उनके विचार। मेरे पिता की कुछ कविताएं उन्होंने आश्चर्यजनक रूप से सही-सही याद कीं। वे उनकी पसंद की कविताएं थीं जल्द ही मुझे पता चल गया था कि उनसे उनके अपने बारे में बात कर सकना मुश्किल था। मैंने उम्मीद की थी कि वे ऐसा करेंगे।

उस दिन सर्दियों की चमकती धूप में साथ-साथ चलते हुए मैंने पॉस्तर-को बताया कि पश्चिमी जगत, खासकर संयुक्त राज्य अमरीका में 'डॉक्टर जिवागो' ने कितने लोगों का ध्यान खींचा था और कैसी प्रशंसा हासिल की थी, और वह भी इस तथ्य के बावजूद कि अंग्रेजी अनुवाद उनकी मूल पुस्तक के साथ न्याय नहीं करता।

"हां," उन्होंने कहा, "मुझे इस तरह की दिलचस्पी के बारे में पता है और इसे लेकर मैं बेहद खुशी और गर्व महसूस करता हूं। विदेशों से मेरे पास मेरी कृति के बारे में बहुत बड़ी संख्या में पत्र आते हैं। दरअस्ल, बाज मौकों पर वे सारी जिज्ञासाएं जिनके उत्तर मुझे देने होते हैं मेरे लिए खास बोझ बन जाती हैं, लेकिन सीमाओं के पार संबंधों को बनाए रखना अपरि-हार्य है। जहां तक 'डॉक्टर जिवागो' के अनुवादकों का सवाल है, उन्हें ज्यादा दोष न दें। यह उनका कसूर नहीं है। कहीं के भी अनुवादकों की तरह वे, जो कहा गया है उसके स्वर की बजाय शाब्दिक अर्थ को पुर्नप्रस्तुत करने की प्रवृत्ति रेखते हैं। अनुवाद में असली चीज है स्वर जो महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में एकमात्र चुनौती भरे अनुवाद क्लासिक पुस्तकों के अनुवाद होते हैं। आधुनिक कृतियों के अनुवाद आसान हो सकते हैं लेकिन वे, अनुवाद बिरले ही लाभप्रद हो पाते हैं। तुमने बताया कि तुम चित्रकार हो तो अनुवाद, बहुत कुछ चित्रों की अनुकृतियां बनाने जैसा काम है। कल्पना करो कि तुम मालेविच की किसी कृति की नकल बना रही हो। वह काम ऊबाऊ नहीं होगा? अतियथार्थवादी चेक कवि नेजवाल के साथ मुझे जो करना है वह ठीक इसी तरह की चीज है वह वस्तुतः बुरा नहीं है लेकिन बीस के दशक का यह सारा लेखन भयानक रूप से पुराना पड़ चुका है। जिस अनुवाद को मैंने पूरा करने का वादा किया है वह और मेरा खुद का पत्राचार, दोनों मेरा बहुत समय लेते हैं।

"तुम भली भांति कल्पना कर सकती हो कि 'डॉक्टर जिवागो' के बारे में जो पत्र मेरे पास आते हैं उनमें से कुछ काफी बेतुके होते हैं। हाल में किसी ने फ्रांस से डॉक्टर जिवागो के विषय में लिखते हुए उस उपन्यास की योजना के बारे में पूछा था—मेरा अनुमान है कि वह उपन्यास फ्रांसीसी व्यवस्था बोध को चकरा देता है। लेकिन यह कैसी बेवकूफाना बात है, क्योंकि उपन्यास की योजना की रूपरेखा उपन्यास के साथ शामिल की गयी कविताओं में है। अंशतः इसीलिए मैंने उन्हें उपन्यास के साथ एक ही जिल्द में छपवाने का फैसला किया। वे वहां इसलिए हैं कि उपन्यास को ज्यादा सही ढांचा दें, ज्यादा समृद्ध बनायें। इसी कारण, मैंने धार्मिक प्रतीक वाद का इस्तेमाल किया ताकि पुस्तक को और ऊष्मा दे पाऊं। अब कुछ आलोचक उन प्रतीकों में इस कदर उलझ गए हैं—जो कि किताब में उन अंगीठियों की तरह आए हैं जिनका काम घर को गर्म करना है—कि उनकी ख्वाहिश होगी कि मैं उन प्रतीकों में बंध जाऊं और सीधे अंगीठी में दाखिल हो जाऊं।"

"विद्वान मेरे उपन्यास की धर्मशास्त्रीय व्याख्या करते हैं। दुनिया के बारे में मेरी जो समझ है उससे कोई भी चीज इतनी ज्यादा दूर नहीं हो सकती। मैं इसे जरूरी मानता हूं कि व्यक्ति जिंदगी से पाती हुई नयी विधियों की सहायता से अविराम जिये और लिखता जाये। मैं किसी एक दृष्टिकोण के प्रति हर मूल्य पर निष्ठा बनाये रखने के खयाल से आजिज आ चुका हूं। हमारे आसपास जीवन निरंतर बदल रहा है और मेरी मान्यता है कि उसी के अनुसार व्यक्ति को अपने झुकाव में परिवर्तन की कोशिश करनी चाहिए—कम-से-कम हर दस साल के बाद एक बार।" उन्होंने मजाकिया लहजे में जोड़ा, "एक दृष्टिकोण के प्रति महान नायकों वाली निष्ठा की धारणा मेरे लिए अजनबी है। इसमें विनम्रता की कमी दिखती है। मायकोव्स्की ने खुद को मार डाला क्योंकि उसके अंदर या उसके आसपास

जो कुछ नया घटित हो रहा था उसे उसका अभिमान स्वीकार नहीं कर पाया।"

हम लकड़ी की बनी एक लंबी नीची चारदीवारी के पास पहुंच गये थे और पॉस्तरनाक फाटक के पास रुक गए। हमारे टहलने की वजह से उन्हें देर हो चुकी थी। मैंने अफसोस के साथ उन्हें विदा कहा। कितनी सारी और बातें अभी मैं उनसे पूछना चाहती थी। पॉस्तरनाक ने मुझे रेलवे स्टेशन का रास्ता दिखाया जो काफी करीब था—छोटी कब्रगाह के पीछे वाली पहाड़ी की ढलान के नीचे। एक छोटी-सी बिजली वाली ट्रेन से मैं एक घंटे से कम समय में मास्को पहुंच गयी।

पॉस्तरनाक के साथ उसके बाद हुई मुलाकातें मेरी स्मृति में घुल मिलकर एक लंबी बातचीत के रूप में है। हालांकि उन्होंने मुझे औपचारिक इंटरव्यू देने से मना कर दिया लेकिन उन सवालों में उनकी दिलचस्पी थी जो मैंने उनके सामने मोटे तौर पर रखे थे। "इसके लिए, तुम्हें वापस आना पड़ेगा जब मैं कम व्यस्त होऊं, शायद अगले पतझड़ में।" भोजन के समय को छोड़कर हम अकेले होते थे और हमारी बातचीत में कोई खलल नहीं पड़ता था। हर बार जब मैं चलने को होती थी, पॉस्तरनाक पुरानी रूसी शैली में मेरा हाथ चूमते थे और मुझसे अगले रविवार आने को कहते थे ताकि तीन चार सप्ताह की एक छोटी अवधि में मेरे वहां पहुंचने का एक क्रम बन जाये।

मुझे याद है कि एक दफा जब रेलवे स्टेशन से मैं गोधूलि के समय कब्रगाह के पास से गुजरने वाले छोटे रास्ते से पॉस्तरनाक के घर जा रही थी तो अचानक हवा बड़ी तेज हो गयी। वह बर्फीली आंधी की शुरुआत थी। दूर की रोशनियों में स्टेशन के आसपास बर्फ विशाल घुमावदार लहरों-सी उड़ रही थी, मैंने देखा। देखते ही देखते सारे माहौल में अंधेरा भर गया। हवा इतनी तेज थी कि मुझे चलने में मुश्किल होने लगी। मुझे पता था कि रूस की सर्दी के मौसम के लिए यह आम परंपरागत स्थिति होती है, लेकिन रूस में मेरे लिए बर्फीले अंधड़ का यह पहला अनुभव था। पॉस्तरनाक की आरंभिक कविताएं और 'डॉक्टर जिवागो' की बर्फीली आंधियां इसी तरह के मौसम की पैदाइश थीं। कुछ ही पल बाद पॉस्तरनाक के घर में दाखिल होना और उनके दीर्घवृत्तीय वाक्यों को सुनाना एक अनूठा अनुभव था, जो काफी कुछ उनकी कविताओं के ही समान थे।

मैं इतनी देर से पहुंची थी कि दोपहर का भोजन हो चुका था। पॉस्तरनाक का परिवार आराम करने जा चुका था और घर निर्जन लग रहा था। पॉस्तरनाक ने जोर देते हुए मुझसे कुछ खाने को कहा था। रसोइया भोजन कक्ष में थोड़ा-सा मृगमांस और वोदका ले आया। लगभग चार बज रहे थे लेकिन कमरा अंधेरा और गर्म था—बंद और बाहरी दुनिया से अलग। बाहर से महज बर्फ और आंधी की आवाजें आ रही थीं पॉस्तरनाक मेरे सामने मेज के दूसरी तरफ बैठ गये।

हालांकि मैं भूखी थी और भोजन स्वादिष्ट था, मुझे इस बात का अफसोस होता रहा कि पॉस्तरनाक मेरे दादा के बारे में जो कह रहे थे उस पर पूरी तरह ध्यान केंद्रित करने की बजाय मुझे खाना पड़ रहा था। पॉस्तरनाक ने हाल ही में उनकी कुछ कहानियां फिर से पढ़ी थीं और उन्हें काफी पसंद किया था। "उन पर रूस के उन विलक्षण वर्षों की छाप है···"

वे वर्ष अब हमारी स्मृति में धूमिल होते जा रहे हैं और फिर भी उनकी धुंधली आकृतियां हमारे दिमाग में बसी हैं, दूर से दिखने वाले पहाड़ों की तरह, विशाल। आंद्रेयेव पर एक तरह का नीत्शेवादी जादू छाया था। नीत्शे से उन्होंने अतिथों वाली अपनी रुचि हासिल की थी। ऐसा ही स्क्रियाबिन से किया था। नीत्शे ने रूसियों की उस चाह को तुष्ट किया था जो अतिथों और निर्द्वंद्व निरंकुश स्थितियों की चाह होती है···विराटता की उनकी ललक। संगीत हो या लेखन, मनुष्यों को किसी तरह की विशिष्टता हासिल करने और अपना व्यक्तित्व प्राप्त करने से पहले एक विशाल क्षेत्र चाहिए था।"

पॉस्तरनाक ने मुझे, हाल में एक जर्मन पत्रिका के लिए 'मनुष्य क्या है?' नामक एक लेख के बारे में बताया। "नीत्शे कितना पुरातनपंथी लगता है। वही नीत्शे जो मेरे युवा वर्षों का सबसे महत्त्वपूर्ण चिंतक था। कितना व्यापक था उसका प्रभाव—वैगनर पर, गोर्की पर···। गोर्की उसके विचारों से भरे हुए थे। वास्तव में नीत्शे की मुख्य भूमिका अपने काल की बुरी रुचियों के प्रसारक की थी। उसका प्रभामंडल कितनी जल्दी धूमिल पड़ गया! विचारक तो कीर्केगार्द था, जो उन वर्षों में बहुत कम जाना जाता था, और जो हमारे युग को प्रभावित करने के लिए नियत था। मैं बदर्यायेव की कृतियों को बेहतर ढंग से जानना चाहूंगा। वह उसी प्रकार की विचार प्रणाली वाला लेखक था। मेरा मानना है कि वह सच्चे अर्थों में हमारे समय का लेखक था।"

भोजन कक्ष में काफी अंधेरा हो चुका था और हम उसी मंजिल की एक छोटी-सी बैठक में चले गये जहां एक बत्ती जल रही थी। पॉस्तरनाक मेरे लिए संतरे लेकर आये। उन संतरों को खाते हुए मुझे एक अनोखा एहसास हुआ कि मैं इस अनुभव से पहले गुजर चुकी हूं—पॉस्तरनाक की रचनाओं में संतरे हमेशा आते हैं—डॉ० जिवागो के आरंभ में, आरंभिक कविताओं में ऐसा लगता है मानो वे प्यास बुझाने का आनुष्ठानिक प्रतीक है और फिर मुझे पॉस्तरनाक की एक कविता बड़े स्पष्ट तौर पर याद आयी उस बर्फीली आंधी की तरह जो बाहर चल रही थी—एक विशाल खुला हुआ पिआनो—काला और भूधराकार जो कमरे का अधिकांश भाग घेरे हो।

···क्या हम हो सकते थे समीपतर
जितने समीप हैं इस ढलती सांझ में यहां, स्वर लिपि किसी डायरी सरीखी
पृष्ठ दर पृष्ठ, साल दर साल, आग पर आलोड़ित

भोजन कक्ष की तरह ही बैठक की दीवारों पर भी साधारण फ्रेमों में मंढ़े लिओनिद पॉस्तरनाक के रेखाचित्र टंगे हुए थे। पिछली सदी के अंतिम वर्षों के अर्द्धपरिचित चेहरे हमें निहार रहे थे।

जिन लोगों ने पॉस्तरनाक को डॉक्टर जिवागो के रचनाकाल के दौरान देखा था उन्होंने मुझे बताया था कि तब पॉस्तरनाक ने अपनी पहले की ज्यादातर कविताओं को प्रयोगात्मक और पुरानी मानकर खारिज कर दिया था। मुझे इस पर विश्वास करने में कठिनाई हुई थी। 'थीम्स ऐंड

वैरिएशंस' और 'माइ सिस्टर, लाइफ' उन्नीस सौ बीस के दशक के लिए चाहे जितने भी प्रयोगात्मक रहे हों उनमें एक क्लासिकीय पूर्णता थी। मुझे यह पता लगा कि रूस के लेखकों और कवियों को वे कविताएं कंठस्थ थीं और वे बड़े उत्साह से उनका पाठ करते थे। अक्सर नये कवियों की कविताओं पर आप पॉस्तरनाक का प्रभाव देख सकते थे। मायकोव्स्की और पॉस्तरनाक दोनों अपने-अपने तरीके से, क्रांति के वर्षों के विशिष्ट प्रतीक थे। तब कला और क्रांतिकारी विचार अविभाज्य जान पड़ते थे। इतना पर्याप्त था कि व्यक्ति खुद को अभिमत करने वाली घटनाओं और विचारों के साथ बह जाने दे। दिल को तोड़ने वाली बहुत थोड़ी-सी ऐसी चीजें थी जिनमें से कोई चुनाव कर पाये और मैंने पाया कि बहुत से युवा रूसियों के मन में उन वर्षों के लिए एक चाह थी। क्या यह बात सही थी कि पॉस्तरनाक ने पहले की उन कृतियों को खारिज कर दिया था?

पॉस्तरनाक के जवाब में हल्की-सी खीझ थी। हो सकता है ऐसा रहा हो कि वे सिर्फ उन कविताओं के कारण सराहा जाना न चाहते रहे हों, या शायद अवचेतन? स्तर पर वे इस विचार के विरोधी थे कि वे ऐसा कुछ कभी भी नहीं लिख पायेंगे जो उन कृतियों के मुकाबले की हो। या कि वह किसी ऐसे कलाकार की आम किस्म की ऊब हो जो अतीत की उपलब्धियों से असंतुष्ट हो अंततः जब मैंने यह अनुभव किया कि अपने नये नाटक के कारण पॉस्तरनाक 'डॉक्टर जिवागो' से असंपृक्त हो चुके थे तो मैं बाद वाली बात से लगभग सहमत हो गयी।

"मुझमें यह एहसास घर किये हुए है कि मैं अपने समकालीनों का बहुत ऋणी हूं। मैंने उसी ऋण को लौटाने की भावना से डॉक्टर जिवागो लिखा। जैसे-जैसे धीमी गति से वह उपन्यास आगे बढ़ता रहा, ऋणी होने का यह एहसास बहुत गहरा था! इतने वर्षों तक गीतात्मक कविताएं लिखने या अनुवाद करते रहने के बाद मुझे लगा कि अपने युग के बारे में एक वक्तव्य देना मेरा कर्त्तव्य था—उन वर्षों के बारे में जो दूर अतीत का हिस्सा थे और फिर भी हमारे इतने पास अस्पष्ट रूप से खड़े थे। समय का दबाव बना हुआ था। वे वर्ष या हमारे पिताओं और दादाओं वाले वर्ष कभी नहीं लौटेंगे, लेकिन महान संभावनाओं के साकार होने पर उनके मूल्य पुनर्जीवित होंगे। मैं जानता हूं, बीच के इस काल में मैंने उन मूल्यों को वर्णित करने का प्रयास किया है। मुझे नहीं मालूम कि मुझे अपने उपन्यास में पूरी सफलता मिली है या नहीं, लेकिन मैं महसूस करता हूं कि पहले की मेरी कविताओं की तुलना में मेरा उपन्यास अधिक मूल्यवान है। युवावस्था की तुलना में यह उपन्यास अधिक समृद्ध तथा अधिक मानवीय है। वे कविताएं जल्दी में बनाये गए रेखाचित्रों-सी थीं—अपने बुजुर्गों की रचनाओं से जरा उनकी तुलना करें। दोस्तोएव्स्की और तोलस्तॉय महज उपन्यासकार नहीं थे बल्कि सिर्फ कवि नहीं थे। उन लेखकों की आवाजें बिजली की कड़क जैसी सुनायी देती थीं क्योंकि उनके पास कहने को कुछ था। बीस के दशक के कलाकारों से उनकी तुलना करें, उदाहरण के तौर पर मेरे पिता को लें। उन्हें एक चित्र बनाने में कितना प्रयास लगाना पड़ता था! बीस के दशक में हमारी सफलता आंशिक रूप से संयोगवश थी। स्वाभाविक रूप से हमारी पीढ़ी ने खुद को इतिहास के केंद्रीय बिंदु पर पाया था। हमारी कृतियां पूरी तरह अपने समय द्वारा निर्धारित थीं। उनमें सार्वभौमिकता की कमी है। अब वे परिपक्व हो चुकी हैं। इसके साथ ही मैं मानता हूं कि हमारे समय के अनुभवों की विराटता गीतात्मक कविता के माध्यम से अब अभिव्यक्त नहीं हो सकती। जीवन बहुत बोझिल हो चुका है, बेहद जटिल। हमने ऐसे मूल्य ग्रहण कर लिए हैं जो सबसे अच्छी तरह गद्य में अभिव्यक्त होते हैं। मैंने उन्हें अपने उपन्यास के जरिए अभिव्यक्त करने की कोशिश की है, जब मैं अपना नाटक लिखता हूं, वे मेरे दिमाग में होते हैं।"

"आपके समकालीनों के लेखन में से" मैंने उनसे पूछा, "किसका लेखन ऐसा है जो सबसे ज्यादा टिका रह गया है?"

"आप जानती हैं कि मायकोव्स्की के विषय में क्या महसूस करता हूं। मैंने अपनी आत्मकथा 'सेफ कंडक्ट' में इसे काफी विस्तार से बताया है। मैं उनकी बाद की कृतियों में से ज्यादातर के प्रति असहमत हूं, लेकिन उनकी अंतिम अधूरी कविता 'ऐट दि टॉप ऑफ माइ वॉयस' इस संदर्भ में अपवाद है। रूप विधान का बिखराव, विचार की दरिद्रता और ऊबड़-खाबड़पन जो बीस के दशक के अंतिम वर्षों की कविता का लक्षण हैं, मेरे लिए अजनबी चीजें हैं। लेकिन वहां भी अपवाद हैं। मैं एसेनिन की सारी रचनाओं से प्यार करता हूं जिन्होंने रूसी मिट्टी की गंध को बेहद अच्छी तरह पकड़ा है। मैं स्वेतायेवा को सबसे ऊपर रखता हूं, आरंभ से ही वह एक सुघड़ कवियित्री थी। एक ऐसे जमाने में जब दिखावा और कृत्रिमता का समय था, उनका अपना अलग स्वर था—मानवीय, क्लासिकीय। वह एक ऐसी महिला थीं जिनकी आत्मा पुरुष वाली थीं। दिन-प्रतिदिन के जीवन में उनका जो संघर्ष था उसी ने उन्हें शक्ति दी। उन्होंने संपूर्ण स्पष्टता के लिए श्रम किया और उसे पाया। वह अख्मातोवा से बड़ी कवियित्री हैं जिनकी सादगी और गीतात्मकता को मैंने सदा सराहा है। स्वेतायेवा की मृत्यु मेरे जीवन की महान उदासियों में थी।"

"आंद्रेइ बेली के बारे में क्या महसूस करते हैं जो उन वर्षों में इतनी ज्यादा प्रभावशाली थीं?"

"बेली बहुत ज्यादा संन्यासियों जैसे थे, बहुत सीमित। उनकी व्याप्ति की तुलना चैंबर संगीत से की जा सकती है—उससे कतई ज्यादा नहीं। अगर उन्होंने वाकई पीड़ा झेली होती तो कोई बड़ी रचना की होती जिसकी क्षमता उनमें थी। लेकिन वे कभी भी वास्तविक जीवन के संपर्क में नहीं आये···शायद नये रूप-शिल्प की ललक बेली जैसे उन लेखकों की नियति होती है जो कम उम्र में मर जाते हैं। मैं एक नयी भाषा, अभिव्यक्ति के पूर्णतः मौलिक रूपाकार के उन स्वप्नों को कभी समझ नहीं पाया हूं। इस स्वप्न के चलते बीस के दशक की अधिकांश रचनाएं मात्र शैलीगत प्रयोग होकर रह गयीं, और इसीलिए उनका नामोनिशान बाकी नहीं है। सर्वाधिक असाधारण अविष्कार तब होते हैं जब कलाकार अपने कथ्य को लेकर पूरी तरह बेचैन होता है। अपनी तात्कालिकता में तब वह पुरानी भाषा का उपयोग करता है और वह पुरानी भाषा अंदर से रूपांतरित हो जाती है। उन वर्षों में भी, बेली को लेकर थोड़ा अफसोस होता था क्योंकि जो तात्कालिक था उससे वे बिलकुल कटे हुए थे, और वह अकेली चीज थी जो उनकी

विलक्षण प्रतिभा के पुष्पित-पल्लवित होने में सहायक हो सकती थी।"

"और आज के युवा कवियों के बारे में आप क्या कहेंगे?" मैंने पूछा। "जितनी दूर तक कविता रूसियों के दिन-प्रतिदिन के जीवन का हिस्सा जान पड़ती है उससे मैं प्रभावित हूं। किसी पश्चिमी व्यक्ति के लिए, कवियों की कृतियों का विशाल संख्या में छपना आश्चर्यजनक है। रूस में कविता बहुत जीवंत मालूम होती है।"

"शायद उस सीमा तक नहीं जितनी आप सोचती हैं। वह काफी कुछ बौद्धिकों के एक समूह तक सिमटी हुई है। और आज की कविता अक्सर खासी मामूली होती हैं। वह दीवार की सज्जा के लिए लगाये जाने वाले कागज के पैटर्न सरीखी है, काफी खुशनुमा मगर निष्प्रयोजन। हां, कुछ युवाओं में प्रतिभा दिखती है। उदाहरण के लिए येवतुशेंको। लेकिन जैसा कि मैं पहले कह रहा था, मेरी मान्यता है कि आज का माध्यम गद्य है। विस्तार भरा समृद्ध गद्य जैसे फॉकनर का गद्य। आज की रचना के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के संपूर्ण खंडों की पुनर्रचना करे। मैं अपने नये नाटक में यही करने की चेष्टा कर रहा हूं। लेकिन दिन-प्रतिदिन का जीवन मेरे लिए बहुत जटिल हो चुका है। शायद कहीं भी किसी विख्यात लेखक के लिए वह ऐसा ही होता होगा, लेकिन मैं इस भूमिका के लिए प्रस्तुत नहीं हूं। मैं ऐसा जीवन पसंद नहीं करता जो गोपनीयता और शांति से वंचित हो। मुझे लगता है कि मेरी युवावस्था के दिनों में काम जीवन का एक अभिन्न अंग था और वह जीवन की सभी चीजों को प्रकाश से भर देता था। अब यह ऐसी चीज है जिसके लिए मुझे संघर्ष करना पड़ता है। विद्वानों, संपादकों, पाठकों की तमाम किस्म की मांगों की उपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन अनुवादों को मिलाकर, वे मेरा सारा समय निगल जाते हैं। आप विदेशों में उन लोगों का जिनकी मुझमें दिलचस्पी है, यह जरूर बताइए कि यह मेरी एकमात्र गंभीर समस्या है—समय की यह भयानक कमी।

पॉस्तरनाक से मेरी अंतिम मुलाकात बाकी मुलाकातों से ज्यादा लंबी थी। उन्होंने मुझे जल्दी आने को कहा था ताकि परिवार के साथ दोपहर के भोजन से पहले हम एक बातचीत कर पायें। उस दिन भी धूप थी। मैं उनके घर, उनके प्रातःकालीन भ्रमण से वापस आने के कुछ देर पहले पहुंच गयी। जब मुझे उनके अध्ययन कक्ष में ले जाया गया तो घर प्रफुल्ल आवाजों से गूंज रहा था। कहीं, घर के पिछवाड़े उनके परिवार के सदस्य एकत्र हुए थे।

पॉस्तरनाक का अध्ययन कक्ष दूसरी मंजिल का एक बड़ा और खाली-सा कमरा था। बाकी घर की तरह ही उसमें काफी कम फर्नीचर था। खिड़की के पास एक बड़ी मेज दो कुर्सियां और एक सोफा। खिड़की से, जहां से बाहर का विशाल बर्फ ढ़का मैदान दिखता था, चमकीली रोशनी अंदर आ रही थी। हल्की जर्द लकड़ी की दीवारों पर ढेर सारे कलात्मक पोस्टकार्ड पिनों से टंके हुए थे। जब पॉस्तरनाक अंदर आये तो उन्होंने मुझे बताया कि वे सारे पोस्टकार्ड उनके पाठकों द्वारा अधिकतर विदेशों से भेजे गये थे। उनमें बहुत से कार्डों पर धार्मिक दृश्यों की अनुकृतियां थीं—ड्रेगन को मारते हुए सेंट जार्ज, मेरी मैग्दालिन···वे 'डॉक्टर जिवागो' में वर्णित विषयों से जुड़े थे।

टहलने के बाद, पॉस्तरनाक खास ढंग से बड़े स्वस्थ दिख रहे थे। उन्होंने कॉलेज के लड़कों की तरह गहरा नीला ब्लेजर पहन रखा था और अच्छी मनःस्थिति में थे। वे खिड़की के पास वाली मेज के किनारे बैठ गये। मुझे स्पष्ट रूप से याद है, मैं बहुत खुश महसूस कर रही थी। पॉस्तरनाक बड़े प्रफुल्ल दिख रहे थे और खिड़की से होकर आती धूप लगभग वसंत का-सा एहसास दे रही थी। जब हम वहां बैठे थे तो मैं कामना कर रही थी कि किसी भी तरह हमारी बातचीत लंबी खिंच जाये। लेकिन पॉस्तरनाक के साथ मेज पर आमने-सामने बैठे जो तीन या चार घंटे मैंने गुजारे वे मानो एक पल बनकर गायब हो गये। जब हम वहां से नीचे भोजनकक्ष में आये तो परिवार के लोग बड़ी मेज के इर्दगिर्द बैठ चुके थे। "क्या ये किसी इंप्रेशनिस्ट चित्र की तरह नहीं दिख रहे?" पॉस्तरनाक ने कहा, "पृष्ठभूमि में जिरेनियम के फूलों और इस ढलती दोपहर की धूप के साथ गिलोमां का एक चित्र है, बिलकुल ऐसा ही···"

जब पॉस्तरनाक वहां पहुंचे तो हर कोई उठकर खड़ा हो गया। पॉस्तरनाक की पत्नी—जिनैदा निकोलाएव्ना के अलावा पॉस्तरनाक के भाई अलेक्सांद्र भी अपनी पत्नी के साथ वहां थे जो सफेद बालों वाली बड़ी गरिमापूर्ण महिला थीं। पॉस्तरनाक ने अपने सबसे छोटे बेटे लेन्या का परिचय मुझसे कराया। लेन्या गहरे रंग की त्वचा वाला अठारह-बीस साल का लड़का था जो अपनी मां जिनैदा निकोलाएव्ना से काफी मिलता था। वह मास्को विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान का छात्र था। प्रोफेसर ऐनरिक निहौस भी मेहमान थे। शोपां के संगीत के मामले में वे जाने-माने अधिकारी विद्वान हैं और मॉस्को कंसर्वेटरी में पढ़ाते हैं; श्रीमती पॉस्तरनाक अतीत में उनकी ब्याहता थीं। स्विआतोस्लाव रिरव्टर उनके मशहूर शिष्यों में हैं। वे काफी बुजुर्ग और आकर्षक थे। उनकी पुरानी शैली की सफेद मूंछें थीं।

मैं पॉस्तरनाक के दाहिनी तरफ बैठायी गयी थी। उनके बायें मदाम पॉस्तरनाक बैठी थीं। टेबल पर सफेद टेबलक्लाथ बिछा था जिस पर क्रॉस स्टिच की लाल कढ़ाई थी। चांदी और चीनी मिट्टी के बर्तन सादा किस्म के थे। टेबल के बीचोंबीच एक गुलदान था जिसमें लाजवंती के फूल लगे थे, और उसके साथ ही फलों-संतरों और नारंगियों-से भरे पात्र थे। भोजन की शुरूआत की चीजें टेबल पर लगा दी गयी थीं; काविआर, मसालेदार हेरिंग मछली, कई तरह के अचार, मिली-जुली सब्जियों का मासिद्वान। मेहमान उन्हें एक-दूसरे को बढ़ा रहे थे और पॉस्तरनाक ने वोदका डाली। फिर सबको क्वास दी गयी जो आमतौर पर देहात में पी जाने वाली घर की बनी खमीर वाली बियर होती है। चूंकि क्वास में खमीर उठा करती है, इसलिए कभी-कभी क्वास की काग रात में गोली-सी दगती है और सबको नींद से जगा डालती है—बिलकुल पिस्तौल की गोली की तरह मदाम पॉस्तरनाक ने कहा। शुरूआती दौर के बाद छोटे कद के रसोइए ने शिकार से आये गोश्त का रसदार व्यंजन परोसा।

सबसे पहले बातचीत हेमिंग्वे के इर्दगिर्द घूमती रही। वे मॉस्को में सर्वाधिक पढ़े जाने वाले लेखकों में थे और उनकी रचनाओं का एक नया

संग्रह बस, छपा ही था। मदाम पॉस्तरनाक तथा टेबल पर बैठी अन्य महिलाओं की टिप्पणी थी कि उन्हें हेमिंग्वे का लेखन एकरसता से भरा लगता है — अंतहीन ढंग से पीते चले जाने के वे किस्से, और नायक के जीवन में मानो बाकी कुछ होता ही न हो। पॉस्तरनाक जो अधिकांश चर्चा के दौरान खामोश हो गये थे, हेमिंग्वे का पक्ष लेते हुए बोले :

"किसी लेखक की महानता का विषय वस्तु से लेना-देना नहीं होता। उसका नाता सिर्फ इस बात से होता है कि विषयवस्तु ने लेखक को कितना छुआ है। इसका परिणाम होती है शैली की गझिनता और यही गझिनता महत्त्वपूर्ण होती है। हेमिंग्वे की शैली के जरिए आप महसूस करते हैं पदार्थ को—लोहे को—काठ को—" वे अपने हाथों के सहारे शब्दों पर बल दे रहे थे—उनसे टेबल की लकड़ी पर दबाव डालते हुए। "मैं हेमिंग्वे की प्रशंसा करता हूं, लेकिन जितना मैं फॉकनर को जानता हूं उसके आधार पर मैं उन्हें ज्यादा पसंद करता हूं। 'लाइट इन ऑगस्ट' अद्भुत पुस्तक है। छोटी-सी गर्भवती महिला का चरित्र अविस्मरणीय है। जब वह पैदल अलाबामा से टेनेसी जा रही होती है, संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी भाग की विशालता, उसके मूल तत्त्व की कोई चीज हम जैसों के लिए वहां सुरक्षित है जो उधर कभी नहीं गये।"

बाद में बातचीत संगीत की ओर मुड़ गयी, और प्रोफेसर निहॉस तथा पॉस्तरनाक शोपां के बारे में बात करने लगे। पॉस्तरनाक ने बताया कि वे शोपां को कितना प्यार करते हैं, "मैं जो कह रहा था उसका एक अच्छा उदाहरण है, शोपां जिसने संपूर्णतया नये अर्थ संप्रेषित करने के लिए पुरानी मोत्सार्ट बोली भाषा का इस्तेमाल किया। रूपशिल्प उसके अंदर से पैदा हुआ। फिर भी मुझे लगता है कि पश्चिम में शोपां को थोड़ा पुरातन-पंथी माना जाता है। मैंने स्टीफेन स्पेंडर को शोपां के बारे में लिखकर दिया था जो प्रकाशित नहीं हुआ।" मैंने उन्हें बताया कि आंद्रेजीद को शोपां की रचनाएं बजाने का कितना शौक था। पॉस्तरनाक को यह मालूम नहीं था और उन्हें यह सुनकर बड़ी खुशी हुई। न जाने कैसे, इस बात से उन्हें प्रूस्त की याद आयी। जिनकी रचनाएं वे पहली बार पढ़ रहे थे।

अब जबकि मैं 'रिमेंबरेंस ऑफ थिंग्स पास्ट' के अंत की ओर बढ़ रहा हूं, मैं इस बात पर चकित हूं कि १९७० में हमें जिन विचारों ने अपनी गिरफ्त में लिया उनकी ध्वनियां इसमें कैसी हैं। मैंने उन्हें 'प्रतीकवाद और अमरता' के विषय में दिये गये आपने एक भाषण में शामिल किया था। वह भाषण मैंने लिओ तोल्सतॉय की मृत्यु से एक दिन पहले दिया था। यही वह वक्त रहा होगा जब प्रूस्त पहले पहल अपनी इस पुस्तक के बारे में सोच रहे होंगे। मेरे भाषण का पाठ बहुत दिन पहले खो चुका है लेकिन बहुत सारी अन्य चीजों के बीच, उसमें कहा गया था कि हालांकि कलाकार मर जाता है लेकिन उसने जीवन की खुशी का जो अनुभव किया है वह अमर है। अगर उस अनुभव को व्यक्तिगत और फिर भी सार्वभौम धरातल पर रचना में ग्रहण किया गया है तो उसकी रचना के जरिए अन्य लोग वस्तुतः उस अनुभव को फिर से जियेंगे।

"मैंने हमेशा, फ्रांसीसी साहित्य को पसंद किया है।" उन्होंने कहा। "युद्ध के दिनों से मैं यह महसूस करता हूं कि फ्रांसीसी लेखक ने एक नया स्वर पा लिया है, जिसमें वाग्कौशल कम है। काम्यू की मौत हम सबके लिए एक महान क्षति है। इससे पहले मैंने काम्यू के दुखद निधन के विषय में पॉस्तरनाक को बताया था, जो मेरे मॉस्को पहुंचने से ठीक पहले हुई थी। रूसी अखबारों में वह खबर नहीं छपी थी। काम्यू की रचनाएं रूस में प्रकाशित नहीं हुई हैं। "विषयों की भिन्नता के बावजूद, अब फ्रांसीसी साहित्य हमारे बहुत करीब हैं। सिर्फ वहां जहां फ्रांसीसी लेखक राजनीतिक उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध हो जाते हैं। वे विशेष रूप से अनाकर्षक लगते हैं। या तो वे गुटवादी और अवसरवादी हैं या अपने फ्रांसीसी तर्क बोध की वजह से वो यह महसूस करते हैं कि उन्हें अपनी मान्यताओं को निष्कर्षों तक पहुंचाना है। उनमें लालसा होती है कि उन्हें आवश्यक तौर पर राब्सपियेर या सां-जुस्त की तरह संपूर्णतावादी होना चाहिए। ज्यादातर उन लेखकों को मैं नापसंद करती हूं जो कम्युनिस्ट होने की बात से अपना कैरीयर बनाते हैं।"

भोजन के अंत में चाय और कोइनाक लाई गई। अचानक पॉस्तरनाक क्लांत दिखने लगे और चुप हो गये। रूस की तमाम यात्राओं की तरह, मुझसे पश्चिम के बारे में अनगिनत सवाल पूछे गये। पश्चिम के सांस्कृतिक जीवन और हमारे दिनोंदिन अस्तित्व के बारे में। हम जब इत्मीनान से चाय पी रहे थे। बत्तियां जला दी गयीं। मैंने अपनी घड़ी देखी और मुझे एहसास हुआ कि कभी के छः बज चुके थे। मुझे जाना था। मैंने भी अचानक थकान महसूस की और अभी मुझे अपना सामान भी संभालना था। अगले दिन तड़के मुझे मॉस्को से रवाना होना था।

पॉस्तरनाक, रसोईघर होते हुए, मुझे दरवाजे तक छोड़ने गये। उस नीली बर्फानी शाम में बाहर के छोटे पोर्च में हमने एक-दूसरे को अलविदा कहा। मैं इस खयाल से काफी उदास थी कि अब मैं पेरेदेलकिनो कभी नहीं लौट पाऊंगी। पॉस्तरनाक ने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और कुछ पल तक उसे थामे रखा। उन्होंने मुझसे आग्रह किया कि मुझे बहुत जल्द वापस आना चाहिए। उन्होंने एक बार फिर मुझे कहा कि विदेशों में मैं उनके मित्रों को बताऊं कि वे अच्छी तरह हैं, कि इसके बावजूद कि इन्हें उनके पत्रों के उत्तर देने का समय नहीं मिलता, वे उन्हें याद करते हैं। मैं पोर्च से टहलती हुई नीचे के अंधेरे रास्ते तक पहुंच चुकी थी कि उन्होंने मुझे वापस बुलाया। मैं खुश थी कि मुझे वापस लौटने का बहाना मिला और दरवाजे से आती रोशनी में नीला ब्लेजर पहने नंगे सर खड़े पॉस्तरनाक की आखिरी झलक मैं पा सकी।

"कृपया" उन्होंने जोर से कहा, "उस बात को व्यक्तिगत तौर पर मत लेना जो मैंने पत्रों का जबाव न देने के बारे में कही है। मुझे जरूर लिखना, किसी भी भाषा में जो तुम्हें पसंद हो। मैं तुम्हें जवाब दूंगा।"

अंग्रेजी से अनुवाद : **पंकज सिंह**

पॉस्तरनाक के कविता-संग्रह 'माई सिस्टर लाइफ' से साभार।

प्रार्थना का निविड एकांत

□ प्रभात त्रिपाठी

हिंदी पाठकों के लिए सीताकांत महापात्र, अब एक अपरिचित नाम नहीं है, लेकिन हिंदी कविता के समकालीन संदर्भ को ध्यान में रखें, तो ऐसा कोई भी कवि नजर में नहीं आता, जिसकी याद करते हुए हम कह सकें कि सीताकांत इस या उस तरह के कवि हैं। इसका एक कारण तो बहुत साफ है कि अनुवाद के हिंदीपन के बावजूद वे ओड़िया कवि हैं। ओड़िया भाषा के सांस्कृतिक परिवेश के साथ उनके संपर्क का चरित्र गझिन और जटिल है। इसके अलावा वे उन विरले भारतीय कवियों में से हैं जिन्हें जल्दी से किसी वर्ग या श्रेणी के अंतर्गत फिट कर सकना संभव नहीं है। भाषा की अंतरात्मिक पहचान को, समकालीन इतिहास, पुरातन पुराण या समग्र लोक व्यवहार से जोड़ने के मामले में, वे बिलकुल अकेले और अद्वितीय हैं। अपने सारे ज्ञान और सारी पढ़ाई-लिखाई के बावजूद, वे साधारण आदमी के निविड एकांत में गूंजते सुरों को वाणी देने वाले कवि हैं। उनके यहां, यह साधारण आदमी, अनुभव से दूर खड़ा किसी सैद्धांतिक अमूर्त्तन या वैचारिक सरलीकरण का प्रतीक नहीं है। बेशक, अनुभूति की प्रामाणिकता के बावजूद, उनकी कविता महज आत्मकथात्मक संदर्भों में सीमित नहीं है। उसमें वांछनीय आत्म विस्तार है और कई बार ऐसा भी लगता है कि मानो वे बहुत श्रमपूर्वक और अंदरूनी निष्ठा के साथ अपने निजी अनुभवों को बृहत्तर मानवीय अनुभव के एक ऐसे आयाम से जोड़ते हैं जिसके फलस्वरूप उनकी कविता, मानव-अस्तित्व के जरूरी प्रश्नों से जूझती कविता की तरह, मूल्यवान और स्मरणीय लगती है।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'समय का शेष नाम' संकलन में उनकी कविताएं पढ़कर, पाठक का यह अहसास और भी घना होता है कि उनके शब्द, संप्रेषण संभव करने वाले ऐसे शब्द हैं, जो हमें यह भी याद दिलाते हैं कि कविता के 'मूल्यांकन के मामले में' आधुनिकता, प्रगतिशीलता परंपरावाद या मिथक-चेतना जैसी मूलत: पश्चिमी श्रेणियां, उनकी कविता में निहित मूल्य चेतना और भाव सौंदर्य को धुंधला ही करती हैं। सीताकांत के बारे में छपी ओड़िया समीक्षाओं से तो यह भी लगता रहा है कि उनकी कविता में आर्कीटाइप, मिथ या फोकलोर का प्रभाव देखते-देखते, अधिकांश समीक्षक उनकी कविता की धमनियों में रक्त की तरह बहती उनकी सम्वेदना को नजरंदाज करते रहे हैं। वास्तव में सीताकांत की समूची कविता के मूल में अपनी भाषा और अपने लोग हैं। उनकी कविता, आत्मालाप के मुहावरे में सिमटी मुग्ध कविता नहीं है। वे उन कवियों में से हैं, जिनके यहां करुणा बुनियादी मूल्य की तरह ही नहीं, बल्कि एक 'फैशन' की तरह मौजूद है। उनका भावलोक शब्दमयता के बावजूद नीरव है, और नीरवता के बावजूद, उस आत्मीय संगीत से परिपूर्ण, जो कविता को एक सांस्कृतिक कर्म की गरिमा देता है, लेकिन यही संगीत उसे एक ऐसे रूप में भी रचता है, जिसके चलते हम मानव-संबंधों में निहित ऊष्मा को, उसके पारिवारिक सामाजिक और जातीय संदर्भों में जानते हैं, और तत्काल इन संदर्भों से ऊपर उठकर एक ऐसी साथिन के रूप में भी उसे अपने साथ पाते हैं, जिस पर भरोसा किया जा सके।

सीताकांत शक्की कवि नहीं हैं। यह नहीं कि उनमें आधुनिक मनुष्य के बौद्धिक संदेह का अभाव है, बल्कि यह कि भाषा के इस्तेमाल में उनके यहां चतुराई नहीं है। एक तरह की 'नाइव' मुखरता है, जो शायद उस साहस की सगी भी है, जिसके चलते कभी रघुवीर सहाय ने कहा था,

"कुछ होगा, कुछ होगा, अगर मैं बोलूंगा," ओड़िया में सीताकांत एक ऐसे कवि हैं, जो पुनरुक्ति का खतरा उठाकर मन के कोनों अंतरों में दबी सारी बातें बेझिझक कहते हैं, इस संग्रह की कई कविताओं में, जो नॉस्टेल्जिक बयान है, उससे यही प्रमाणित होता है, कि अपनी भावुकता तक को कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं। उदाहरण के लिए, उनकी 'दादी मां' नामक कविता की ये पंक्तियां लें :

बैठी होती हो तुम
उसी बाहर वाली कोठरी में
हवा में मालपुए की महक
भित्ति पर दुर्गोत्सव के चित्र
चिड़ियां लताएं और हाथी
चकमक करते हैं
कहीं शाम की आरती होती है
और तुम दिखती हो
हूबहू देवी प्रतिमा
हमारे मंदिर में
... ...
... ...
तुम्हारे संदूक से जुगनू उड़ आते हैं
भात की थाली के ऊपर
आम की डालों के अंधेरे में वे
क्या ढूंढ़ते हैं ?

जिस निजी स्मृति से यह कविता लिखी गयी है, वह तो उजागर है ही, साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सीताकांत थोड़ी गैर-आधुनिक भाव-प्रवणता के साथ स्मृति के गलियारों में घूम रहे हैं; लेकिन फिर भी इस कविता का भाव गांभीर्य अगर पतला नहीं होता, कम-से-कम, पाठकीय अवबोध के स्तर पर, तो यह इसलिए कि यह 'दादी मां', उसकी अपनी स्मृति का सहज स्वाभाविक हिस्सा है। सीताकांत की खूबी यह है कि वे इस 'सहज-स्वाभाविक' को, काव्य-संभवता के उस स्तर पर ले जाते हैं कि वह महज स्मृति का नहीं, बल्कि संस्कृति का भी प्रतीक बन जाता है। फिर भी यह कहना बहुत मुश्किल होगा कि सीताकांत दुर्गोत्सव के चित्र, देवी प्रतिमा इत्यादि से यह सांस्कृतिक अनुगूंज पैदा कर रहे हैं, या भात की थाली पर उड़ते जुगनुओं से, या दादी के पुराने बक्से के जिकर से। सचाई तो यह है कि सीताकांत, पौराणिक पात्रों या दृश्यों के साथ, समकालीन और निजी जीवन-प्रसंगों को गूंथते हुए, उस वरीयता क्रम के दबाव से भरसक बचते हैं, जिसके चलते पुराने रिवाजों को संस्कृति और नयों को आधुनिकता माना जाता रहा है।

'समय का शेष नाम' सीताकांत के कवि के जिस विशिष्ट रूप का परिचय देता है, वह वास्तव में स्मृति प्रकृति, संस्कृति और कल्पना के अद्भुत समन्वय से बना रूप है। स्मृति कतई इकहरी नहीं है, लेकिन इतना तो तय है कि यहां, पारिवारिक स्मृति और गांव के संस्मरणों का ही आधिक्य है दादा, दादी, पत्नी, बेटा,—सबके विषय में विस्तार से लिखा गया है, लेकिन यह भी गौरतलब है शब्द सामर्थ्य में निहित स्वच्छद कल्पना के बावजूद यह एक तरह के गहरे अकेलेपन का प्रतीक भी है। अपने लोगों से कट गए एक शहरी और खामखा की फिजूलियत में गर्क एक आधुनिक शहरी आदमी का अकेलापन है यह। कविता का स्वतःस्फूर्त्त आत्मविस्तार इससे मुक्ति का एकमात्र रास्ता है। संभवतः इसीलिए ही सीताकांत आत्मीय रिश्तेदारी की इस दुनिया को एक ऐसी ज़बान में रचते हैं कि वह उनके निजी संपर्कों की दुनिया से एक ज्यादा बड़ी चीज बन जाती है। उनके स्थापत्य में, और संभवतः ओड़िया कविता की परंपरा में ही, एक तरह का कॉस्मिक विजन निहित है, जिसके सहारे वे इस तरह की कठिन भाषा को साधते हैं।

अस्पताल की नामहीन किसी कोठरी में
नीली रोशनी में
कोई अपरिचिता कर रही थी सामना
अव्यक्त निर्मल यंत्रणा का
... ...
... ...
स्तब्ध विपुल अवकाश का काला बीज
मेरे अंदर अंकुरित हो चुका था।
और हहाकर बढ़ता चला जा रहा था
गीले पेड़
वर्षा में आलोकित दूरी से हाथ हिलाकर
गा रहे थे, मेरी ही अनजान प्रार्थना
... ...
... ...
फूल खिला था,
स्वप्नमुग्ध उसके हाड़मांस का
एक गुमनाम फूल

मूल ओड़िया के 'नामहीन फूल' शब्द के अनुवाद, अनुवादक ने गुमनाम किया है, जिससे कुछ और नहीं तो यह तो जरूर महसूस होता है कि अनुवादक ने अनजाने ही, कवि की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता की ओर संकेत कर दिया है कि यह एक ऐसा कवि है, जो गुमनामी के अंधेरे में गर्क, औसत के आंकड़े के प्रतीक बन गये, लोगों की व्यथा कथा लिख रहा है—और शायद इसी लिखने को वह अपने अत्यंत निजी 'धर्म' की तरह लेता है। इसी कविता में, जन्म देती जननी की यंत्रणा को वह जिन शब्दों में मूर्त्त करता है, उससे यह अनुभव होता है, कि प्रसव की 'घटना' को वह महज निजी पारिवारिक या सामाजिक घटना की तरह ही नहीं देख रहा है, बल्कि सृजन की वेदना की तरह महसूस कर रहा है और लिख रहा है। बेशक यह सही है कि साधारण की अंतरंग असाधारणता को रेखांकित करने की कोशिश में, कई बार वह स्फीति का शिकार हो जाता है, और तब लगता है कि कथन की अलंकारिता, अनुभव की मार्मिक तात्कालिकता को ओझल नहीं तो ओट जरूर किये दे रही है। इसलिए ऐसा भी लगता है कि अनुभूति की निगूढ़तम निजता और आत्मीयता के परिसर में आने

वाले लोगों के प्रति, सीताकांत का लगाव ऑब्सेशन के स्तर का है। कम-से-कम इस संग्रह में, आत्मकथात्मक प्रसंगों को विस्तार देने की कोशिश में, उन्होंने कई ऐसी पंक्तियां लिखी हैं जो हल्की और आदर्शवादी भावोच्छ्वास की तरह लगती हैं 'मुनू के लिए' यद्यपि बड़ी ईमानदारी से लिखी गयी कविता है, पर बेटे के साथ पिता के सम्वाद का जो रूप यह कविता उपस्थित करती है, उससे लगता है, जैसे कुशल कवि की वाणी में वे उसे उपदेश भर दे रहे हैं।

अंधेरे से, शून्यता से
अंतहीन लड़ाई में
जानता हूं, तू हमेशा
मेरा सबसे विश्वस्त सैनिक है
और लड़ते-लड़ते यदि
तेरा सेनापति नीचे गिर जाए
तो हार मत मान लेना
समझौता मत करना
आखें मत छलछला लेना
झंडा जोर से पकड़ कर
थामे रखना, जूझते रहना
याद रखना, जूझना ही हमारी तकदीर है

इन पंक्तियों में उपदेशात्मकता उजागर है। आसानी से समझ में आ जाने वाली ये पंक्तियां, समझ के ही इलाके में सीमित रह जाती हैं। सीताकांत ही नहीं, विश्व के सारे महत्त्वपूर्ण कवि, अपनी कविताओं से यह प्रमाणित करते रहे हैं, कवि, भाषा की एकायामी अर्थकेंद्रिकता को गुंफित जटिलता प्रदान करता है, और इस तरह उसके क्षरण को बचाता है। उसकी भाषा पाठक को समझाती नहीं, बल्कि सम्वेदना, कल्पनाशीलता और उसके समग्र व्यक्तित्व को उद्बुद्ध करती है। ऐसा करने के लिए वह प्राणवंत कल्पनाशीलता का सतर्क इस्तेमाल करती है। लगता है कि इस कविता में, कथन-विस्तार के भाव के चलते, सीताकांत की कल्पनाशीलता थोड़ी कमजोर हो गई है, जबकि निजी आत्मीय संपर्क की दूसरी कविताओं में यह कमजोरी नहीं है—

अंधेरे में तुम्हारा स्वर
सुन पड़ता है अभी भी
पहले सा, हमेशा सा
कभी दादी मां के स्वर सा
होता है वह
गांव के गहरे कुएं के पानी सा
गंभीर शीतल
नटखट नहीं, इसलिए नियंत्रित
और कभी नन्हीं बच्ची के स्वर सा
पहाड़ी झरने-सा छलछल चंचल

यह प्रियतमा को संबोधित, 'समय का शेष नाम' शीर्षक कविता का अंश है, जिसमें कवि ने अपनी स्मृतियों को अंतिम दृश्य के बरक्स रखकर, वक्त के आखिरी सिरे को नाम देने की कोशिश की है। अपने निर्जन एकाकीपन में, घात लगाये बैठी मृत्यु से अनातंकित, वह जिस जुबान में अपनी प्रिया को संबोधित कर रहा है, वह न ढारस की जुबान है, न उपदेश की अंतिम नियति के सहज स्वीकार की खालिस भारतीय आस्तिकता से रची-पकी उसकी भाषा, पश्चिमी श्रेणियों (Western Cateiones) के लिए एक चुनौती है तो इस अर्थ में कि मृत्यु चेतना के बावजूद यह बुनियादी तौर पर जीवनधर्मिता की कविता है। यह जीवन धर्मिता महज तथ्य आलेखन की स्मृति में ही विन्यस्त नहीं है, बल्कि कल्पना की एक ऐसी भाषा में मूर्त्त हुई है कि जो भाषा हमारे देसी संस्कार-विचार को हमेशा से एक बिलकुल अलग पहचान देती रही है।

इस संकलन की कई कविताओं में मृत्यु से मुठभेड़ है। मृत्यु से वे जिस आत्मीय भाव से मिलते रहे हैं, उसके उदाहरण उनके दूसरे संकलनों में भी हैं, पर यहां परिजनों की स्मृति और मृत्यु को एक साथ गूंथकर, उन्होंने जिस नयी कविता की रचना की है, वह खालिस भारतीय आस्तिकता जैसे अपेक्षाकृत धुंधले पन से ही ठीक समझ में आती है, ऐसा मेरा खयाल है। मृत्यु के प्रति रोमेंटिक नजरिया नहीं, दहशत भी नहीं, उदासीनता भी नहीं, बल्कि एक सहज स्वीकार, सीताकांत को पढ़ते हुए यह हमेशा लगा है कि यह भारतीयता, उनके लिए कोई प्रमाणपत्र जैसी चीज नहीं है। उनका होना, और कवि होना, निपट साधारण अर्थ में भारतीय है। यह सचमुच सुखद है कि अपनी शहरी जीवन पद्धति और अपने शासकीय कार्य-कलापों के बावजूद, जिस काव्य संस्कार से वे अपने को जोड़ते हैं, बल्कि कहें कि जिससे वे अनायास ही जुड़े हैं, वह या तो 'मन' बोध चउतिशा की तरह का संस्कार है, या सारलादास का। इससे भी ज्यादा गौरतलब यह कि ऐसा करते हुए वे आधुनिक जीवन की असह्य आपाधापी की ओर से आंखें नहीं मूंद लेते। उनकी कविता प्रथमतः और अंततः पाप के तीक्ष्ण एहसास और प्रार्थना के निविड एकांत की कविता ही है।

'समय का शेष नाम' : डॉ॰ सीताकांत महापात्र,

प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इनस्टीट्यूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-११०००३

मूल्य : ७० रुपये

शिक्षा की गंदगी में फंसा कवि : रामदरश मिश्र

□ विष्णु चंद्र शर्मा

कॉफी हाऊस में हर टेबल उधेड़-बुन में डूबा है। किसी लेखक की कहानी पर टी० वी० में फिल्म आ रही है। किसी ने पुरस्कार की उखाड़-पछाड़ में अपना बचाव करते हुए अपनी पत्नी को ऊंचा उठाया है। एक टेबल में 'राम' की 'शूद्र' से लड़ाई चल रही है। एक टेबल पर लॉटरी का 'घोड़ा' जीत रहा है और पूरा टेबल हुड़दंग मचा रहा है।

आकाश सर्द हवा के बावजूद खुला है। उसके पके बाल हैं। कुर्ता-धोती पहने एक कवि है। अपने बनारस, बड़ौदा और अहमदाबाद के प्रवास पर वह सोच रहा है। कहां, कब प्राध्यापकों और साहित्यकारों से वह जुड़ा। कैसे अपनी स्थानीय गोरखपुर और बनारस की भोजपुरी उसे प्रेरक लगी। क्यों गुजरात में साहित्य-रसिक प्राध्यापक कम होते जा रहे हैं। उस दिन गुजराती के नये कवि रघुवीर चौधरी ने हिंदी में अपनी कविता पढ़ी थी। ज्यादातर अध्यापक बैठे थे, समस्त ब्रह्म क्षत्रिय सोसायटी की बैठक में। वह सोसायटी 'कविता के वस्तुगत सत्य' से उदासीन थी। मैंने हस्तक्षेप किया, "गुजराती होने से उच्चारण का यह स्वरूप होना स्वाभाविक है, जैसे हमारे उच्चारण में हमारी स्थानीयता दखल देती है। वास्तव में देखने की बात तो यह है कि रघुवीर की जो कविता है वह कविता की दृष्टि से कितनी सशक्त या कमजोर है। मुझे तो इनकी कविता में बहुत जान दिखाई पड़ रही है।" लोग उस दिन मेरी टिप्पणी पर चुप तो हो गए किंतु उनका मन चुप नहीं हुआ।

कवि ने फिर चारों ओर देखा। कॉफी के टेबल पर साहित्य-रसिक प्राध्यापक लड़ने लगे थे। दिल्ली और गुजरात में प्राध्यापक ही रह गए हैं साहित्य में रस लेने वाले। क्या वास्तव में वे रस ले रहे हैं?

उस दिन भक्ति-भवन में अंधेरा था। शोध-कार्य की मेरी परेशानी थी। बेटा हेमंत भी बीमार था। और बेकारी के बीच मेरे कवि की अजीब-सी परेशानी थी। भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध में दुर्गाकुंड का कंकड़ अपना बखान करता हुआ अपने को बहुत कुछ कहता है, उसी क्रम में कहता है कि "मैं कामदेव की पताका हूं।"

कंकड़ कामदेव की पताका कैसे हो सकता है? इस चिंता से हम सभी अध्यापक अलग-अलग परेशान थे।··· हम सबने तय किया कि पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से पूछना चाहिए। हम लोग उनके पास गए। वे मुस्कराए, "कहो, कैसे सब लोग एक साथ?"

"पंडितजी, हम लोग एक मुसीबत के मारे आपकी शरण में आए हैं?"

"कैसी मुसीबत आई है?"

"काम में अर्थ की मुसीबत।"

पंडित जी इस शाब्दिक उलटबांसी से खिल उठे। बोले, "वैसे तो न मैं काम की मुसीबत हल कर सकता हूं, न अर्थ की, फिर भी कहो।"

"नहीं पंडित जी, आप ही हल कर सकते हैं। आप रीति काव्य के भी आचार्य हैं और अर्थ-विश्लेषण के भी।" हमने अपनी कठिनाई बतायी।

एक सेकेंड सोचकर कुछ मुस्कराए, "इतनी-सी बात? अरे भाई, देखो जब कोई प्रेम-पत्र लिखता है और अपनी प्रेयसी की छत पर या खिड़की में से कमरे में फेंकना चाहता है तो उसे कंकड़ पर लपेट देता है ताकि कंकड़ के साथ पत्र अपने लक्ष्य तक जा सके। पत्र के साथ कंकड़ उड़ता-सा लगता है मानो कंकड़ प्रेम-पत्र (कामदेव) रूपी पताका लहराता हुआ अपने लक्ष्य पर जा रहा हो।"

कवि काशी से फिर लौट आया अपने दिल्ली के कॉफी हाऊस में। उसे लगा दिल्ली विश्वविद्यालय, वल्लभ भाई विद्यापीठ, काशी हिंदू विश्वविद्यालय और जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में कितने आचार्य हैं जिनके पास अब अर्थ-विश्लेषण के लिए जाने पर अर्थ का खुलासा होगा। वह नया-नया अहमदाबाद से दिल्ली प्राध्यापकी की तलाश में आया है। क्यों नहीं विश्वविद्यालय की शिक्षा अब आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से सच्चे सरस्वती-साधक पैदा करती! क्यों छात्र और अध्यापक के बीच अर्थ लगाने की जिज्ञासा और अर्जित शक्ति कम होती रही है! तब विश्वनाथजी प्राध्यापक थे, जिनमें पढ़ाने की अद्‍भुत तृप्ति थी। सारी पारिवारिक और सांसारिक कठिनाइयों और समस्याओं के बीच समाधिस्थ होकर चटाई पर बैठे हुए हैं। आगे कोई पोथी खुली हुई है, और वे उसकी अर्थ-मीमांसा में डूबे हुए हैं।

उस दिन कवि अहमदाबाद के अस्पताल में पत्नी को छोड़कर घर आया था। उसने पटेलानी को उसी दिन नजदीक से देखा था: "मास्टर, तुम इस बच्ची को हमारे पास छोड़ दो, हम इसे प्यार से रखेगा।"

मैं थोड़ा निश्चित होकर अस्पताल की तैयारी करने लगा। बच्ची को लेने गया तो देखा—पटेल-पटेलानी बच्ची को गोदी में लेकर नाच रहे हैं।

कॉफी हाऊस की टेबल पर बैरा कॉफी रख गया। बड़ौदा से लौट आया कवि अपने वर्तमान में। क्यों आज की शिक्षा में अध्यापक और छात्र की आंखों में पटेलानी की आंखों-सी निश्छलता नहीं है? क्यों एक निकट रहने वाला प्राध्यापक भी दूसरे प्राध्यापक को छलता है? क्यों इस पेशे में मानवीय सरोकार नहीं रह गया है? आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी याद आए।

बनारस में फाकेमस्ती के दिन थे। विडंबना यह थी कि हम मन से चाहते थे कि कोई-न-कोई अतिथि यहां आता रहे किंतु हमारी व्यावहारिक कठिनाई यह थी कि कोई आ जाएगा तो हम उसका सत्कार कैसे करेंगे? मन का और व्यवहार का द्वंद्व हमें भीतर-ही-भीतर तोड़ता रहता था।

एक दिन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से रचनाओं के लौटने की बात कही तो उन्होंने समझाया: "देखो तुम पान नहीं खाते हो, सिगरेट नहीं पीते हो यानी तुम्हें कोई खर्चीली आदत नहीं है। इसलिए तुम कुछ पैसे लगातार डाकखर्च के रूप में इस्तेमाल करो। लगातार रचनाएं भेजते रहो। तुम अच्छा लिखते हो, छपेंगी ही।" बल्कि उन्होंने कुछ कविताएं कुछ पत्रिकाओं को अपने पत्र के साथ भेजीं भी किंतु वे फिर भी नहीं छपीं। क्या आज प्रोफेसर और रीडर में शिक्षा क्षेत्र में ऐसे आचार्य हैं जो लगातार रचना-प्रक्रिया में कवि का हाथ बंटा रहे हैं? क्यों नहीं बन रहा है शिक्षा-जगत् में मानवीय सरोकार का रचनाधर्मी नाता?

बेकारी में तब कवि-सम्मेलन ही सहारा थे। शमशेर भी तब बनारस में थे, वे भी साथ थे। एक बार मच्छरों के बीच मेरे घर में नागार्जुन ने भी एक रात बिताई थी, और मेरी हीनता को दूर करते हुए महाकुंभ पर अपनी प्राणवान् कविता सुनाई थी। नागार्जुन उस दिन अतिथि से घर-भर के अभिभावक बन गए थे। शमशेर के बारे में इतना ही जानता था कि बुद्धिवादी मानी जाने वाली प्रयोगवादी कविता (और नई कविता) के प्रमुख कवि हैं। उनकी कविताओं की दुरुहता भी उनके अभावुक होने की गवाही देती है, किंतु यहां मार्मिक लोकगीत सुनकर तो शमशेर का एक दूसरा ही रूप सामने आ रहा था। चश्मे के भीतर रससिक्त आंखों से आंसू झरते जा रहे थे, वे उन्हें पोंछ भी नहीं रहे थे। यह आज के शिक्षा-जगत् में, बुद्धिवादी प्राध्यापक में, रससिक्त मार्मिक समझदारी तो नजर नहीं आती! क्यों गिर रहा है शिक्षा जगत् का मानवीय स्तर!!

"दिसंबर या जनवरी का महीना रहा होगा। मैं काशी के कई कवियों के साथ इलाहाबाद के एक कवि-सम्मेलन में गया। ठीक बारह बजे निराला आए। कंबल ओढ़े हुए थे। उनसे 'राम की शक्ति-पूजा' पढ़ने का निवेदन किया गया। वे खड़े होकर कविता पढ़ने लगे। कविता पढ़ने की प्रक्रिया में उनका कंबल बार-बार नीचे सरक आता था। झल्लाकर निरालाजी ने वह कंबल उठाकर दूर फेंक दिया। घुटने तक की धोती पहने निराला जी, पठार-जैसा उनका नगा शरीर और 'राम की शक्ति-पूजा' का पाठ।" मैं जब-जब नई नौकरी के इटरव्यू में बैठा और जोड़-तोड़ न करने के नाते नाकामयाब हुआ, मुझे पठार-सी निराला की काया याद आई। आज शिक्षा को व्यापार बनाने वालों से मात खाने के बाद जब दिल्ली आया हूं तो मन में निरालाजी के ओज और करुणा को एक साथ देख रहा हूं। न प्राध्यापक में निराला का ओज है, न शिक्षाविदों में करुणा का बोध। बस, शिक्षा-जगत् में व्यापार है—घटिया, ओछा, तिलमिला देने वाला।

दानापुर, पटना में मेरे मित्र हैं रामचंद्र 'मधुप'। वह मेरी नौकरी के लिए चिंतित थे और यह भी जानते थे कि सारी योग्यता—एम० ए०, पी-एच० डी०, अध्यापकी का अनुभव—होते हुए भी एक बड़ी योग्यता मुझमें नहीं है—वह यह कि मैं बिहारी नहीं हूं।…

"बड़ौदा में साक्षात्कार में बैठने वाले सभी लोग मेरे लिए अपरिचित थे। कुलपति हंसा मेहता, रजिस्ट्रार बी० के० ज्युत्शी, डीन श्री कंटक (अंग्रेजी के प्रोफेसर) और श्री उदयसिंह भटनागर (हिंदी विभागाध्यक्ष)। मेरा सौभाग्य कि दिल्ली का कोई महारथी नहीं था। इन लोगों ने खुलकर बातें कीं और मुझे इटरव्यू के बाद ही ज्ञात हो गया कि मैं ले लिया गया हूं।"

बड़ौदा में नौकरी मिली तो मेरी जीवन-यात्रा में एक निश्चितता आई और यह सोचकर आंखें भर आईं कि अपने हिंदी परिवेश ने मुझे अपने भीतर से निकाल फेंका और एक निपट अनजाने गुजराती परिवेश ने प्यार से अपना लिया। अनजाने परिवेश का खुलापन, उत्सवधर्मिता और शृंगार-प्रियता मेरे उत्तर भारतीय संस्कार के लिए चौंकाऊ था। मैं सोचता रहा, उत्तर भारतीय संस्कार से गुजरात के संस्कार में क्या टकरा रहा है? शायद टकराहट के बाद ही बदलते हुए भारतीय संस्कार की नींव मेरे कवि में पड़ी थी। क्या यह भारतीय संस्कार आज की शिक्षा में कहीं बद्धमूल है?

गुलाम मुहम्मद शेख और सुरेश जोशी, कला और कविता के दो नाम याद आते हैं। वे मेरे शिष्य थे। शेख ने मेरे उपन्यास 'पानी के प्राचीर' और कविता-संग्रह 'बैरंग बेनाम चिट्ठियां' की कवर डिजाइन बनाई। प्रोबेशन पीरियड मेरा छह महीने के लिए बढ़ा दिया गया था, यानी मेरी नौकरी के कनफर्मेशन में अड़गा लगा दिया गया था। "मैं, प्रिंसिपल, डीन और रजिस्ट्रार से मिला भी। पर मिला सिर्फ अपमान। इच्छा होती थी, यह नौकरी

उन लोगों के मुंह पर मारकर कहीं चला जाऊ। किंतु जिस नौकरी के लिए इतने-इतने कष्ट झेले, उसे पाया भी तो हजार मील दूरी पर, उसे छोड़ पाना इतना आसान है क्या ?"

सेंट जेवियर्स कॉलेज, अहमदाबाद में गुजरात विश्वविद्यालय का हिंदी में अनुस्नातक केंद्र खुल रहा है। "बड़ौदा ने मुझे पहली नौकरी दी, यहां के प्राकृतिक परिवेश ने एक आत्मीयता दी, समाज ने जीवन जीने के लिए कुछ नए तौर-तरीके दिए, एक नई संस्कृति से पहचान कराकर मेरे मानसिक क्षितिज का विस्तार किया।" फिर भी अहमदाबाद से दिल्ली के इस कॉफी हाऊस में आत्मीय साहचर्य का रस मुझे नहीं मिला। मानसिक-क्षितिज का नक्शा फैलाकर बनारस से बड़ौदा, बड़ौदा से अहमदाबाद और अहमदाबाद से दिल्ली की दूरी नापता जरूर रहा हूं। हिंदी विभाग में हम तीन लोग थे— विश्वनाथ शुक्ल, हरिहर शुक्ल और मैं। आज विभाग में मेरा स्थान खाली है। "मेरा दिमाग और मित्र अध्यापकों-सा अनेक प्रबंधात्मक प्रशासनिक मुद्दों पर सक्रिय नहीं हो पाता है।" मेरे गुजराती शिष्यों में रघुवीर चौधरी आज प्राध्यापक हैं हिंदी के। वे उद्दंड या अशालीन कतई नहीं थे। वे सत्य को छिपाने की कला नहीं जानते थे। उसे बहुत बेलाग ढंग से व्यक्त कर देते थे। गलत बात (जो उन्हें गलत लगती थी) को सहन नहीं कर पाते थे, उसका खुला प्रतिवाद कर देते थे। अरविंद जोशी, नवनीत गोस्वामी, करुणेश शुक्ल और अवधनारायण त्रिपाठी की आत्मीयता मुझे मिली। पर आशा, चिंता और क्रोध की एक संश्लिष्ट अनुभूति ने मुझे यहां कितना बेचैन कर दिया, इस पर अब क्या कहूं !! हां, हिंदी-संस्कार के बाहर मुझे यशवंत शुक्ल, झीना भाई, स्नेह रश्मि, एस०आर० भट्ट और उमाशंकर जोशी का सान्निध्य मिला। यही मेरी गुजराती भाषा के साहित्यिक और शैक्षिक क्षेत्र की उपलब्धि है।

गुजरात यूनिवर्सिटी की उत्तर-पुस्तकें, मॉडरेशन का ऊबाऊ और नीरस कार्य, और नवसारी का समाज और कभी-कभी की विचित्र घटनाएं—यह शैक्षिक क्षेत्र का एक कोना है। इस कोने में शिक्षा क्षेत्र में लगातार बड़े होते नेता—चिम्मन भाई पटेल ही बहुत सक्रिय रहे। मैं शिक्षा की इस राजनीति का आज तक पिछड़ा आदमी हूं। कॉनवेंट की शिक्षा भी मुझे रास नहीं आई। कानवेंटी बच्चे पूरे देश की मां (भारत माता) को, उसकी धूल धूसरित संतानों को, उसकी भाषा और परंपराओं को, उसके पर्वों और त्योहारों को गाली देते हैं। मैंने इस शिक्षा का वहां विरोध किया।

१९६० में मेरा शोध-प्रबंध आया था। १९६१ में 'पानी के प्राचीर' उपन्यास छपकर आया। कृष्णचंद्र बेरी का पत्र आया। चरनीशेव जी इस उपन्यास का अनुवाद रूसी में करने जा रहे हैं। अज्ञेय और धर्मवीर भारती के बाद प्रभाकर माचवे ने आगे बढ़कर मेरी कृति का स्वागत किया। कौन कृति तगड़ी है, कौन कृति कमजोर, यह (शिक्षा की तरह) साहित्य की राजनीति का एक खेल है। मैं ऐसे किसी अखाड़े में कभी तगड़ा खिलाड़ी नहीं रहा।

"हमारे मोहल्ले के पास एक डॉक्टर थे—बाबू भाई। उनकी दवा हमें यानी मेरी पत्नी सरस्वती, बेटे हेमंत, बेटी अंजू, बेटे शशांक और विवेक को—रास आती थी और उनका मस्त व्यवहार डॉक्टर का नहीं, आदमी का व्यवहार लगता था।" बनारस में 'दर्द को हंसी बनाकर जीने वाले मित्र ठाकुरप्रसाद सिंह' में कभी वही मानवीय व्यवहार देखा था। गुजरात में शिक्षा क्षेत्र के अमानवीय चक्रव्यूह को तोड़कर मैं अब दिल्ली आ गया हूं। पत्नी अभी वहीं थीं। वे डॉक्टर को पैसे देने लगीं तो वे बोले, "सरस्वती बेन, मैं जाने वालों से पैसे नहीं लिया करता।" यह बात उन्होंने कही तो थी अपनी सहज मस्ती में किंतु उनकी आंखें भर आई थीं।

करुणा और असंतोष से भरा मेरा गांव पीछे छूट गया था। 'जहां मैं खड़ा हूं' (मेरी आत्मकथा के पहले खंड) में गंवई संस्कार की कहानी है। फिर, शिक्षा और संघर्ष के बीच लिखी काशी की कथा 'रोशनी की पगडंडियां' (दूसरे खंड) में है। दिल्ली आने तक जो उखाड़-पछाड़ गुजरात के शिक्षा क्षेत्र में मुझे मिली उसकी मर्मबेधी कहानी लिखी तीसरे खंड 'टूटते-बनते दिन' में। वहां मैं शिक्षा के बाजार में गिरा। मेरा कवि क्रोध और करुणा का कवि है। निराला के टूटते-बनते दिनों से वह सम्वाद करता रहा है।

यहां कॉफी हाऊस में मेरी गहरी पीड़ा का कोई साक्षी नहीं है। गाड़ी उस दिन सरकी और आठ वर्षों की निवास-भूमि गुजरात से मैं एक दर्द-भरी विदाई लेकर दिल्ली आया हूं। रास्ते में उमाशंकर जोशी की बात याद आ रही थी : "जो हुआ वह बहुत बुरा हुआ और हमें उसकी गहरी पीड़ा है लेकिन एक दृष्टि से अच्छा भी हुआ। आपकी साहित्य-साधना के लिए सही दिल्ली ही है। जाइए और इस भोगे हुए दर्द का सर्जनात्मक उपयोग कीजिए।" वही करता रहूं। बस।

'सहचर है समय' : **रामदरश मिश्र**, प्रकाशक : किताबघर, २४, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२, मूल्य : २५० रुपये।

हिंदी उपन्यास की परंपरा का एक नया अध्याय

□ **ज्योतिष जोशी**

आजकल हिंदी में जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनमें सामान्य ढर्रे का परिपालन ज्यादा हो रहा है—विविधता या किसी नूतन उन्मेष की कोई पहलकदमी नहीं दिखायी देती। ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर लिखे जाने वाले ऐतिहासिक उपन्यास तो आज लगभग बंद हो चुके हैं, और जो लिखे जा रहे हैं; उनमें से अधिकांश नाम गिनाने से अधिक महत्व नहीं रखते। कहना न होगा कि ऐसे समय में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गए उपन्यासों का बहुत महत्व है और उसमें भी वर्तमान जीवन संदर्भों को मिलाकर सजीव चित्रांकन करना तो और भी प्रशंसनीय है।

आलोच्य उपन्यास पाहीघर जो कमलाकांत त्रिपाठी का नया उपन्यास है, इस दिशा में रिक्ति की तो भरपाई करता ही है; एक नई राह का प्रवर्त्तन भी करता है। यह उपन्यास अठारह सौ सत्तावन के सिपाही विद्रोह पर आधारित है। लेकिन इस विद्रोह को उपन्यासकार ने समग्र राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में न देख कर मात्र तत्कालीन अवध का क्षेत्र लिया है। इस विद्रोह से तत्कालीन अवध की मध्ययुगीन संरचना पूरी तरह तबाह हो गई थी। और बाद में वहां जो प्रशासन और फौजी ताकत बनी उसका आतंक किसी न किसी रूप में आज भी अवध में बना हुआ है। लेकिन इसी वजह से इस उपन्यास को किसी संकीर्ण दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। उपन्यास में अवध का तद्युगीन जनजीवन साकार हो उठा है और तत्कालीन प्रशासनिक कठोरता भी उजागर हुई है।

'पाहीघर' में मुख्यकथा गुरुदत्त दुबे के परिवार के स्थानांतरण से शुरू होती है जो दो पीढ़ियों तक चलती है। इस क्रम में तत्कालीन अवध की जमींदारी और सामंती जीवन का एक-एक तार सामने आता-जाता है। इस कथा के समानांतर अवध के नवाब वाजिद अली शाह की कथा चलती है जो अंग्रेजों के अवध पर पांव जमाने और सिपाही विद्रोह की स्थिति तक आती है। कथा बहुत तेजी के साथ आगे बढ़ती है।

गुरुदत्त दुबे मिरजापुर जिले में विंध्याचल के पास कंतित गांव के रहने वाले थे और वहीं रहकर देवी के मंदिर में पंडा का काम कर अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। नवरात्र के अवसर पर दशरथपुर रियासत के राय कुंजल सिंह जब देवी-दर्शन के लिए यहां आए तो गुरुदत्त दुबे ने उनकी भरपूर आवभगत पूरी की। इस पुरजोर स्वागत का सुपरिणाम यह निकला कि राय बहादुर ने प्रसन्न होकर उन्हें दशरथपुर आकर बसने का आमंत्रण दे डाला और यह भी सलाह दी कि वहां बसौली गांव की उनकी खुदकाश्त जमीन भी वे ले लें और उसे जोतें-बोवें। गुरुदत्त दुबे ने इस प्रस्ताव पर तत्काल कोई निर्णय नहीं दिया। उन्होंने प्रस्ताव को अपने परिवार के सामने रखा तो बड़े बेटे शंकर ने उसे स्वीकार लेने का निर्णय दिया। अंत में दुबे सपरिवार बसौली आकर बस गए। उनका ठाट सामंती हो गया। खेती अच्छी होने लगी। राय बहादुर उन पर प्रसन्न होते गए। आसपास के छोटी जातियों के लोग दिन-भर सबकी सेवा टहल करते और बदले में उन्हें कुछ सेर अनाज मिल जाता।

शंकर की उम्र अधेड़-की हो गई थी इसलिए उनकी शादी न हो सकी। दुर्बली की शादी जल्दी हो गई। गवना के समय का संयोग ऐसा विपरीत हुआ कि इधर बहू का पांव पड़ा और उधर श्वसुर गुरुदत्त दुबे हैजे का शिकार हो गए। शंकर की मुस्तैद सक्रियता से गृहस्थी पर कोई अंतर नहीं आया। राय बहादुर ने उन्हें जो मालगुजार का ओहदा दिया था उसे वे बखूबी निबाहते रहे। लेकिन इस बीच वे अपने कारिंदे जैकरन की बिटिया रुप्पी के करीब आए। मिलना-जुलना जारी रहा। बात हवा बन गई। इस बात को बसौली के सारे लोग जान गए। जैकरन भी जाना, पर मजबूरी के कारण वह अनसुना किए रहा। रुप्पी से शंकर के संबंधों के कारण जैकरन की जिंदगी में कोई कमी न रही। उसके पास शंकर की दी हुई दो बीघा जमीन भी थी। और ऊपर से और भी खर्च मिलते थे। दुर्बली बड़े भाई शंकर की इस स्थिति से जलता भी था और तिलमिलाता भी। उसे इस जीवन-व्यवस्था से घृणा थी। लेकिन इसे वह व्यक्त न करता था। उससे घर का काम भी न होता था। मौका पाकर वह घर से भागा और सुल्तानपुर रिसाले की फौज में बहाल हो गया।

अवध के नवाब वाजिदअली शाह मसनद पर बैठते ही आवाम की हालत सुधारने के लिए बेताब हो उठे। उन्हें अपने इलाके के रियाया की बदहाली पर तरस आता था। उन्होंने आवाम की हालत सुधारने की गरज से सबसे पहले फौजी ताकत बढ़ाने का काम सोचा, जिससे तालुकेदारों और जमींदारों की मनमानी को रोका जा सके। लेकिन ईस्ट इंडिया कंपनी के

कलकत्ता स्थित बड़े लाट का खरीता आ गया जिसमें उसने फौजी ताकत न बढ़ाने की चेतावनी दी थी। बादशाह ने मजबूरी में इस मंसूबे को रोका। और आवाम के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को भूलकर अय्याशी में डूब गए। उधर स्लीमैन नामक अंग्रेज ऑफिसर ने अवध का दौरा कर कंपनी हुकूमत को यह सुझाव दे डाला कि अवध की हालत खराब है, कंपनी उसे अपने कब्जे में ले ले। हुआ भी यही। बादशाह को हटाकर अवध का प्रशासन कंपनी ने संभाल लिया। इधर कारतूस में गाय और सूअर की चर्बी के मिलावट की अफवाह से सिपाहियों ने विद्रोह किया। कंपनी ने जमींदारी और तालुकेदारी को नयी शक्ल दी। लगान बढ़ायी गयी शंकर की मालगुजार की पदवी खत्म हुई। दुर्बली विद्रोह में मारा गया और रुप्पी गर्भपात के बाद उपचार के अभाव में चल बसी। शंकर ने जैकरन को उसकी जमीन से बेदखल कर दिया। इस कारण जैकरन ने जहर खाकर आत्महत्या कर ली। इस तरह 'पाहीघर' का आरंभिक मजमा समय की आंधी में तबाह हो गया।

इस उपन्यास में मुख्य कथा यही है, जिसका सार-संक्षेप यहां दिया जाना जरूरी था ताकि उपन्यास की आंतरिक गुत्थियों को समझना आसान हो सके।

'पाहीघर' की सामंती व्यवस्था शंकर संभलाते थे। वे दशरथपुर रियासत के मालगुजार के ओहदे पर काबिज थे। उनका रवैया रैयतों के खिलाफ नहीं था, लेकिन रियासत की जवाबदेही के कारण उनमें पर्याप्त कठोरता भी थी। दशरथपुर रियासत में रायकुंजल सिंह की तूती बोलती थी तो बसौली का हलका शंकर के रौब से कांपता था। इसी रौब का नतीजा था कि उनके खेतों में मजदूर जी जान से परिश्रम करते थे और द्वार पर कारिंदों की पूरी टोली थी। उनके द्वारा सताए गए लोगों में जैकरन एक था। वर्षों से जैकरन जिस जमीन को जोतता आया था, शंकर ने छीन लिया। इसी जमीन की आड़ में वे उसकी बेटी रुप्पी से खेलते रहे। मजबूर और लाचार जैकरन यह सब अपनी आंखों से देखता रहा। इसी भय के कारण वह रुप्पी के श्वसुर जगेस्सर से कह चुका था कि रुप्पी अब ससुराल नहीं जाएगी। लेकिन जब वह गर्भवती हुई तो जैकरन पर विपत्ति पड़ गई। एक विधवा ब्राह्मणी गर्भपात की यंत्रणादायक तरकीबों का सहारा लेकर भी उसे जिंदा न रख सकी। रुप्पी का मरना और शंकर द्वारा खेत को हथियाया जाना साथ-साथ होता है। बेपनाह शोषण कारने और इज्जत से खेलने वाले एक क्रूर मालगुजार चरित्र के रूप में शंकर अपनी पूरी क्रूरता से सामने आते हैं। अठारहवीं शताब्दी के मध्यकाल का सामंती संस्कार शंकर में कूट-कूटकर भरा है। यह वह काल था जिसमें जातिगत आधारों पर भी शोषण होता था। गुरुदत्त दुबे का चरित्र जहां पंडा का काम कर गुजारा करने वाले एक संतोषी ब्राह्मण के रूप में उभरा है, वहीं दशरथपुर रियासत के राय कुंजल सिंह का चरित्र एक तालुकेदार के रूप में सामने आया है, जिसमें शोषण और क्रूरता की गहरी पैठ है। वे सारा काम कूटनीतिक समझ से करते हैं। शत्रुता और मित्रता के पीछे स्वार्थ की यही प्रवृत्ति काम करती है। इस प्रकार रायकुंजल सिंह को तत्कालीन तालुकदारों का प्रतिनिधि चरित्र मान लेना गलत न होगा।

दुर्बली एक बहादुर फौजी है। उसे देश की गुलामी के प्रति अंग्रेजों से संघर्ष करना है। वह आजाद देश में रहना चाहता है। लेकिन उसमें मानवीयता है। अपनी इसी मानवीयता के कारण वह मार्टिन बर्टन के परिवार को चौकीदारों के हमले से बचाता है, जिसमें बर्टन की बेटी क्लारा भी होती है। भवानी प्रसाद और सुमेर सिंह दुर्बली के साथी हैं, जो हर मौके पर उसका साथ देते हैं। कहना न होगा कि इसी बीच-बचाव में दुर्बली मारा भी जाता है।

अंग्रेज चरित्रों में स्लीमैन, डलहौजी, मार्टिन बर्टन और हेनरी आदि कूटनीतिज्ञ के रूप में उभरकर सामने आते हैं। उनमें मानवीयता की राई-रत्ती भी शेष नहीं है। उन्हें किसी भी कीमत पर शासन चाहिए। जनता की तबाही से उनका क्या वास्ता। अवध को नवाब से हथियाने के लिए जितनी तिकड़में जरूरी थीं, सबने अजमाया और अंततः अपने मंसूबे पर कामयाब भी हुए।

बेगम हजरत महल, नवाब वाजिदअली शाह, मौलवी अहमदुल्ला और लालाप्रताप सिंह का चरित्र देशभक्त के रूप में खूब निखरा है। वाजिद ने तो अवध के आवाम के लिए बहुत काम किया। पर जब उन कामों पर अमल न हुआ तो अय्याशी में डूबना उन्हें गवारा लग गया। और देखते-देखते अवध का खुशगवार इलाका अंग्रेजों की गिरफ्त में आ गया। नवाब का चरित्र खूबियों और खामियों का एक जखीरा बन गया है। वक्त को देखकर चलने की अगर तत्परता उनमें होती तो संभव था, अवध का यह हश्र न होता।

जैकरन आम भारतीय किसान का प्रतिनिधि चरित्र है, जो कई मोर्चों पर जूझता है और आखिरकार दम तोड़ देता है। वह वर्षों से शंकर की जमीन को जोतता-बोता है और उनका घरेलू काम संभालता है। बदले में अपनी विवाहित बेटी रुप्पी के साथ नाजायज संबंध भी देखता है, पर विवशतावश जबान भी नहीं खोलता। लेकिन गर्भवती होने के बाद रुप्पी के मरते ही उसका सपना टूट जाता है। शंकर द्वारा जमीन से बेदखल करते ही वह अनशन पर बैठता है और जहर खाकर मर जाता है। दूसरे ही दिन दुर्बली की मृत्यु से बसौली के लोगों में यह विश्वास बैठ जाता है कि जैकरन प्रेत हो गया है और प्रेत बनकर ही उसने दुर्बली को मारा है और तब तक शंकर मालगुजार के ओहदे से हटा दिए जाते हैं। उनकी सारी राजसी व्यवस्था ध्वस्त हो जाती है।

जैकरन अठारहवीं शताब्दी का आम भारतीय (खासकर अवधी) किसान है। उसकी तंगहाली से तत्कालीन अवध के किसानों की तंगहाली का अंदाजा लगाया जा सकता है। मालगुजार शंकर और तालुकेदार कुंजल सिंह जैसे शोषकों के माध्यम से तत्कालीन मालगुजारों और तालुकेदारों की मनमानी को परखा जा सकता है। उपन्यासकार ने इतनी सफाई से कथा को संयोजित कर हालात की सम्वेदना से संपृक्त कर दिया है कि पूरा परिदृश्य सामने उपस्थित हो जाता है। शकर और राय कुंजल सिंह आज भी हमारे समाज में मौजूद हैं। जैकरन की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ है। महज स्थितियां बदली हैं। वक्त के उलट फेर से हालत वही है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि उस वक्त गुलामी थी और आज हम तथाकथित

सुराज में जी रहे हैं। उपन्यास में लगभग सारे मुख्य चरित्र खुलकर सामने आते हैं। उन्हें समझने में कोई दिक्कत नहीं आती।

'पाहीघर' परिवेश के स्तर पर उत्कृष्ट उपन्यास बन पड़ा है। अठारह सौ सत्तावन का समूचा अवध अपनी ऐतिहासिक और जन-जीवन की सांस्कृतिक छवियों के साथ इस उपन्यास में उपस्थित हो गया है। इस उपस्थिति में ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करने वालों को निराशा हो सकती है, क्योंकि तत्कालीन समाज-व्यवस्था की जटिलता को पकड़ने में लेखक ने कुछ स्थलों पर इसकी उपेक्षा भी की है। स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है—"लिपिबद्ध और शोधजन्य इतिहास से इतर इसमें जो कुछ है वह उस कथा भूमि के आत्मीय जगत से चुनकर जुटाया गया है जिसकी मिट्टी से लेखक का कायिक और मानसिक संसार बना है। अत: इसकी प्रामाणिकता इतिहास की मोहताज न होकर लेखक की निजी पहचान से जुड़ी है। जो जाहिर है, उसके लिए इतिहास से बढ़कर है।"

इस प्रकार, हम पाते हैं कि उपन्यासकार ने इस उपन्यास को ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा तत्कालीन समाज-व्यवस्था और जन-जीवन से खुद की संपृक्ति को जोड़ा है। इसलिए यह उपन्यास अठारहवीं सदी के अवध के जन-जीवन का दस्तावेज ज्यादा बना है ऐतिहासिक घटनाओं की फेहरिश्त कम। और शायद इसी वजह से इस उपन्यास में सामाजिक सरोकार की समग्र सम्वेदना भी है।

'पाहीघर' की संरचना आंचलिक है जिसमें अवध की जातीय परंपरा का उभार अपने पूरे तेवर में हुआ है। उपन्यास में पात्रों के बीच एक खास किस्म का द्वंद्वात्मक वितान है। ये पात्र अपने तमाम अंतर्विरोधों और जटिलताओं के साथ सामने आकर तत्कालीन समाज-व्यवस्था, जन-जीवन, प्रशासनिक व्यवस्था और संस्कृति का दृश्य सजीव उपस्थित करते हैं।

प्रेमचंद से जिस औपन्यासिक परंपरा का सूत्रपात हिंदी में हुआ, कहना चाहिए कि उसी परंपरा को कमलाकांत त्रिपाठी ने 'पाहीघर' से आगे बढ़ाया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पाहीघर', 'गोदान', 'मैला आंचल', 'बूंद और समुद्र' तथा 'राग दरबारी' की परंपरा का नूतन उन्मेष है। वर्षों बाद ग्रामीण भारत की विद्रूपता को उसी तेवर में उपस्थित करने का सफल प्रयास कमलाकांत त्रिपाठी ने किया है।

वैचारिक स्तर की खोज करने में इस उपन्यास में दिक्कतें आती हैं। उपन्यासकार ने ऐसा कोई मुख्य पात्र नहीं बनाया है जिसके वक्तव्यों के आधार पर 'पाहीघर' में विचारधारा की भूमिका की पड़ताल की जा सके। लेकिन इतना जरूर है कि 'पाहीघर' में आम जनता की वकालत हुई है। उसके दुख-दर्द की दुहाई दी गई है। और समूचे उपन्यास में सामंती और जमींदारी व्यवस्था को कोसा गया है। इस प्रकार आवाम की खुशहाली के लिए संघर्ष करता यह उपन्यास 'स्वातंत्र्योत्तर भारत' की हिंदी उपन्यासों की परंपरा में एक अत्यंत प्रासंगिक और अनूठा उपन्यास बन पड़ा है।

इस उपन्यास में सही मायने में, गांव की माटी की सोंधी गंध मिलती है। गांव की संस्कृति, गांव के लोगों और गांव की भाषा-परंपरा से लेखक गहरे स्तर पर जुड़ा है। उपन्यासकार की भाषा, लोक परंपरा और लोक-संस्कृति का एक ही उदाहरण यहां काफी है—

"संयोग की बात। उसी साल दुर्बली के लिए भी देखुआर आ गए। भीलमपुर के पास के एक गांव में उसकी भी शादी तय हो गई। इतने दिन बाद घर में कोई शुभ काम हो रहा था, किसी का उत्साह ही धरा नहीं करता था। दूर-दूर के रिश्ते की बहन-बेटियां आन कर आईं। काम-काज संभालने के लिए कंतित और भीलमपुर से कई औरतें आईं। कई दिन पहले से ही घर में भीड़-भड़क्का हो गया। रात में औरतें खाने-पीने के बाद आंगन मे कथरी बिछाकर गीत गाने बैठतीं। पहले लड़की की शादी का गीत उठाया जाता—

'पूरब पच्छिम एक सागर बाबा, पुरइन हालर देइ।
तेहि सगरे दुलहे नहावैं, त पूछहि दुलहिना एक बात···।'

अंधेरे में आम, महुआ और जामुन के पेड़ हवा में सरसराते। उड़ती हुई सूखी पत्तियां खड़कतीं। आम के बौर की महक चारों ओर भिनती। थोड़ी देर बाद पेड़ों के उस पार से चांद धीरे-धीरे ऊपर उठता। कुएं की जगत् पर और झाड़े-बुहारे द्वार पर चांदनी छिटक जाती, जिस पर पेड़ों के साये धीरे-धीरे हिलते। और औरतें लड़के की शादी का गीत उठा देतीं—

'राम-लखन मिलि घोड़वा पलानैं, कि बन कऽ अहेरेहि जांइ।
जाइके उतरे जनक के दुअरवा,
सिय जी रखावहिं फुलवारी।
··· ··· ··· ···
तब चलबै हम साथ तुम्हारी।'

('पाहीघर', पृ० (२२-२३)

कहना न होगा कि इस एक ही प्रसंग के उद्धरण से बात सिद्ध होती है कि 'पाहीघर' में अवध का जन-जीवन अपनी ठेठ भाषा, लोक-संस्कृति, लोक-परंपरा और लोक-चेतना की अपनी पूरी समृद्धि के साथ पाठकों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। इस तरह के अनगिनत प्रसंग उस उपन्यास में हैं। जो सोंधी मिट्टी की गंध से पाठकों को सपृक्त करके उसे गांव की हृद में दाखिल कर देते हैं।

उपन्यास की भाषा सरल हिंदी है जिसमें अवधी शब्दों की ठेठ परंपरा का निर्वाह हुआ है। लेकिन हिंदी शक्ल कहीं भी बिगड़ी नहीं है। औपन्यासिक शिल्प की सरचना के स्तर पर इस उपन्यास में यथार्थ का बेबाकी से चित्रण हुआ है। शिल्प में वास्तुकला की कसावट है। कथा में निरंतरता है और ज्वलंत सवालों का जवाब खोजने की तत्परता है। उपन्यास में तत्कालीन हिंदू-मुस्लिम एकता की जो आदर्शात्मक उपस्थिति है, वह आज भी अनुकरणीय है।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि कमलाकांत त्रिपाठी ने 'पाहीघर' की एक पारिवारिक कथा को बसौली गांव और उससे भी आगे पूरे उत्तर-भारत की तत्कालीन स्थिति का सजीव दृश्य उपस्थित कर हिंदी उपन्यासों की यथार्थवादी परंपरा में एक नया अध्याय जोड़ा है।

'पाहीघर' : कमलाकांत त्रिपाठी, प्रकाशक : कोर्णाक पब्लिशर्स प्रा० लि०, ए-१४६, मेन विकास मार्ग, दिल्ली-११००९२। मूल्य : १०० रु०।

इस अंक के रचनाकार :

१. श्री अशोक वाजपेयी, डी- ८, ७४ बैंगलो, भोपाल
२. श्री विष्णु खरे, संपादक, नवभारत टाइम्स, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-१.
३. श्री के.जी. वर्मा, बी-३, टीचर्स फ्लैट्स, हंसराज कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली- ११०००७
४. श्री मोहन कृष्ण बोहरा, प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय, सांभर, राजस्थान-३०३६०४
५. श्री सुधीश पचौरी, बी-१/१७, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-१, दिल्ली- ११००६१
६. श्री कृष्ण बलदेव वैद, १६५२-बी-१, वसंत कुंज, नई दिल्ली-११००३०
७. सुश्री उषा महाजन, ८१४६, सैक्टर-बी-ग्यारह, नेल्सन मण्डेला रोड, वसंत कुंज, नई दिल्ली- ११००३०
८. श्री जयनन्दन, पोस्ट बॉक्स नं० -२४६, जमशेदपुर-८३१००१
९. सुश्री ज्योत्स्ना मिलन, ३/२ प्रोफेसर कॉलोनी, विद्या विहार, भोपाल (म.प्र.) ४६२००२
१०. श्री गुलशन राय मोंगा, जी -८/१०, मालवीय नगर, नई दिल्ली- ११००१७
११. सुश्री क्षमा शर्मा, बी-१/१७, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-१, दिल्ली- ११००६१
१२. सुश्री चन्द्रकान्ता, बी-७६६, पालम विहार, गुड़गांव-१२२०१७ (हरियाणा)
१३. श्री इबोहिल सिंह काङ्. जम, हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, मणिपुर- ७९५००३
१४. श्री इन्दुप्रकाश कानूनगो, ई-१६३/२, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल-४६२००२
१५. श्री दानिश, सी- २८/१२० ए, तेलियाबाग, वाराणसी, उ० प्र०
१६. श्री जमाल हसन, पन्ना निवास, लोहारपुर, जोधपुर, राजस्थान- ३४२००२
१७. नोङ्.थोम्बम कुंजमोहन सिंह, द्वारा श्री इबोहिल सिंह काङ्.जम, हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, मणिपुर-७९५००२
१८. सुश्री चन्द्रकला त्रिपाठी, ८, शिक्षक आवास, त्यागराज कॉलोनी, बी.एच.यू., वाराणसी-५
१९. श्री महेश आलोक, २३५, पेरियार छात्रावास, जे.एन.यू., नई दिल्ली- ११००६७
२०. श्री राजेन्द्र उपाध्याय, सहायक संपादक, प्रकाशन विभाग, (भारत सरकार), पटियाला हाऊस, नई दिल्ली—९९०००९
२१. श्री मानबहादुर सिंह, बरवारीपुर, कादीपुर, सुल्तानपुर (उ० प्र०)
२२. सुश्री सरिता सूद, २४/१३, रामनगर, मण्डी, (हि. प्र.)
२३. श्री संजय चौहान, सी/६६ बी, कालकाजी, नई दिल्ली-११००१९
२४. नोङ्.थोम्बस श्रीबीरेन, द्वारा श्री इबोहिल सिंह काङ्.जम, हिंदी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय, कांचीपुर, मणिपुर-७९५००३
२५. श्री शिवकुटी लाल वर्मा, १, चाहचन्द, इलाहाबाद-३
२६. डॉ० तारानन्द वियोगी, केन्द्रीय विद्यालय, जमालपुर, मुंगेर, बिहार
२७. श्री देवशंकर नवीन, २२०, कावेरी, जे.एन.यू., नई दिल्ली-११००६७
२८. श्री केदार कानन, किसुन कुटीर, सुपौल, सहरसा (बिहार)
२९. श्री शिवशंकर श्रीनिवास, लोइना, सरिसवपाही, मधुबनी (बिहार)
३०. श्री क्रांति येवतीकर, द्वारा डॉ० शिवाजी कनाटे, सी/१८, स्टाफ क्वार्टर्स, ई.एस.आई.एस. जनरल हास्पिटल, गोत्री रोड, बड़ोदरा-३९००२१
३१. श्री पंकज सिंह, ३४८१, सैक्टर डी, पॉकेट- III, वसंत कुंज, नई दिल्ली-११००३०
३२. सुश्री राजी सेठ, एम-१६, साकेत, नई दिल्ली-११००१७
३३. श्री प्रभात त्रिपाठी, सी/१२८, सैक्टर-६, राउरकेला, उड़ीसा
३४. श्री विष्णुचन्द्र शर्मा, ई- ११, सादतपुर, डाकघर-गोकुलपुरी, दिल्ली- ११००९४
३५. श्री ज्योतिष जोशी, द्वारा डॉ० मैनेजर पाण्डेय, ५, ट्रांजिट हाऊस, जे.एन.यू., नई दिल्ली- ११००६७